लखनऊ विश्वविद्यालय

अमित

सम्पूर्ण अध्ययन

बी.ए. प्रथम वर्ष

हिन्दी साहित्य

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली (यू० जी० सी०)
एवं
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के
बी० ए० प्रथम वर्ष
के दोनों प्रश्नपत्रों सहित, स्वीकृत पाठ्यक्रम के अनुसार

अमित साहित्यिक हिन्दी

सम्पूर्ण अध्ययन

दीर्घ उत्तरीय, लघु उत्तरीय एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्नों सहित

प्रथम प्रश्न पत्र : मध्य युगीन काव्य

द्वितीय प्रश्न पत्र : हिन्दी नाट्य, एकांकी तथा निबन्ध साहित्य

: लेखिका :

डॉ० भुवनेश्वरी

डॉ० दर्शना निगम

: प्रकाशक :



अमित प्रकाशन

485/12, मोहन मेकिन रोड, डालीगंज लखनऊ फोन : 0522-2741541

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू० जी० सी०)
के मॉडल पाठ्यक्रम पर आधारित
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के
नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार

प्रथम प्रश्न पत्र : मध्ययुगीन काव्य

निर्धारित कवि : कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, भूषण, घनानन्द।

इकाई 1 : अनिवार्य दस लघुत्तरीय प्रश्न। (अंक10 × 2 = 20)

इकाई 2 : कबीरदास, जायसी, सूरदास, तुलसी के निर्धारित काव्यांशों से किन्हीं दो की सन्दर्भ सहित व्याख्या। (2 × 4 = 8)

इकाई 3 : बिहारी, भूषण, घनानन्द के निर्धारित काव्यांशों से किन्हीं दो की सन्दर्भ सहित व्याख्या। (2 × 4 = 8)

इकाई 4 : कबीरदास, जायसी, सूरदास, तुलसीदास पर आधारित आलोचनात्मक प्रश्न। (7 अंक)

इकाई 5 : बिहारी, भूषण, घनानन्द पर आधारित आलोचनात्मक प्रश्न। तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास पर आधारित प्रश्न। (7 अंक)

द्वितीय प्रश्न पत्र : हिन्दी नाट्य, एकांकी तथा निबन्ध साहित्य

इकाई 1 : अनिवार्य दस लघुत्तरीय प्रश्न। (10 × 2 = 20)

इकाई 2 : ध्रुवस्वामिनी तथा निर्धारित एकांकी से व्याख्याएं। (2 × 4 = 8)

इकाई 3 : निर्धारित निबन्धों से व्याख्याएं। (2 × 4 = 8)

इकाई 4 : ध्रुवस्वामिनी एवं निर्धारित एकांकियों एवं एकांकीकारों से सम्बन्धित आलोचनात्मक प्रश्न। (7 अंक)

इकाई 5 : निर्धारित निबन्धों एवं निबन्धकारों से सम्बन्धित आलोचनात्मक प्रश्न। (7 अंक)

प्रकाशक :
अमित प्रकाशन
मूल्य : एक सौ पैंसठ रुपये मात्र
Rs.: 165/- Only

Type Setting & Layout Design :
Astalz Computers
Aminabad, Lko. Ph. 3093957

अनुक्रम



व्याख्या खण्ड

1

कबीरदास

साखी

गुरुदेव कौ अंग

सतगुरु की महिमा अनँत, अँनत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।।१।।

शब्दार्थः अनॅत = अपार, असीम (असीम जिसकी सीमा नहीं है)। उपगार = उपकार। उघाड़िया = उद्घाटित करने वाला। दिखावणहार = दिखलाने वाला।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश हमारी पाठ्य पुस्तक 'मध्य युगीन काव्य संकलन' के कबीरदास जी द्वारा रचित 'साखी' के अर्न्तगत 'गुरुदेव कौ अंग' शीर्षक से उद्धृत किया गया है।

प्रसंग– भारतीय सन्त परम्परा में और विशेषतः निर्गुण सन्तों की परम्परा में गुरु को अत्यन्त महत्व दिया गया है। इस अंग में कबीर ने भी गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि इस संसार में गुरु के समान हितैषी और अपना आत्मीय नहीं है।

व्याख्या– गुरु की अपार महिमा है। उसके द्वारा किये गये उपकारों की कोई सीमा नहीं है। उसने मेरे अनन्त ज्ञान–चक्षु खोल दिये हैं और इस प्रकार मुझे वे निरन्तर परब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले हैं।

टिप्पणी– अज्ञानी जीव की ज्ञान–शक्ति सीमित होती है, पर तत्वज्ञ की यह शक्ति असीम हो जाती है। उसे सभी इन्द्रियों तथा रोम–रोम से–इस प्रकार अनन्त नेत्रों से–उसी परमतत्व का साक्षात्कार होने लगता है। जगत् में प्रत्येक वस्तु पर मन क्षण भर टिकता है और फिर दूसरी ओर चला जाता है। पर परमतत्व का ज्ञान अजस्र तैल–धारावत् होता रहता है। इस प्रकार 'अनन्त' शब्द के ज्ञान के कारण, ज्ञेय तथा ज्ञान की अवधि–तीनों की अनन्तता सूचित होती है। औपनिषदिक तत्व का सुन्दर एवं सरल प्रतिपादन है।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया विसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट।।२।।

शब्दार्थ– अधट्ट = कभी न घटने वाली। बिसाहुणा = खरीदना–बेचना। हट्ट = बाजार।

सन्दर्भ– उपरोक्त साखी के समान।

व्याख्या– गुरु ने ज्ञान रूपी दीपक भक्ति के तेल से भरकर दिया तथा इसमें निधिध्यासन की वृत्ति रूपी अनन्त बत्ती दी। इसी दीपक के प्रकाश में कबीर ने इस संसार

रूपी बाजार से जो कुछ भी लेना–देना था, उसे हमेशा के लिए पूरा कर लिया है। अब तो कबीर को पुनः इस बाजार में आना नहीं है। अर्थात् वह इस योग एवं भक्ति सहित ज्ञान के कारण जन्म–मरण के चक्र से छूट गया है। अब लोक–वेद के कर्त्तव्यों के बन्धन उस पर नहीं रह गए हैं।

टिप्पणी– तुलना कीजिए–

"त्रैगुण्यविषयावेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः।" –(श्रीमद्भगवद्गीता)

'रूपकातिशयोक्ति' और 'सांगरूपक' का निर्वाह है।

'पूरा किया विसाहुणां' से ज्ञानपूर्वक भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म के क्षय की व्यंजना है।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि।।३।।

शब्दार्थ– हांणि = हानि, नुकसान। जांणि = ज्ञान।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– यह तो बहुत ही अच्छा हुआ कि भटकते हुए मुझे गुरु व गुर की प्राप्ति हो गई अन्यथा तो बहुत ही हानि होती रहती। मैं उसके आकर्षणों में भी अपनी पूरी शक्ति से गिर पड़ता अर्थात् संसार के अन्य जीवों के समान मैं भी इस माया और वासना रूपी दीपक की लौ में पतंगे की तरह जलता रहता। जैसी पतंगों की दीपक के प्रति दृष्टि होती है, माया के प्रति वैसी ही दृष्टि अपनाकर मैं अपनी पूर्ण जानकारी के साथ अर्थात् जान–बूझकर अपनी इच्छा और शक्ति भर उस माया के दीपक में पड़ता।

टिपण्णी– पतंगा दीपक की चमक को प्रियतमा के आह्वान का संकेत समझ बैठता है। इस प्रकार जीव को भी माया में आनन्द का भ्रम हो जाता है।

कबीर सतगुर नां मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगे भीष।।४।।

शब्दार्थ– सीष = शिक्षा। जती = साधु। घरि–घरि = घर–घर। भीष = भिक्षा।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि उन्हें सद्गुरु नहीं मिले, उनकी शिक्षा अपूर्ण रह गई। उन्हें सच्चा वैराग्य नहीं हुआ। वे केवल यति का वेश बनाकर घर–घर भीख ही माँगते हैं।

विशेष– (१) पद मैत्री अलंकार दृष्टव्य है।
(२) आत्मज्ञान का सुन्दर प्रतिपादन है।

सतगुर हम सूँ रीझ करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।५।।

शब्दार्थ– रीझ करि = प्रसन्न होकर। बरस्या = बरसना।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या— सद्गुर ने हम पर प्रसन्न होकर एक रसपूर्ण वार्ता कही। इससे प्रेम–रस की वर्षा हुई और मेरे सब अंग–प्रत्यंग उस प्रेम–रस से अभिषिक्त हो गये।

टिप्पणी— रूपक के आवरण में भक्ति और प्रेम का अनूठा चित्रण है।

सुमिरण कौ अंग

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैगा दिन राति।। ६ ।।

शब्दार्थ— निरभै = निडर। बाति = वर्तिका। घट्या = कम होना। बुझी = समाप्त।

सन्दर्भ— यह साखी 'सुमिरण कौ अंग' अंश से उद्धृत है।

व्याख्या— कबीर कहते हैं जब तक इस दीपक में तेल है अर्थात् शरीर में प्राण हैं, तब तक निर्भय होकर भगवान का स्मरण करते रहो। तेल के समाप्त होते ही अर्थात् इस शरीर के प्रारब्धों का क्षय होते ही यह प्रकाश देने वाली बत्ती बन जायेगी। शरीर से प्राण निकल जायेंगे और जीव दिन–रात सोता ही रहेगा।

टिप्पणी— 'अन्योक्ति' की शैली में तेल और बत्ती के प्रतीकों से तत्व ज्ञान का उपदेश।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका सँग तैं बीछुड़या, ताहि के सँग लागि।।७।।

शब्दार्थ— सूता = सोया हुआ। जागि = जागकर। बीछुड़िया = अलग हुआ।

सन्दर्भ— उपरोक्त।

व्याख्या— कबीर, इस मोह–निद्रा में सोया हुआ क्या कर रहा है? जागकर अपने साथ वालों को क्यों नहीं देखता है? इस लम्बी अनेक योनियों की जीवन यात्रा में अज्ञानवश भगवान् से जीव का साथ बिछड़ा–सा प्रतीत होता है अर्थात् वह अपने को भगवान् से पृथकं समझने लगा है। ज्ञान रूपी जाग्रत अवस्था के आते ही जीव ब्रह्म से अपने सम्बन्ध को पहचान लेता है और उसी में तन्मय हो जाता है। कबीर इसी बोध को जगाने की प्रेरणा दे रहे हैं।

टिप्पणी— लक्षणा से 'सूतां' का अर्थ अज्ञान हो गया। भगवान् के साथ लगने–उससे अभेद–की प्रेरणा है।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम।।८।।

शब्दार्थ— घटि = घट, हृदय, शरीर। फुनि = पुनः। रसना = जिहवा। षये = नष्ट होना।

सन्दर्भ— उपरोक्त।

व्याख्या— जिसके अन्तःकरण में न प्रेम है और न प्रेम का आस्वाद तथा जिसकी जिह्वा पर राम–नाम भी नहीं है, वे लोग इस संसार में व्यर्थ पैदा होकर नष्ट होते हैं।

टिप्पणी— छेकानुप्रास अलंकार प्रयोग हुआ है।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौ करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत।।९।।

शब्दार्थ– ध्याई लै = ध्यान कर ले। जिनि = मत, विचार। बीसरै = भूल जाना। छीलर = कम गहराई वाला तालाब।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– हे जीव ! अपनी जिह्वा से सहमति लेकर रामनाम का ध्यान करो, अर्थात् मन और जीभ–दोनों को नाम–स्मरण में लगा दो। मात्र अनेक सांसारिक सिद्धियों को देने वाले अतः उथली तलैया रूप देवताओं की ओर आकृष्ट होकर परमानन्द की अपार जल–राशि से पूर्ण असीम सागर रूप भगवान् का विस्मरण मत करो।

टिप्पणी– अलंकार–'रूपक और रूपाकातिशयोक्ति'।

बिरह कौ अंग

चकवी बिछुटी रैणि की, आई मिलि परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति।।१०।।

शब्दार्थ– रैणि = रात, रात्रि। परभाति = प्रातः काल।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अंश साखी के अन्तर्गत 'बिरह कौ अंग' से उद्‌घाटित है।

व्याख्या– चकवी अपने पति से रात में बिछुड़ जाती है तो प्रातःकाल आकर मिल लेती है। पर जो जीव भगवान् से बिछुड़ गये हैं उनका मिलन न रात में होता है और न दिन में, जीवन भर ही नहीं होता है।

टिप्पणी– व्यतिरेक अलंकार। वियोग श्रृगांर। मिलने की आकुलता व्रंजित है।

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे आइ।।११।।

शब्दार्थ– ऊभी = खड़ी। पंथसिरि = रास्ते के छोर पर। पंथी = पथिक। धाइ = दौड़ कर।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– विरहिणी जीवात्मा जीवन–मार्ग में खड़ी हुई दौड़–दौड़कर आते–जाते पथिकों एवं साधकों से अपने प्रियतम के आगमन के विषय में पूछ रही है। कोई बस, संदेश का एक शब्द कहदे कि उसके प्रियतम उससे कब मिलेंगे?

टिप्पणी– विकलता की उत्कटता की सरल भाषा में व्यंजना है। प्रत्येक व्यक्ति से पूछने में विफलता के साथ ही अनेक साधनाओं में भटकने की भी व्यंजना है।

चोट सतांणी बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ।।१२।।

शब्दार्थ– सतांणी = कष्टदायिनी। जरजर = शिथिल। जांणि है = जानने वाला।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– यह विरह की पीड़ा अत्यन्त कष्टदायिनी है। इससे सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो गया है। पर इस चोट की मर्मव्यथा और गहराई को या तो वह समझता है जिसको चोट लगी है या वह जानता है जिसने चोट की है। क्योंकि उसकी चोट सहना ही चोट करना है। अर्थात् इस मर्मव्यथा का अनुभव केवल दोनों प्रेमियों को ही हो सकता है।

टिप्पणी– विप्रलम्भ श्रृंगार।

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागैं कोई।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ।।१३।।

शब्दार्थ– भुवंगम = विषधर, सर्प। बौरा = पागल, ना बोलने वाला।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– विरह रूपी सर्प हृदय में ही निवास करता है। वह निरन्तर डसता रहता है। अब इस तन पर मंत्रादिक के उपचार नहीं चल सकते हैं। राम से वियुक्त जीव जी नहीं सकता है। अगर जीता है तो पागल ही रहता है। अर्थात् सांसारिक विषयों के ग्रहण की दृष्टि से पागल–सा हो जाता है।

टिप्पणी– 'सांगरूपक अलंकार। भगवान् के प्रेम का विरही संसार की दृष्टि से तो पागल ही हो जाता है। ईश्वर से मिलन ही इसका एक मात्र उपचार है, अन्य साधनायें व्यर्थ हैं।

तुलना कीजिए–मूढ़वत् तिष्ठासेत्।

इस तन की दीवा करौ, बाती मेल्हूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव।।१४।।

शब्दार्थ– दीवा = दीपक। मेल्यू = डालूँ। लोही = खून। पीव = प्रियतम।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– विरह की असह्य उत्कटता में आत्मा कह रही है कि इस शरीर का दीपक बना लूँ और प्राण को उसकी बत्ती बना दूँ। इसे अपने शरीर के रक्त–रूपी तेल से सींचता रहूँ। उस प्रकाश में ही प्रियतम का मुख किसी प्रकार शीघ्र दिखाई दे जाय।

टिप्पणी– प्रतीक्षा का एक क्षण असह्य है। अपने आपको मिटाकर भी प्रियतम के दर्शन करने की आकांक्षा में विरह की तीव्रता ही व्यंजित है। 'लोहू' आदि की बात फारसी प्रभाव है। इससे भारतीय सहृदय को 'जुगुप्सा' के संस्पर्श से 'रति' के परिपाक में बाधा का अनुभव होता है। पर कबीर ने 'जुगुप्सा' वाले अंश को उस सीमा तक बढ़ने नहीं दिया है।

साकेत की 'उर्मिला के कथन' से तुलना कीजिए।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि।।१५।।

शब्दार्थ– मैं = अहं भाव (घमण्डी होने का सूचक मैं)। हरि = ईश्वर।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'पारचा कौ अंग' से अवतरित किया गया है।

व्याख्या— जीव कहता है कि परमतत्व के परिचय से पूर्व जब मेरा अहं था, उस समय मुझे—भगवान की पूर्ण सत्ता का सम्यक् ज्ञान नहीं था। तब मुझे हरि का ज्ञान नहीं था अतः मेरे लिए हरि नहीं थे। ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं जीव और ब्रह्म की एकता के ज्ञान से मेरा अहं ईश्वर में विलीन हो गया है। अतः अब केवल हरि ही रह गये हैं, मैं नहीं हूँ। अब अन्तः ज्योति की दीप—दर्शन से अज्ञान का सम्पूर्ण अन्धकार नष्ट हो गया है।

टिप्पणी— ज्ञान होने पर **'सर्व खल्विदं ब्रह्म'** की भावना दृढ़ हो जाती है। इसी का प्रतिपादन है।

रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार (कुम्हार) का, बहुरि न चढ़ई चाकि।।१६।।

शब्दार्थ— थाकि = थकावट, शिथिलता। कलस = घड़ा।

सन्दर्भ— प्रस्तुत साखी 'रस कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या— कबीर ने भगवान के साक्षात्कार एवं प्रेम का रस इस प्रकार और इतना पी लिया है कि अब उसकी सांसारिक यात्रा की थकान बिल्कुल दूर हो गई है। भक्त कबीर भगवान् रूपी कुम्भकार का घड़ा है। उनके अनुग्रह एवं ज्ञान से उसका शरीर रूपी घट पक गया है, इसलिए संसार के आवागमन रूपी चाक पर उसे फिर नहीं चढ़ना है। वह इसी जन्म में मुक्त हो गया है। या पक्के घड़े के लिए चाक की क्या आवश्यकता है?

टिप्पणी— रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपक अलंकार। 'हरि रूप कुम्भकार का घड़ा' कहकर भक्त के शरीर को भगवान् की इच्छा—पूर्ति का साधन बताया है। इसमें समर्पण—भाव भी व्यंजित है। विकल्प वाले अर्थ में प्रेम—परिपाक के बाद साधना की अग्नि व्यर्थ है, की ध्वनि है।

लांबि कौ अंग

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समाणी समद मैं, सो कत हेरी जाइ।।१७।।

शब्दार्थ— हेरत = ढूँढ़ना। हिराइ = लुप्त हो गया। कत = कैसे, कहाँ से।

सन्दर्भ— प्रस्तुत साखी 'लांबि कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या— हे उदार और महान्, अथवा हे सखि, अपने आत्म—स्वरूप को ढूँढ़ते—ढूँढ़ते कबीर स्वयं ही खो गया है। उसका अहं व्यापक चैतन्य में विलीन हो गया है। जो बूँद समुद्र में मिलकर तदाकार हो गई है, जिसका अब पृथक अस्तित्व नहीं रह गया है वह भला कैसे ढूँढ़ी जा सकती है? जीव का पृथक अहं जब परमात्म—चैतन्य में विलीन हो जाता है तब उसकी पृथक्ता का भान कैसे सम्भव है।

टिप्पणी— दृष्टान्त अलंकार।

निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।

नैनों रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ।।१८।।

शब्दार्थ– स्यंदूर = सिंदूर (सौभाग्य का प्रतीक)। विषय = वासना। रमइया = रमण करने वाला, प्रियतम।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि जब आँखों में सिंदूर की रेखा रहती है अर्थात् पीड़ा से लालिमा रहती है, उस समय उसमें काजल नहीं लगाया जा सकता है। उसी प्रकार जब नेत्रों में राम समाया हुआ है, उसके प्रेम की लालिमा है तो दूसरे के लिए, विषय–वासनाओं या अन्य साधनाओं के लिए, कहाँ स्थान हैं? उसमें काजल रूप माया के आकर्षण कैसे समा सकते हैं?

टिप्पणी– 'दृष्टान्त' अलंकार। प्रेम की अनन्यता का चित्रण है। रूपक की व्यंजना विद्यमान है।

चितावणी कौ अंग

कबीर कहा गरबियौ, देही देखि सुरंग।

बीछड़िया मिलिबौ नहीं, ज्यूँ काँचली भुवंग।।१६।।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– रे मानव ! इस सुन्दर शरीर को देखकर क्या अभिमान करता है। एक बार बिछुड़ने पर फिर मिलन नहीं हो सकता है। छूटने के बाद यह शरीर पुनः उसी प्रकार नहीं प्राप्त होता जैसे साँप अपनी केंचुली को जब एक बार छोड़ देता है तो फिर उसे नहीं ग्रहण कर सकता है।

टिप्पणी– 'उपमा' अलंकार। नश्वरता की व्यंजना के साथ ही इस शरीर की भक्ति से कृतार्थ करो की भी व्यंजना है। 'भुवंग' से विषयों की भी ध्वनि है।

यहु तन काचा कुंभ है, लिया फिरै था साथि।

ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि।।२०।।

शब्दार्थ– ढबका = धक्का, ठेस, झटका। हाथि = हाथ।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– यह शरीर कच्चा घड़ा था। जीव इसे साथ लिए घूम रहा था। कहीं पर काल की कुछ ठेस लग गई और फूट गया। कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। जीवन व्यर्थ ही गया।

टिप्पणी– कबीर ने छह शरीरों की कल्पना की है–स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य तथा हंस। इनमें से प्रथम पाँच कच्चे और नाशवान हैं। ऊपर इन्हीं शरीरों का वर्णन है।

सूषिम कौ अंग

जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ।
मन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहुँचे जाइ।।२१।।

शब्दार्थ– ठहराइ = ठहरना। गमि = गति।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'सूषिम कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– जो स्थान इतना दुर्गम है कि वहाँ चींटी भी नहीं चढ़ सकती हैं, जो इतना सूक्ष्म है कि वहाँ राई तक के लिए स्थान नहीं है, और जहाँ मन और प्राण तक की गति नहीं है कबीर उसी पद को पहुँच गये हैं।

टिप्पणी– व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना सम्पूर्ण साखी में दृष्टिगोचर होती है।

माया कौ अंग

कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तौ फंधै पड्या, गया कबीरा काटि।।२२।।

शब्दार्थ– फंध = फंदा, पाश। हाटि = बाजार में। काटि = काटकर।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'माया कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि यह माया पापिन है। जीव को फँसाने के लिए फन्दा लेकर बाजार में बैठी है। सारा संसार इसके फन्दे में फँस गया है। पर कबीर (व्यापक एवं मुक्त आत्मा) ने इस फन्दे को काट दिया है।

टिप्पणी– व्यतिरेक अलंकार।

कबीर सो धन संचिये, जो आगैं कूँ होई।
सीस चढ़ायें पोटली, ले जात न देख्या कोइ।।२३।।

शब्दार्थ– आगैं कूँ = भावी जीवन, भविष्य। पोटली = गठरी।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि जो धन–द्रव्य परलोक के लिए हो सके, उसका ही संचय करना चाहिए। वह धन तो ज्ञान और प्रेम ही है। लोग सांसारिक धन–संचय में जुटे हुए हैं। यह परलोक के लिए होता तो ठीक था। पर हमने तो मर कर जाने वाले किसी भी व्यक्ति के सिर पर इस धन की पोटली नहीं देखी है।

टिप्पणी– 'अपरिग्रह' की भावना एवं ईश्वर प्रेम का सहज उपदेश है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार का होना परिलक्षित होता है।

साध महिमा कौ अंग

चंदन की कुटकी भली, नाँ बंबूर की अंवराँऊं।

बैश्नौं की छपरी भली, नाँ साषत का बड गाऊँ।।२४।।

शब्दार्थ– कुटकी = छोटा टुकड़ा। अंवराँऊ = उपवन, बगीचा। साषत = शाक्त।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'साध महिमा कौ अंग' से उद्धृम है।

व्याख्या– चन्दन के वृक्ष की तो छोटी–सी कुटिया ही अच्छी है, पर बबूल के पेड़ों की अमराई (उपवन) भी अच्छी नही। वैष्णव भक्तों की छोटी सी झौंपडी भी रहने योग्य है और शाक्तों या हरिविमुखों का बड़ा गाँव भी नहीं।

टिप्पणी– दृष्टान्त अलंकार। वैष्णव–प्रेम तथा शाक्तों के प्रति जुगुत्सा व्यंजित है।

सम्रथाई कौ अंग

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग शरीर।

जे कछु किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर कबीर।।२५।।

शब्दार्थ– जोग = योग्य। हरि = परमात्मा। कबीर = संत कबीर। कबीर = महान, श्रेष्ठ।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'सम्रथाई कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि मैंने इस विश्व में कुछ भी नहीं किया है। कुछ कर ही नहीं सका। मेरे में करने योग्य शक्ति ही न थी, वास्तव में कर्त्ता तो भगवान है। उसी ने सब कुछ किया है। उसी के करने से मैं जो कुछ आज हूँ, वह हुआ हूँ। सामान्य व्यक्ति से भक्त कबीर हो गया हूँ।

टिप्पणी– जीव के अपने कर्त्तापन का निषेध एवं भगवान् के कर्तृत्व एवं अनुग्रह की स्वीकृति। व्यतिरेक की ध्वनि।

काल कौ अंग

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।

माँ जाँणै कहाँ मारिसी, कै घर कै परदेस।।२६।।

शब्दार्थ– गरबियौ = गर्व करता है। मारिसी = मारेगा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'काल कौ अंग' से उद्धृत है। इसमें नाशवान जीव की व्यर्थ गर्व करने पर प्रहार है।

व्याख्या– कबीर जीव को चेतावनी दे रहे हैं, रे जीव तू अपनी शक्ति पर क्या अभिमान करता है? मृत्यु ने तुम्हारे बाल पकड़ रखे हैं। पता नहीं यह काल तुम्हें कहाँ मारेगा, घर पर या परदेश में? अर्थात् यह चाहे जहाँ मार सकता है।

टिप्पणी– 'मानवीय अलंकार' का बड़ा ही सजीव चित्रण है। जीव के अपने कर्त्तापन का निषेध एवं भगवान् के कर्तृत्व एवं अनुग्रह की स्वीकृति। व्यतिरेक की ध्वनि।

कस्तूरियाँ मृग कौ अंग

कस्तूरी कुंडलि बसैं, मृग ढूंढै बन-मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखै नांहि।।२७।।

शब्दार्थ– कुंडलि = नाभि में। देखैं नांहि = अनुभव नहीं कर पाते।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'कस्तूरियाँ मृग कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है। वह उसकी सुगन्ध से अभिभूत होकर उसे प्राप्त करने के लिए वन–वन में ढूँढता फिरता है, घासों को व्यर्थ सूँघता रहता है। वैसे ही आनन्द–स्वरूप भगवान् प्रत्येक के अन्तःकरण में निवास करते हैं। जीव उस आनन्द के आभास से मुग्ध होकर उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करने की इच्छा से विभिन्न साधनाओं में भटकता है। जीव अपने आप में अन्तर्मुखी होकर नहीं देखता। पर इसके बिना वह प्राप्य नहीं है।

टिप्पणी– उपमा अलंकार।

निंद्या कौ अंग

निंदक नेड़ा राखियै, आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन साबण पांणीं बिना, निरमल करै सुभाइ।।२८।।

शब्दार्थ– नेड़ा = निकट। बँधाइ = बनवाकर। सांवण = साबुन।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'निंद्यां के अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– अपने निंदक को अपने समीप ही, अपने आँगन में ही छप्पर डालकर रखना चाहिए। वह बिना साबुन और जल के व्यक्ति को सहज़ रूप में ही निर्मल कर देता है।

टिप्पणी– साधु में निंदा सहन करने से विनयशीलता आती है, यही उसके लिए काम्य है। निंदा व्यक्ति को अपने अवगुणों के प्रति सजग कर देती है और उन्हें छोड़ने की प्रेरणा भी दे सकते हैं, अहंकार की निवृत्ति करती है यह उसके निर्मल करने का रूप ही है।

आपनपौ न सराहिए, और न कहिये रंक।
नां जांणौं किस बिरख तलि, कूड़ा होइ करंक।।२९।।

शब्दार्थ– रंक = तुच्छ, दरिद्र। बिरख तलि = वृक्ष के नीचे। करंक = हड्डियां।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– आत्मश्लाघा करना तथा दूसरों को तुच्छ समझना–दोनों ही मिथ्या अभिमान के चिन्ह हैं। यह शरीर नश्वर एवं तुच्छ है। पता नहीं, कब यह शरीर हड्डियों का ढेर मात्र बनकर किस वृक्ष के नीचे पड़ा रहेगा। पता नहीं किस समय व्यक्ति को मरकर अथवा ऐसे ही तुच्छ अवस्था को प्राप्त करना पड़े।

टिप्पणी– इसमें हृदय के अन्दर ब्रह्म से संसार प्रकाशित है तथा आत्मदर्शन का प्रतिपादन और बाहरी साधनों का विरोध दृष्टिगत होता है।

निगुणां कौ अंग

कहत सुनत सब दिन गए, उरझि न सुरझया मन।
कह कबीर चेत्या नहीं, अजहूं सुपहला (सपहला) दिन।।३०।।

शब्दार्थ– सुरझया = सुलझ सका। चेत्या = सावधान। सुपहला = सो पहला वही पहला दिन, जो स्थिति पहले दिन थी वही बाद में भी रही अर्थात् कोई विकास नहीं हुआ।

सन्दर्भ– प्रस्तुत साखी 'निगुणां कौ अंग' से उद्धृत है।

व्याख्या– कहते–सुनते, तत्व का उपदेश देते हुए सारा जीवन व्यतीत हो गया है। पर अज्ञानी जीव का मन एक बार माया में उलझ कर अब उससे छुट्टी नहीं पा सका है। कबीर कहते हैं कि जीव अब भी सावधान नहीं हुआ, उसका आत्म–बोध नहीं जागा। उसके लिए अब भी पहला ही दिन है अर्थात् उसका अज्ञान यथावत् ही है। अथवा आज भी प्रभापूर्ण दिन है। जीव जगाकर आत्मबोध की ओर अब भी बढ़ सकता है, जीव जब जागे तब ही ठीक है।

टिप्पणी– प्रथम पंक्ति में विशेषोक्ति अलंकार की व्यंजना है।

सबद

संतौ भाई आई ग्यान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ांणी, माया रहै न बाँधी रे।।
दुचिते की दोइ थुंनी गिरांनीं, मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्नाँ छांनि परि घर ऊपरि, कुबधि का भाँडा फूटा।
जोग जुगति करि संतौ बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणी।
आंधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भीनाँ।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनाँ।।१।।

शब्दार्थ– टाटी = फूस का पर्दा, टटिया। बलिंडा = छाजन के बीच का बेड़ा या मोटी बल्ली। भाँडाँ = बर्तन। बूठा = बरसा। भीनाँ = रससिक्त, भीग गया। षीनाँ = क्षीण, कमजोर, दुर्बल।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कबीरदास जी ने ज्ञान प्राप्त होने से समस्त मोह जन्य विकार नष्ट हो जाते हैं और भक्त को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है इसी बात को रूपक द्वारा समझाया है।

व्याख्या– हे भाई संतो! अब मेरे हृदय में ज्ञान की आँधी चलने लगी है। इससे भ्रम रूपी छप्पर उड़ गया है। अब जीव को माया बाँधे हुए नहीं रख सकती है। इस छप्पर की जितनी सामग्री थी, वह पूरी ही नष्ट हो गई है। मन की द्विविधा–रूपी दोनों खंभे जिन पर छप्पर टिका हुआ था, गिर गये हैं और छप्पर का आधारभूत मोह रूप 'म्याल' भी टूट गया है। तृष्णा धराशायी हो गई है। कुबुद्धि का घड़ा फूट गया है। अज्ञान और वासना

का यह जीवन ज्ञान से छिन्न–छिन्न हो गया। पर ज्ञानोदय से जीवन का नव रूप भी निर्मित हो गया है। संतों ने योग की युक्ति से इस जीवन–रूपी छप्पर को फिर से बाँध दिया है। अब इसमें वासना का जल नहीं चूता है, यह चूने वाला छप्पर ही नहीं रहा है। इस शरीर में से कपट का कूड़ा निकल गया है। अब मुझे भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है। इस ज्ञान की आँधी के बाद जो भगवान् के अनुग्रह एवं प्रेम के रस की वर्षा हुई है, उससे भक्तजन प्रेम के महारस से भीग गये हैं। कबीर कहते हैं कि ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होते ही अज्ञान का अंधकार क्षीण हो गया।

टिप्पणी– सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार। ज्ञान और भक्ति के समन्वय के प्राप्य महारस की अनुभूति का लौकिक बिम्बों से चित्रण है। यह कबीर की दार्शनिक मान्यता के प्रतिनिधि पदों में से है।

चलन चलन सब कोउ कहत है, नां जांनो बैकुण्ठ कहां हैं।
जोजन एक परमिति नहीं जांनै, बातनि हीं बैकुण्ठ बखानैं।।
जब लग है बैकुण्ठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा।
कहैं सुनें कैसें पतिअइये, जब लग तहाँ आप नहीं जइये।।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुण्ठहि आहि।।२।।

शब्दार्थ– बैकुंठ = स्वर्ग, आनन्द का लोक। परमिति = सीमा। पतिअइये = विश्वास करना।

सन्दर्भ– उपरोक्त।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि चलने की बात सब करते हैं, पर उन्हें ज्ञान नहीं है कि वास्तव में बैकुण्ठ कहाँ है। जो व्यक्ति एक योजना प्रमाण दूरी को तो जानता ही नहीं है, पर वह बैकुण्ठ के स्वरूप को केवल बातों में ही बखानता रहता है। उसको वास्तविक बैकुण्ठ का ज्ञान नहीं है। जब तक जीव को इस नश्वर बैकुण्ठ की आशा बनी रहती है, तब तक उसका भगवान् के चरणों में अनुराग नहीं होता। जब तक उस परम पद का बैकुण्ठ का जीव स्वयं साक्षात्कार नहीं कर लेता है, तब तक कहने सुनने पर भी उसका विश्वास नहीं जमता है। कबीर कहते हैं कि यह किसे समझाऊँ कि वास्तव में सत्संगति ही बैकुण्ठ है।

टिप्पणी– चजन–चलन में पुररुक्ति प्रकाश, बातनि बैकुण्ठ बखाने में बृत्यानुप्रास तथा कहिए काहि में वक्रोक्ति अलंकार दृष्टिगत होते हैं।

पांडे कौन कुमति तोहि लागी।
तूं राम न जपहि अभागी।।
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा।
रांम रांम तत समझत नांहीं, अंति पड़े मुखि छारा।।
वेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखै रांमां।
जन्म मरन थै तौ तूं छूटै, सूफल हंहि सब कांमां।।
जीव बधत अरू धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।

आपन तौ मुनिजन है बैठे, का सनि कहौं कसाई।।
नारद कहै व्यास यौं भाषै, सुखदेव पूछौ जाई।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौं लाई।।३।।

शब्दार्थ– कुमति = दुर्बुद्धि। खर = गधा। भारा = बोझ। छारा = धूल। ल्यौ = अत्यन्त प्रेम।

सन्दर्भ– राम प्रेम ही जीव के कल्याण का एकमात्र श्रेष्ठ साधन है। इस पर कबीरदास जी ने बल दिया है।

व्याख्या– रे अहंमन्य पण्डित तुझे यह क्या दुर्बुद्धि जाग गई है कि तू साम्प्रदायिक मान्यताओं को सत्य समझ कर उनमें फँस गया है। रे अभागे, राम का सच्चा जप क्यों नहीं करता है? जैसे गधा चन्दन का भार वहन करता है पर उसकी सुगन्धि से अभिभूत नहीं होता, वैसे ही पण्डित तू भी वेद और पुराण पढ़ता तो है पर तू राम नाम के वास्तविक तत्व को नहीं समझता है। इसी से अन्त में तेरे मुँह में धूल पड़ेगी। पण्डित, वेद पढ़ने का तो वास्तविक परिणाम यह होता है कि मानव सब में भगवान् के दर्शन करने लगता है। इस ज्ञान से तो तू जन्म–मरण से छूट जायेगा और तेरा मानव–जन्म धारण करना ही सफल हो जायेगा। तू जीव की हत्या करता है और उसको धर्म बतलाता है। तो समझ बैठा है। फिर कसाई किसको कहोगे? भक्ति और ज्ञान के तत्व का नारद और व्यास इसी प्रकार वर्णन करते हैं। तुम सुखदेव की साक्षी भी ले सकते हो। कबीर कहते हैं कि जीव की दुर्बुद्धि तब छूटती है जब वह भगवान राम में अपना ध्यान लगा देता है।

टिप्पणी– (१) राम नाम तत में रुपक अलंकार (२) वेद पढयां..... कांपा में अतिशयोक्ति अलंकार (३) जीव बचत अरु धरम कहत में विरोधाभास अलंकार है।

पंडित बाद बदंते झूठा।
रांम कह्याँ दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा।।
पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूख जे भाजै, तौ सब कोई तिरि आई।।
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो क़बहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतै आनैं।।
साची प्रीति विषै मायासूँ, हरि भगतिन सूं हासी।
हैं कबीर प्रेम नहिं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुरि जासी।।४।।

शब्दार्थ– बाद = तर्क। दाझैं = दग्ध होना। तृषा = व्यास। सुरतै = स्मृति। जमपुरि = यमलोक में। जासी = जाएगा।

सन्दर्भ– कबीर दास जी नसे अनुभूति रहित ज्ञान को निरर्थक बताया है।

व्याख्या– पण्डित लोग झूठे शास्त्रीय वाद–विवादों में पड़े हुए हैं और वाचिक ज्ञान को ही सब कुछ मान बैठें हैं। अगर ज्ञान और भक्ति से शून्य राम–नाम के उच्चारण मात्र से मुक्ति हो जाती, चीनी कहने मात्र से मुख मीठा हो जाता, अग्नि कहने से ही पैर जल जाते, जल के उच्चारण मात्र से प्यास बुझ जाती, भोजन के कथन मात्र से भूख मिट जाती, तो संसार में कोई भी किसी प्रकार के अभाव से दुःखी ही नहीं होता। सभी लोग इस भवसागर से राम शब्द के उच्चारण मात्र से तर जाते। मनुष्य के साथ अनुकरण

से तोता भी राम नाम रटता है, पर वह भगवान् के नाम का प्रभाव नहीं जानता। अगर कभी पिंजड़े से छूट कर जंगल में चला जाता है तो उसे फिर राम–नाम की सुधि भी नहीं जागती। अतः यह ज्ञान और प्रेम से रहित यांत्रिक जप मात्र हैं। वास्तव में तो केवल भगवान् के भक्तों का मजाक बनाना है। कबीर कहते हैं कि अगर भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम नहीं उपजा है तो अन्त में अपने कर्मों से बँधे हुए जीव को यमपुर ही जाना पड़ेगा।

टिप्पणी– विचार कई दृष्टान्तों से मूर्त हो गया है। ज्ञान और राग से 'राम तत्व' के साक्षात्कार सहित जप ही प्रभावी होता है। यान्त्रिक नाम–स्मरण के ढोंग का खण्डन है।

हम न मरैं मरिहैं संसारा।
हम कूं मिल्या जियावनहारा।।
अब न मरूँ मरनै मन माँना, तेई मूए जिनि रांम न जाँना।
साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसाइन पीवै।।
हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं, हरि न मरै हम काहे कूं मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा।।५।।

शब्दार्थ– साकत = शाक्त। मूए = मरे। जियावनहारा = अमरत्व प्रदान करने वाला, अर्थात् प्रभु।

सन्दर्भ– कबीरदास जी कहते हैं कि अपनी अन्तरात्मा में भगवान के दर्शन की ओर अग्रसर होने से जीव आवा–गमन के बन्धन से मुक्त हो अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या– कबीर कहते हैं कि हम नहीं मरेंगे, यह माया रूपी संसार ही मर जायेगा। हमें तो जियाने वाला मिल गया है अर्थात् आत्मा के अमरतत्व का बोध हो गया है। अब मैं नहीं मरूँगा, क्योंकि मैंने मरने का रहस्य समझ लिया है। वे ही मरे हैं जिन्होंने परमात्मा को नहीं जाना। हरि–विमुख मरते हैं, पर सन्त जन जीवित रहते हैं और भरपेट भक्तिरस का पान करते रहते हैं। भगवान् मरे तो हम भी मरें। आत्मा और परमात्मा का अभेद है और हरि शाश्वत हैं। अतः आत्मा अमर है, जब भगवान् नहीं मरेंगे तो हम क्यों मरेंगे? कबीर कहते हैं कि हमने अपने आप को परमतत्व में विलीन कर दिया है। अब हम अमर हो गये हैं और हमने आनन्द–सागर प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी– शुद्ध चैतन्य एवं ब्रह्म से अभिन्न जीव की अमरता का प्रतिपादन है। इसी में कबीर की निष्ठा है, अतः वे अन्य संतो से श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार व्यतिरेक की ध्वनि है। कबीर को अपने और हरि के अभेद का अनुभव है।

रांम मोहि तारि कहाँ लै जैहौं।
सौ बैकुंठ कहौ धूँ कैसा, करि पसाव मोहि दैहौं।।
जे मेरे जीव दोइ जांनत हौ, तौ मोहि मुकति बताओ।
एकमेव रमि रह्या सबनि मैं, तौ काहे भरमावौ।
तारण तिरण जबै (तबै) लग कहिये तब (जब) लगौ तत न जांना।।
एक रांम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन मांनां।।६।।

शब्दार्थ– तारि = भवसागर से पार करके। पसाव = कृपा, दया। तारण = उद्धार होने की होने की बात। तत = तत्व, ब्रह्म।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पद्य में कबीरदास जी परमार्थज्ञान का प्रतिवादन करते हुए कहते हैं।

व्याख्या— हे राम, आप मेरा उद्धार करके मुझे कहाँ ले जायेंगे? मुझ पर अनुग्रह करके जो बैकुण्ठ मुझे देने वाले हैं यह तो बतलाइए कि वह बैकुण्ठ कैसा है? उससे क्या नई उपलब्धि हो रही है? आप मेरी जीवात्मा को अपने से पृथक् कोई दूसरा तत्व समझते हैं तब तो मुझे मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बतायें और मुक्ति प्रदान करें। पर आप तो सम्पूर्ण विश्व में तथा सभी जीवों में तदाकार होकर रमे हुए हैं। आप स्वयं ही सब आत्माएँ हैं तो फिर मुक्ति क्या? और उसकी उपलब्धि क्या है? वह तो आत्मा का स्वरूप ही है और उपलब्धि ही है। फिर मुझे इन मुक्ति आदि शब्दों में क्यों भ्रमित करते हैं? उद्धार करने वाला, उद्धार एवं उद्धार चाहनै वाला—यह भेद तभी तक रहता है जब तक जीव को तत्व ज्ञान नहीं होता है। तब कबीर कहते हैं कि मैंने परम तत्व को सर्वव्यापी के रूप में देख लिया है और मेरा मन सम्पूर्ण प्रकार के भ्रमों से मुक्त होकर पूर्णतया आश्वस्त हो गया है। अतः मेरे लिए मुक्ति क्या ? मेरे लिए यह नई उपलब्धि नहीं, मैं सदा मुक्त ही हूँ।

टिप्पणी— न परमार्थतः कुछ मुक्ति है और न बन्धन ही, इसी औपनिषदिक तत्व का ही प्रतिपादन है।

हम तौ एक एक करि जांना।
दोइ कहै तिनहीं कौ दोजग, जिन नाहिन पहिचानां।।
एकै पवन एकै ही पांनी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घेड़ सब भाड़े, एक ही सिरजनहारा।।
जैसें बाढ़ीं काष्ट ही कटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अंतरि तूँ ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई।।
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहै कूँ गरवाँनाँ।।
निरभैं भया कछू नाहिं व्यापै, कहै कबीर दिवाँनाँ।।7।।

शब्दार्थ— दोजग = नरक। खाक = मिट्टी, रज। भाँड़े = बर्तन। गरबाँनाँ = गर्व करता है। दिवाँनाँ = मस्त।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पंक्तियों में कबीरदास जी ने ईश्वर की एक सर्व सम्पन्न शक्ति के रुप में माना है और जो द्वैत भाव रखते है, उनकी निन्दा की है।

व्याख्या— हमने तो अच्छी प्रकार से विश्लेषण करके समझ लिया है कि परमार्थ रूप में केवल एक ब्रह्म है। अथवा हमने परम—तत्व को एक ही करके समझा है जो व्यक्ति द्वैत की बात करते हैं उन्हीं के लिए द्विविधा है। दो अलग—अलग संसार है, ईश्वर और ब्रह्म का अलग तथा जीव का अलग। अथवा वे ही नरक के भागी होते हैं। उन्होंने परम—तत्व को पहचाना ही नहीं। एक ही पवन है, एक ही जल है। सम्पूर्ण विश्व में एक ही ज्योति व्याप्त है। एक ही मिट्टी से सम्पूर्ण घड़े बनाए गए हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की वस्तुएँ एक उत्पादन कारण के ही विभिन्न रूप हैं, वह भिन्नता की प्रतीति मात्र है। इस विश्व का स्रष्टा ही एक है। इस विश्व में नाश आदि के रूप में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है, वह केवल जड़ में है, चेतन में नहीं। बढ़ई वन के काठ को काटता है, अग्नि को नहीं काट सकता है। काठ के संसर्ग से अग्नि कटती हुई प्रतीत होती है। वैसे ही

शरीर के संसर्ग से चेतन में नाश आदि परिवर्तनों की प्रतीति मात्र होती है। सम्पूर्ण अन्तः करणों एवं कण–कण में तू ही व्याप्त है और तूने ही ये सारे रूप धारण किए हैं। इस विषय जगत् को देखकर जीव माया से मोहित हो जाता है। इस नश्वर ऐश्वर्य पर वह क्यों गर्व करता है? भगवान् के प्रेम में मस्त हुआ कबीर कहता है कि द्वैत से ऊपर उठे हुए निर्भय जीव को किसी प्रकार का मोह वहीं व्यापता है।

टिप्पणी– 'उपमा' अलंकार। मूल तत्व अपरिवर्तनशील है, परिवर्तन केवल बाह्य प्रतीति मात्र है तथा मूल तत्व के सर्व व्यापित्व के रागात्मक प्रत्यक्ष की व्यंजना है।

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न औगुंण बकसहु मेरा।।
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते।।
कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता।।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारीं।।८।।

शब्दार्थ– अवगुण = बुराइयाँ। बकसहु = क्षमा करना। घाता = चोट। हेत = प्रेम। स्नेह।

सन्दर्भ– कबीरदास जी ने प्रस्तुत पद्यांश में करुणा (दया) की याचना करते हुए कहा है।

व्याख्या– हे मातृ–रूप–भगवान्! मैं तेरा बालक हूँ। तुम मेरे अवगुणों को क्षमा क्यों नहीं करते हो? पुत्र एक दिन में कितने भी अपराध कर ले, पर माता उनमें से किसी का भी बुरा नहीं मानती है। अगर पुत्र उसके बालों को पकड़ कर भी चोट करता है तब भी माता उसके प्रति स्नेह नहीं त्यागती है। कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय में यही विचार बैठ गया है कि अगर बालक को कोई भी कष्ट है तो माँ को भी उससे दुःख ही होता है।

टिप्पणी– भगवान् से अत्यधिक सानिध्य की अनुभूति के लिए माता का रूपक है। अपनी व्यथा को व्यथा के द्वारा ही भगवान् को अनुभूत कराना कबीर का उद्देश्य है। व्यथा का साक्षात्कार बुद्धि से नहीं, व्यथा से होता है। अतः कबीर के भगवान् निर्गुण होते हुए भी भावों का अनुभव करने वाले हैं। कबीर के भगवान् का भक्त को रागात्मक साक्षात्कार होता है, अंतः निर्गुण होते हुए भी भक्ति का आलम्बन है।

बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिनां कछू समंझि न परई, बांझ न जानै पीरा।।
या बड़ बिथा सोई भल जानै रांम बिरह सर मारी।
कैसो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी।।
संग की बिछुरी मिलन न पावैं सोच करै अरु काहे।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राम कूँ चाहै।।
दीन भई बूझैं, सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावैं।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचु पावै।।९।।

शब्दार्थ– बिथा = कष्ट। सर = बाण। सहारी = सहता है। जुगति = युक्ति, उपाय। चाहै = अनुरक्त।

सन्दर्भ– कबीरदास जी अपनी आत्मा रूपी पत्नी अपने प्रियतम पति राम के वियोग में व्याकुल है।

व्याख्या– हे भगवान् यह विरहिणी आपके प्रेम में अत्यन्त अधीर हो गई है। तत्वज्ञान की उपलब्धि अथवा विरह–व्यथा की जागृति के बिना कुछ भी समझ में नहीं आता है। आपके अनुग्रह एवं प्रेम की प्रेरणा से जिसके हृदय में प्रेम की पीड़ा नहीं जाग पाई है, वह विरहिणी–आत्मा की वेदना को समझ ही नहीं पाती है। जैसे प्रसव पीड़ा को बांझ नहीं समझती है। जीवात्मा की इस विरह व्यथा को वही अच्छी प्रकार समझ सकता है, जिसको स्वयं भगवान् राम के विरह का वाण लग चुका है। प्रेम पीड़ा की अनुभूति या तो उसे होती है, या उसे ज्ञात होती है जिसने यह पीड़ा उत्पन्न की है, अर्थात् जिसने यह प्रेम–पीड़ा दी है अथवा उसको जिसमें यह उत्पन्न हुई है। हे भगवान् यह जीवात्मा आपसे बिछुड़ गई है और अब आपसे मिल नहीं पा रही है, इसी से वह गहरी चिन्ता में है। इसके सिवाय और उपाय ही क्या है? यह आपसे मिलने का यत्न कर रही है, उसके लिए युक्ति सोच रही है। यह जीवात्मा प्रियतम राम को ही निरन्तर रटती रहती है और उसी में पूर्णतः अनुरक्त है। भगवान् रूपी पति के न मिलने के कारण यह जीवात्मा दीन होकर अन्य भक्त आत्माओं रूपी सखियों से मिलने का उपाय पूछती रहती है। उनसे अनुनय–विनय करती है कि मुझे कोई राम से मिला दे। भक्त कबीर कहते हैं कि यह जीवात्मा मछली की तरह भगवान् रूपी जल के लिए तड़फ रही है। उनके मिलने पर ही इसे सच्चा सुख मिल सकता है।

टिप्पणी– रूपक, निदर्शाना और उपमा अलंकार। कबीर की प्रेमानुभूति प्रधानतः भक्ति ही है, पर वह रहस्यवाद एवं भक्ति का अपूर्व समन्वय भी कहा जा सकता है। पदों को रहस्यवाद–परक अथवा भक्तिपरक के भेदों में बाँटना भी कठिन है। यह पद भी ऐसी ही समन्वित प्रेमानभूति का विप्रलम्भ रूप है। प्रेम–पीड़ा देने वाला या तो स्वयं भगवान् है या गुरु है। कबीर प्रेम के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त मानते प्रतीत होते हैं क्योंकि प्रेम स्वयं प्रेम की पीड़ा का अनुभव करके ही प्रिय में यह पीड़ा जगा पाता है अन्यथा नहीं। प्रेमी प्रिय की पीड़ा इसीलिए जानता है।

जतन बिन मृगनि खेत उजारै।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे।।
अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।।
अति अभिमान बदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे।।
बुधि मेरी किरषी, गुर मेरौ बिझुका आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न दैहूं बरियां भली संभारे।।१०।।

शब्दार्थ– मृगनि = मृग पशु। बिडरत = भागते। पचि = प्रयत्न करके। आखिर दोइ = दो अक्षर – र और म (राम)। बरियां = अवसर।

सन्दर्भ– उपरोक्त पद्य में कबीरदास जी ने विषयासक्ति का वर्णनं किया है।

व्याख्या– साधना के अभाव में काम–क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषयों रूपी मृगों ने जीवन अथवा भक्ति–भावना रूपी खेत को उजाड़ दिया है। विवेक, वैराग्य एवं ईश्वर–प्रेम से रहित यम–नियम के कर्मों से इन इन्द्रियों अथवा काम–क्रोधादिक मृगों

को रात–दिन हटाने पर भी नहीं और कृच्छ्र साधनाओं से भगाने पर भी भागते नहीं है। ये काम–क्रोधादिक अथवा इन्द्रियों के विषय अपने–अपने के लोभ में फँसे हुए हैं। इन सबके काम और आकर्षक भी एक–दूसरे से पृथक्–पृथक् हैं। इन सब में अपना–अपना गहरा अहंभाव है। इस अहंकार में वे एक–दूसरे को कुछ समझते ही नहीं हैं। अपने–अपने विषयों के लिए इतने आतुर हैं कि दूसरों को अपने विषयों को ग्रहण करने का अवसर देना ही नहीं चाहते हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय अथवा काम–क्रोधादिक में से प्रत्येक इस जीव को अपने–अपने विषयों की ओर खींचते हैं और दूसरों को अपने विषयों का भोग करने का अवसर नहीं देना चाहते हैं। इनमें पारस्परिक समन्वय स्थापित करने की अनेकों ने चेष्टा की पर व्यर्थ ही। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनाओं से यह सम्भव ही नहीं। इन मृगों से मरे जीवन–रूपी खेत की रक्षा करने के लिए विवेक की गोपियाँ (पत्थर फेंक कर अथवा उसकी आवाज से पशुओं को भगाने का अस्त्र है) अथवा गुरू हैं। 'राम' नाम के दो अक्षर ही जीवन की सार्थकता एवं भक्ति–भावना के संरक्षक हैं। कबीर कहते हैं कि मैं इस जीवन–रूपी खेत को खाने नहीं दूँगा, इसे काम–क्रोधादिक से नष्ट नहीं होने दूँगा। मैंने अपने खेत की संयम एवं सात्विक बुद्धि रूपी बाड़ ठीक कर ली है अथवा अवसर रहते ही मैंने खेत सम्हाल लिया है।

टिप्पणी– सांगरूपक अलंकार।



2

मलिक मुहम्मद जायसी

स्तुति खण्ड

धनपति उहइ जेहिक संसारू। सबहि देइ नित घट न भँडारू।।
जावंत जगति हस्ति और चाँटा। सब कहँ भुगुति रात दिन बाँटा।।
ताकरि दिस्ट सबहिं उपराहीं। मित्र शत्रु कोइ बिसरइ नाहीं।।
पंखि पतंग न बिसरइ कोई। परगट गुपुत जहाँ लगि होइ।।
भोग भुगुति बहु भाँति उपाई। सबहि खियावइ आपु न खाई।।
ताकर इहइ सो खाना पिअना। सब कहँ देई भुगुति और जिअना।।
सबहिं आस ताकरि हरि स्वाँसा। ओह न काहु कइ आस निरासा।।
जुग जुग देत घटा नहिं उभै हाथ तस कीन्ह।।
अउन जो देहिं जगत महँ सो सब ताकर दीन्ह।।1।।

शब्दार्थ– धनपति = धन का स्वामी। उहइ = वही। जावँत = जितने। चाँटा = चींटी। भुगुति = खाने के लिए। उपराहीं = ऊपर। गुपुत = गुप्त। खियावइ = खिलाता है। इहइ = यही। उभै = दोनों। अउर = और। महँ = में। ताकर = उसी का।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित पद्मावत के स्तुति खण्ड से अवतरित किया गया है। इसमें जायसी जी ने सृष्टि में सभी प्राणियों के लिए जो कुछ दिया गया है वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। उनका कथन है कि रात दिन देते रहने पर भी उनके भण्डार में कभी कमी नहीं आती है।

व्याख्या– जिस परमेश्वर का यह संसार है वही सबसे बड़ा धनवान् है। वह नित्य सबको देता है और उसका कोष कभी भी नहीं घटता। संसार में हाथी से लेकर चींटी तक जितने जीव हैं, उन सबको खाने के लिए वह दिन–रात बाँटता है। उसकी दृष्टि सब ही के ऊपर है, वह मित्र अथवा शत्रु किसी को अपनी कृपा से वंचित नहीं रखता। संसार में जितने भी पक्षी और पतंगे हैं– चाहे कहीं भी प्रत्यक्ष हों या गुप्त हों– किसी को नहीं भूलता। उसने भोजन और अन्य उपभोग्य पदार्थ उत्पन्न किये हैं जिन्हें वह अन्य सबको खिलाता है पर स्वयं नहीं खाता। उसका खाना–पीना तो यही है कि वह सबको भोजन और जीवन देता है। सब जीव प्रत्येक श्वास में उसी की आशा रखते हैं परन्तु उसे न किसी से आशा होती है न निराशा।

उसे इस प्रकार देते–देते अनेक युग हो गए और उसके दोनों हाथ उसी प्रकार

के हैं परन्तु उसका कुछ भी घटा नहीं है। संसार में और लोग जो कुछ देते हैं उनके पास वह सब उसी परमेश्वर का दिया हुआ होता है।

विशेष– कवि ने ईश्वर की कृपा और अप्रतिम दानशीलता की ओर संकेत किया है।

आदि सोई बरनौं बड़ राजा। आदिहुँ अंत राज जेहि छाजा।
सदा सरबदा राज करेई। औ जेहिं चहइ राज तेहिं देई।
छत्रहि अछत निछत्रहि छावा। दोसर नाहिं जो सरबरि पावा।
परबत ढाह देख सब लोगू। चाँटिहि करइ हस्ति कर जोगू।
बज्रहिं तिन कै मारि उड़ाई। तिनहि, बज्र की देइ बड़ाई।
ताकर कीन्ह न जानइ कोई। करै सोइ जो मन चित होई।
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू भीख भवन दुख भारा।
सबइ नास्ति वह अस्थिर अइस साज जेहिं केर।
एक साइज अउ भाँजइ चहइ सँवारइ फेर।।२।।

शब्दार्थ– बड़ = बड़े। आदिहुं अन्त = आदि से लेकर अन्त तक। सरबदा = सर्वदा, सदैव। अछत = छत्र रहित। निछत्रहि = बिना छत्र वाले को। छावा = वैभव से छा देता है। सरबरि = समता। ताकर = उसका। कीन्ह = किया हुआ। नास्ति = नाशवान्। अइस = ऐसे। साजद = बनाता है। भाँजइ = नष्ट करता है। संवारइ = संभाल देना।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य खण्ड में जायसी उस अनादि सृष्टिकर्त्ता परब्रह्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह समस्त सृष्टि का उद्भव (जन्म देने वाला) स्थिति (पालनकर्त्ता) संहारक (नाश करने वाला) है। उसकी समस्त सृष्टि नाशवान है केवल वही शाश्वत और अमर है।

व्याख्या– सबसे पहले मैं उसी बड़े राजा (परमेश्वर) का वर्णन करता हूँ जिस का राज्य आदि से लेकर अन्त तक शोभायमान् है। वह सदैव राज्य करता है और जिसे वह चाहता है उसे राज्य दे देता है। छत्रधारी को छत्र रहित कर देता है और छत्रविहीन निर्धन को छत्रवान् कर देता है। ऐसा संसार में दूसरा कोई नहीं है जो उसकी बराबरी कर सके। सब लोग देखते हैं कि वह पर्वतों को ढा देता है और चींटी को हाथी के समान (शक्तिशाली) कर देता है। बज्र को तिनके के समान मार कर उड़ा देता है और तिनके को बज्र के समान प्रशंसनीय बना देता है। उसके किए हुए को कोई जान नहीं सकता। वह वही करता है जो कि उसके मन में होता है। किसी को तो वह ऐश्वर्य तथा सुखद उपभोग्य देता है और किसी की भिक्षावृत्ति देता है, उसके लिए संसार में रहना भार रूप होता है।

समस्त संसार नाशवान् है केवल परमेश्वर ही स्थिर है। उसने इस प्रकार के साज कर रखे हैं। वह किसी को बनाता है और नष्ट कर देता है। अगर चाहे तो फिर भी सँभाल सकता है।

विशेष– सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सृष्टि रचना और संहार की अद्वितीय शक्ति का आलेखन कवि का यहाँ पर अभिप्राय है।

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब ओहिसों बरता।
परगट गुपुत सो सबर बियापी। धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी।
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुम्ब न कोइ सँग नाता।
जना न काहु न कोइ ओइँ जंना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना।
ओइँ सब कीन्ह जहाँ लगि कोई। वह न कीन्ह काहू कर होई।।
हुत पहलेइँ औ अब है सोई। पुनि सो रहहि रहिहि नहिं कोई।
अउर जो होई सो बाउर अंधा। दिन दुइ चार मरइ करि धंधा।
जौ ओइँ चहा सो कीन्हेसि करइ जो चाहइ कीन्ह।
बरजन-हार न कोई सबइ चहइ जिअ दीन्ह।।३।।

शब्दार्थ– अलख = जो दिखलाई न दे। अबरन = बिना रंग का। बरता = व्यवहार करना। सरब बियापी = सर्वव्यापी। सिरजना = बनाना। जिअ = जीवन।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने सर्वशक्तिमान प्रभु के निर्गुण निराकार स्वरूप का वर्णन किया है।

व्याख्या– वह सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर अलख और अरूप है अर्थात् वह न तो दिखलाई ही देता है और न उसका कोई रूप है। उसका रंग भी कोई नहीं है। फिर भी वह सबसे तथा सब उससे परस्पर व्यवहार करते हैं। वह प्रत्यक्ष अथवा गुप्त रूप से सर्वव्यापी है। उसे धर्मात्मा देख सकते हैं, पापी नहीं देख सकते। उसका न कोई पुत्र है, न पिता है, न माता है, न कुटुम्ब है और न कोई नातेदार है। उसे किसी ने अपनी कोख से पैदा नहीं किया और न किसी ने उसे जन्म ही दिया है। फिर भी संसार में जहाँ तक जो कुछ है वह सब उसी की रचना है। परन्तु वह किसी का बनाया हुआ नहीं है। वह पहले भी था और वही आज भी है और आगे भी वही रहेगा और कोई नहीं रहेगा। उसके अतिरिक्त जो कोई अपने अस्तित्व को समझता है वह बावला और अंधा है, क्योंकि वह नाशवान् है और दो–चार दिन धंधा करके मर जाएगा।

उस परमेश्वर ने जो चाहा वह किया है और जो करना चाहता है, करता है उसे रोकने वाला कोई नहीं है। उसने सबको इच्छानुसार जीवन दिया है।

विशेष– परमेश्वर के अलोकसामान्य गुणों का वर्णन है।

एहि विधि चीन्हहु करहु गिआनू। जस पुरान महँ लिखा बखानू।
जीउ नाहिं पै जिअइ गोसाईं। कर नाहीं पै करइ सबाईं।
जीभ नाहिं पै सब किछु बोला। तन नाहीं जो डोलाव सो डोला।
स्रवन नाहीं पै सब किछु सुना। हिअ नाहीं गुनना सब गुना।
नैन नाहिं पै सब किछु देखा। कवन भाँति अस जाइ बिसेषा।
ना कोई है ओहि के रूपा। न ओहि काहु अस तइस अनूपा।
ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन ठाऊँ। रूप रेख बिनु निरमल नाऊँ।

ना वह मिला न बेहरा अइस रहा भरपूरि।
दिस्टवंत कहँ निअरें अंध मुरुख कहँ दूरि।।४।।

शब्दार्थ— चीन्हहु = पहचानो। गिआनू = ज्ञान। महँ = में। सबाई = सब कुछ। डोलाव = डुलाना। हिअ = हृदय। गुनना = विचारना। कवन भाँति = किस प्रकार। विसेषा = विशेष। ओहि = वह। मिला = मिला हुआ। बेहरा = बाहर, अलग। भरपूरि = व्याप्त। दिस्टिवंत = ज्ञान–दृष्टि से युक्त। निअरे = पास। मुरुख = मूर्ख।

सन्दर्भ— यहाँ पर भी जायसी ने ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया है। परन्तु ज्ञानीजन उसे अपनी समीप देखते हैं और अज्ञानी लोगों के लिए वह बहुत दूर है।

व्याख्या— उस परमेश्वर को पहचानो और उसका ऐसा ज्ञान करो जैसा कि धर्म–ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। उसके जीव नहीं है परन्तु वह फिर भी जीवित है। हाथ नहीं परन्तु फिर भी सब कुछ करता है। उसके जीभ नहीं है परन्तु सब कुछ बोलता है। शरीर नहीं है जिससे घूम–फिर सके परन्तु फिर भी वह डोलता है। कान नहीं हैं परन्तु सब कुछ सुनता है। उसके हृदय नहीं है परन्तु फिर भी गुणों से द्रवित होता है। नेत्र नहीं हैं परन्तु सब कुछ देखता है। इस प्रकार किस प्रकार से विशेषताओं को माना जाय। उसके रूप वाला कोई नहीं है और न वह स्वयं किसी के रूप जैसा है। वह ऐसा अनोखा है। उसका कोई विशेष स्थान नहीं है और न ऐसा स्थान है जहाँ वह व्याप्त न हो। उसकी कोई रूप–रेखा नहीं है परन्तु उसका नाम बड़ा निर्मल है।

न वह किसी से मिला हुआ है और न अलग है। इस प्रकार समस्त संसार में व्याप्त है। जो ज्ञान की दृष्टि रखते हैं, उनके वह पास है और जो अज्ञानान्ध हैं तथा मूर्ख हैं उनके लिए परमेश्वर दूर है।

विशेष— कवि ने ईश्वर की सर्वव्यापकता का उपर्युक्त पंक्तियों में समर्थन किया है। यहाँ इनके भावों के साथ तुलसी का साम्य द्रष्टव्य है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बक्ता बड़ जोगी।।

अउर जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम ना जानइ भोला।
दीन्हेसि रसना ओ रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहसइ जोगू।
दीन्हेसि जग देखइ कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनइ कहँ बैना।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाहाँ।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सोई जान जेहि दीन्हेसि नाहीं।
जोवन मरम जान पै बूढ़ा। मिला न तरुनापा जब ढूंढा।
सुख कर मरम न जानइ राजा। दुखी जान जाकहँ दुख बाजा।
कया क मरम जान पै रोगी भोगी रहइ निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं जांनइ जो घटघट महं निंत।।५।।

शब्दार्थ— अउर = और, दूसरे। भोला = अनभिज्ञ मनुष्य। रस भोगू = रसीले भोग। बिहँसइ = हँसने। जोगू = योग्य। कहै = को। कर–पल्ले = पल्लव सदृश कोमल हाथ। बर बाहाँ = श्रेष्ठ भुजाएँ। जोबन = यौवन। तरुनापा = जवानी। बाजा = बज रहा है। कया = काया, शरीर। निचिंत = निश्चिन्त। नित = नित्य, सदैव।

सन्दर्भ– जायसी ने यहाँ पर सर्वशक्तिमान प्रभु के द्वारा दिये हुए समस्त ऐश्वर्यमयी भोग–विलास की वस्तुओं की ओर इशारा किया है।

व्याख्या– ईश्वर ने और अनमोल रत्न दिये हैं परन्तु मनुष्य इतना भोला है कि उनके भेद को नहीं जानता। उसने मनुष्य को जिह्वा दी है जिससे नाना रसों का स्वाद लेते हैं। उसने दांत दिए हैं जो मनुष्य के हास के साथ शोभा बढ़ाते हैं। संसार को देखने के लिए उसने नेत्र दिये हैं। ऐसे ही वचनों को सुनने के लिए कान दिये हैं। उसने कंठ दिया है जिससे सब बोलते हैं और पल्लव के समान कोमल हाथ दिये हैं। श्रेष्ठ भुजाएँ दी हैं। चरण दिये हैं जिसमें मनुष्य अनोखे ढंग से चलते हैं। इन सभी ईश्वर प्रदत्त अनमोल रत्नों के मूल्य को वही जान सकते हैं जिनको ये वस्तुएँ प्राप्त नहीं है। यौवन के महत्व को बूढ़ा मनुष्य ही जानता है जिसका कि यौवन चला जाता है और फिर ढूंढने पर भी नहीं मिलता। राजा भी सुख के महत्व को नहीं जानता क्योंकि वह तो सुखी होता है। सुख के मर्म को वह दुखी व्यक्ति जानता है जिस पर दुःख की मार पड़ती रहती है।

स्वस्थ शरीर के महत्व को रोगी ही जान सकता हैं। जो स्वस्थ होकर भोग भोग रहा है वह तो निश्चिन्त होता है। परमेश्वर सृष्टि की सभी वस्तुओं के मर्म को जानता है क्योंकि वह तो सदैव सर्वत्र विद्यमान् रहता है।

विशेष– जायसी ने कहीं–कहीं दोहे में मात्राओं पर ध्यान नहीं दिया। इस दोहे में १३, ११ = २४ के स्थान पर १६, ११, = २७ मात्राएँ हैं।

मानसरोदक खण्ड

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।
पदुमावति सब सखीं बोलाईं। जनु फुलवारि सबै चलि आईं।
कोइ चंपा कोइ कुन्द सहेलीं। कोइ सुकेत करना रस बेलीं।
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन विहँसाती।
कोई सु बोलसरि पुहुपावती। कोई जाही जूही सेवती।
कोइ सोनजरद जेउँ केसरि। कोई सिंगारहार नागेसरि।
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोई कदम सुरस रस बेली।
भेलीं सबै मालनि सँग फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप बास परिमलामोद।।१।।

शब्दार्थ– कौनिउँ = कोई (पाठान्तर पूनिउँ = पूनों की) अन्हाई = स्नान करने। बकौरि = गुलबकावली। बकचुन = गुच्छा। बोलसरि = मौलश्री। जाही = एक फूल। जूही = यूथिका। सेवती = सफेद गुलाब। जेउँ = जसी। गंध्रप = गंधर्व।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में जायसी ने मानसरोवर में स्नान के लिए पद्मावती और उसकी सखियों का विभिन्न उपमाओं द्वारा वर्णन किया है।

व्याख्या– एक दिन कोई (पूर्णमासी की) तिथि आई। पद्मावती मानसरोवर में स्नान करने के लिए चली। उसने अपनी सब सखियों को बुलाया। वे इस प्रकार लगीं मानो समस्त फुलवारी ही चली आई हों। जिस प्रकार फुलवाड़ी में नाना भाँति के पुष्प

होते हैं उसी प्रकार इन सखियों में कोई चम्पा के पुष्प के समान थी तो कोई कुन्द की भाँति थी। अन्य सखियाँ केतकी, करना और रसबेली की भांति थीं। कोई श्रेष्ठ गुलाल और सुदर्शन जैसी लाल थी तथा कोई गुलबकावली के गुच्छों की तरह खिली हुई थी। कोई पुष्पों से युक्त मौलश्री की भाँति थी और कोई जाही, यूथिका और श्वेत गुलाब जैसी थी। कोई सोनजरद जैसी थी और कोई केसर की तरह की थी। कोई हरसिंगार और कोई नागकेशर की भाँति थी। कोई कूजा जैसी और कोई सदबरग और चमेली की भाँति थीं। कोई कदम्ब की भाँति और कोई सुन्दर रसबेली जैसी थी।

वे सब मालती रूप पद्मावती के साथ ऐसे चलीं मानो कमल के साथ कुमुदिनी हों। उनकी सुगन्धि की व्यापकता के कारण गंधर्व के समूह भी प्रभावित हो रहे थे।

विशेष– (१) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन पुष्पों के श्लिष्ट अर्थ देकर उनको पद्मावती की सेवा करने वाली सखियों के रूप में भी चित्रित किया है। जैसे चम्पा = चम्पी भरने वाली। कुन्द = कुन्दी करने वाले। परन्तु यह अर्थ अधिक खींचा–तानी करके निकलते हैं और सब जगह ठीक बैठते भी नहीं है।

(२) अलंकार– उत्प्रेक्षा, उपमा।

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं।
देखि सरोवर रहसहिं केली। पदुमावति सौं कहहि सहेलीं।
ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जो लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ। कित मिलि कै खेलव एक साथाँ।
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं।
पिउ पिआर सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ काह।
कहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जरम निबाहु।।२।।

शब्दार्थ– पालि = किनारे। रहसहिं = रास करना। केली = क्रीड़ा करती हैं। नैहर = पीहर। गौनब = जाने का। काली = शीघ्र ही, कल। कित = कहाँ। पाली = किनारा। दारुन = कठोर। दहुं = न जाने। काह = क्या। जनम = जन्म। निबाह = निर्वाह।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने मानसरोवर पर पद्मावती के पहुँचने तथा सखियों द्वारा जल क्रीड़ा करने के आग्रह का सुन्दर वर्णन किया है।

व्याख्या– वे सब खेलती हुई मानसरोवर पर आईं और जाकर किनारे पर खड़ी हो गईं। वे मानसरोवर को देखकर रास और क्रीड़ा करती हैं। सब सहेली पद्मावती से कहती हैं– हे रानी! मन में विचार करके देख लो। इस पीहर में चार दिन (थोड़े समय) ही रहना है। जब तक पिता का राज्य है तभी तक खेल लो जैसा कि आज खेल रही हो। फिर तो हमारा सास के यहां जाने का समय आ जाएगा। तो फिर न जाने हम कहाँ होंगे और कहाँ यह तालाब और इसका किनारा होगा। फिर आना अपने हाथ कहाँ होगा? और कहाँ मिलकर एक साथ खेलना हो सकेगा। सास और ननद बोलते ही प्राण ले लेंगी। ससुर बड़ा कठोर होगा। वह आने भी नहीं देगा।

इन सबके ऊपर प्यारा प्रियतम होगा। न जाने वह भी फिर कैसा व्यवहार करेगा। न जाने वह सुख से रखेगा या दुःख से। न जाने जीवन का निर्वाह फिर कैसे होगा।

विशेष– जायसी के इस वर्णन के तत्कालीन समाज की वधुओं की परतन्त्र स्थिति का पता चलता है। समासोक्ति द्वारा इसका आध्यात्मिक संकेत समझना ठीक नहीं जँचता क्योंकि सूफी प्रेम–मार्ग के सिद्धान्तानुसार परमेश्वर की कल्पना स्त्री रूप में की कई है। यहाँ स्वयं स्त्रियों का प्रियतम के पास जाने का वर्णन है? अतः वह रहस्यात्मकता अथवा आध्यात्मिक अर्थ की प्राप्ति कहाँ है? फिर प्रिय की प्राप्ति पर डरने की क्या आवश्यकता? हाँ, मार्ग के विघ्न आदि से डरने की बात तो स्वाभाविक हो सकती है पर प्रिय कैसे रखेगा? इस बात में आध्यात्मिक संकेत ढूंढना अयुक्तिसंगत है।

मिलहि रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेहिं सुख बारी भोरी।।
झूलि लेहु नैहर जब ताई। फिर नहिं झूलन देइहिं साई।।
पुनि सासुर लेइ राखिहि तहां। नैहर चाह न पाउब जहाँ।।
कित यह धूप, कहाँ यह छाहाँ। रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ।।
गुन पूछिहि और लाइहि दोखू। कौन उतर पाउब तहँ मोखू।।
सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुबौ कर जोरे।।
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अन्त जनम दुख भरना।।
कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल।
आपु आपु कह होइहि, परब पंखि जस ड़ेल।।३।।

शब्दार्थ– रहसि = प्रसन्न होकर। बारी–भारी = भोली बालायें। चाह = खबर। उतर = उत्तर। सिकोरे = सिकोड़ने पर। ससुरेई = ससुराल में ही। अन्त जनम = जीवन पर्यन्त। भरना = उठाना। आपु–आपु = अलग–अलग। परब = पड़ेगी। डेल = डलिया, टोकरी।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में जायसी ने मानसरोवर में आई उन भोली बालाओं का वर्णन किया है जो मायके के जीवन में आनन्दित होकर ससुराल के भय से सशंकित हैं। इस छन्द में लौकिक अर्थ की ही स्पष्ट व्यंजना है।

व्याख्या– मायके में रहते समय हम सब मिलकर आनंद मनायेंगी और झूले पर झूलेंगी और इस प्रकार सारी भोली बालायें झूलकर सुख प्राप्त करेंगी। जब तक हम सब अपने मायके में हैं तभी तक झूल लो। इसके बाद तो ससुराल जाने पर स्वामी फिर नहीं झूलने देंगे। ससुराल में जाकर स्वामी हमें ऐसे स्थान पर बंद करके रखेंगे जहाँ हमें अपने मायके की कोई भी खबर न मिल सकेगी। वहाँ हमको घर के भीतर परदे में बंद होकर रहना पड़ेगा, बाहर निकलने की आज्ञा नहीं मिलेगी। ऐसी स्थिति में हम इस धूप और इस छाया का आनन्द कैसे उठा पायेंगी। हमें अपनी सखी सहेलियों के बिना अकेले ही घर के भीतर बंद होकर रहना पड़ेगा। वहाँ हमसे लोग हमारे गुणों के विषय में पूछेंगे और बात -बात में दोष लगायेंगे, अर्थात् वहाँ हमारे गुणों को भी दोषों के रूप में गिना जायेगा। ऐसी स्थिति में हम क्या उत्तर देकर उनके व्यंग्य बाणों से मुक्ति पा सकेंगी अर्थात् हम उत्तर देने से भी असमर्थ रहेंगी, क्योंकि यह भी हमारा दोष घोषित कर दिया जायेगा। सास–ननद बात - बात पर आँखें सिकोड़ेंगी और हमें संकोच के साथ हाथ जोड़कर उनके

सम्मुख खड़ा रहना पड़ेगा। ससुराल में पुनः यह आनन्द--क्रीड़ा करने का अवसर कहाँ मिल सकेगा। हमें तो वहाँ जीवन–पर्यन्त दुख उठाते हुए ही जीवन व्यतीत करना पड़ेगा।

फिर हम पुनः मायके कैसे आ सकेंगी, ससुराल में ये खेल कैसे खेल सकेंगी। हमें अलग--अलग अपने ससुराल रूपी पिजड़ों में उसी प्रकार बंद होकर रहना पड़ेगा। जिस प्रकार बहेलिया पक्षियों को पकड़--पकड़ कर अपनी डलिया में बंद करके रखता है.।

टिप्पणी– (१) अलंकार– विषम और उपमा। अध्यात्मपरक अर्थ लेने पर समासोक्ति अलंकार भी मानना पड़ेगा।

(२) अनेक विद्वान लेखकों का यह आग्रह रहा है कि इन पदों का अध्यात्मपूरक अर्थ ही माना जाये। परन्तु यह बड़ा कठिन प्रतीत होता है। ससुराल को यदि ईश्वर का लोक या परलोक मान लिया जाय तो यह रूपक ठीक नहीं बैठता। ससुराल में सभी प्रकार के अत्याचारों के प्रति इस पद में जो संकेत किया गया है वह ईश्वर–लोक या परलोक की कल्पना के नितान्त विपरीत है। परलोक में यदि अन्याय–अत्याचार होता तो फिर ईश्वर की कल्पना ही निरर्थक प्रतीत होती है। वैसे खींचतान कर सभी छन्दों का अध्यात्मपरक अर्थ किया जा सकता है परन्तु ऐसे छन्दों के काव्य–सौन्दर्य की रक्षा तभी सम्भव है जब हम परलोक आदि के माया–मोह से मुक्त होकर इनका शुद्ध लौकिक अर्थ करें। लौकिक अर्थ के साथ 'नीति' की व्यंजना ऐसे छन्दों की प्रभविष्णुता को अधिक बढ़ा देती है।

(३) ऐसे छन्दों में जायसी ने परम्परा से चले आते लोक गीतों की अभिव्यंजना पद्धति को अपनाकर इनके सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिए हैं। हमें इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करने वाले असंख्य लोकगीत आज भी ग्रामीण बालाओं के कंठों से निःसृत होते हुए सुनाई पड़ते हैं।

सरवर तींर पदुमिनी आई। खोंपा छोरि केस मोरकाईं।
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरधानी।
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दशा। लै निसि लखत चाँद परगसा।
भूलि चकोर दिस्टि तहँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाषी। भौंहैं धनुक गगन लै राखी।
नैन खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारँग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप विमोहा हिएँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावों तेहि मिसु यहरैं देइ।।४।।

शब्दार्थ– खोंपा = जूड़ा। छोरि = खोलकर। केस = बालों को। मोकराई = फैलाया, खोला। अरधानी = सुगन्धि के लिए। ओनए = छा जाने से। राहाँ = राहु ने। दिस्टि = दृष्टि। बिमोहा = मोहित हो गया। मकु = स्यात्। मिसु = बहाने से।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में जायसी ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य का वर्णन किया है। नख से शिख तक के सौन्दर्य का यह वर्णन परम्परित आधार पर ही किया गया है और इसमें जायसी को अभूतपूर्व सफलता मिली है।

व्याख्या– वे पद्मिनी स्त्रियाँ सरोवर के किनारे आईं। वहाँ उन्होंने अपने जूड़े को खोलकर बालों को फैला दिया। पद्मावती रानी का मुख चन्द्रमा के समान है और शरीर मलायचल की भाँति है। उस पर बिखरे हुए बाल ऐसे लगते हैं जैसे सर्पों ने सुगन्धि के लिए इसे ढक लिया हो। या फिर ऐसा लगता है कि ये बाल मानो मेघ ही उमड़ आये हों जिससे सारे संसार में छाया हो गई है। मुख के समीप बाल ऐसे लगते हैं मानो राहु ने चन्द्रमा की शरण ले ली हो। केश इतने घने और काले हैं कि दिन होते हुए भी सूर्य का प्रकाश छिप गया और चन्द्रमा रात में नक्षत्रों को लेकर प्रकट हो गया। चकोर भूल कर उधर की ओर ही दृष्टि लगाने लगा क्योंकि उसे मेघों की घटा के बीच पद्मावती का मुख रूपी चन्द्रमा दिखलाई दे रहा था। पद्मावती के दाँत बिजली जैसे चमकीले थे और वह कोयल के समान मधुरभाषिणी थी। भौंहे ऐसी थीं जैसे आकाश में इन्द्रधनुष हो। नेत्र क्या थे मानो दो खंजन के पक्षी क्रीड़ा कर रहे हों। स्तन ऐसे थे जैसे नारंगी हो और उसके अग्रभाग की श्यामता ऐसे लगती थी जैसे नारंगी पर भौंरे बैठे रस ले रहे हों।

मानसरोवर उसके रूप को देखकर मोहित हो गया। वह हृदय में कामना रूपी लहरें भरने लगा। उसकी लहरें इधर आती हुई इस भाव को प्रकट करती हैं मानो कि वह इस बहाने से लहरें ले रहा हो कि स्यात् किसी तरह पद्मावती के पैर छू सके।

विशेष– अलंकार– उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्।

धरीं तीर सब छीपक सारीं। सरवर महँ पैठी सब बारी।
पाएँ नीर जानु सब बेलीं। हुलसी करहिं काम कै केलीं।
नवल बसंत सँवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरीं।
करिल केस बिसहर बिसभरे। लहरैं लेहि कँवल मुख धरे।
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनंत प्रेम कै साखा।
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा।
धनि सो नीर ससि तरई उरई। अब कत दिस्टि कँवल औ कुईं।
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दोसर जल माँह।।५।।

शब्दार्थ– छीपक = छपी हुई। बारी = बालाएँ। बेली = बेलें, लताएं। हुलसी = प्रसन्न हुई। केली = क्रीड़ा। नवल = नया। करिल = काले। बिसहर = सर्प। बिसभरे = विष से भरे हुए, जहरीले। कोंप = कोंपल। ओनंत = झुकना। उईं = उदित हुईं। कुईं = कुमुदिनी। सरग = आकाश। दोसर = दूसरा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में जायसी ने पद्मावती तथा उसकी सखियों के मानसरोवर जल स्पर्श का उल्लेख किया है। इसके साथ ही पररम्परित उपमानों का भी सम्यक् और सफल निर्वाह किया है।

व्याख्या– उन्होंने अपनी छपी हुई साड़ी (पाठान्तर कंचुकि = चोली) किनारे पर रख दी और सब बालाएं तालाब में घुस गईं, वे सब ऐसे प्रसन्न हुईं जैसे लताओं ने जल पा लिया हो। वे सब आनन्दित हुईं और काम की क्रीड़ाएं करने लगीं। उनके वक्षस्थल पर थोड़े उठे हुए उरोज प्रकट करते थे मानो उनकी आयु के नये बसन्त ने कलियों को पैदा कर दिया हो और अब वे कलियाँ रस से भरपूर होकर पूर्ण यौवन के रूप में प्रकट

होना चाहती हों। उनके काले-काले बाल ऐसे प्रतीत होते थे मानो विष से भरे हुए साँप हों और केश के पास सुन्दर मुख ऐसे लगता था जैसे सर्पों ने अपने मुख में कमल को पकड़ रखा हो और अब लहराते फिर रहे हों। उनके अधर ऐसे लगते थे मानो अनार और दाख की कोमल कोंपल निकल रही हो। किंचित् झुकी हुई बालाएं ऐसी लगती थीं मानो प्रेम की शाखा ही झुक गई। सरोवर प्रसन्नता के मारे फूला हुआ अब संसार में नहीं समाता क्योंकि पद्मावती रूपी चन्द्रमा उसमें अपनी सखियों रूपी नक्षत्रों को लेकर नहा रहा है। वह नीर धन्य है जहाँ चन्द्रमा और नक्षत्र उदित हो गये। अब वहाँ कमल और कुमुदिनी कहाँ दिखलाई पड़ते हैं?

चकवी चकवे से बिछुड़ कर पुकारती है कि हे स्वामी! तुम कहाँ मिलोगे। एक चन्द्रमा तो रात्रि को स्वर्ग में है और दिन में दूसरा जल में है। (चन्द्रमा के होते हुए चकवी चकवा से मिल नहीं सकती)।

विशेष– उत्प्रेक्षा–'पाए नीर जानु सब बेली'। रूपक– 'करिल केस बिस–हर'' भ्रम– 'चकई बिछुरि पुकारै'''।

लागीं केलि करै मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठ होइ तीरा।
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी।
बादि मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा।
सँवरिहि साँवरि गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी।
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराएँ हाथा।
आजुहि खेल बहुरि कित होई। खेल गएँ कत खेलै कोई।
धनि सो खेल खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा।
मुहमद बारि परेम की जेउँ भावै तेउँ खेलु।
तीलहि फूलहि संग जेऊँ होइ फुलाएल तेल।।६।।

शब्दार्थ– मँझ = बीच में। बादि = बाज। मेलि = लगाकर। हारु = हार। हारा = हार जाय। रौताई = प्रभुताई। कूसल खेमा = कुशल क्षेम। बारि = जल। परेम की = प्रेम की। तीलहि = तिल भी। जेउं = जैसे। फुलाएल = फुलेल, सुगन्धि।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में पद्मावती तथा उसकी सखियों की जल केलि–क्रीड़ का उल्लेख किया गया है। मानसरोवर में केलि क्रीड़ा करते हुए वे सभी एक खेल का आयोजन भी करती हैं।

व्याख्या– वे जल के बीच में क्रीड़ा करने लगीं। उनकी मनोहर चाल को देखकर हंस लज्जित होकर किनारे पर बैठ गया। पद्मावती को सखियों ने कौतुक देखने वाली करके रखा और कहा कि तुम हम तारागण रूप सखियों की साक्षी होकर शशि के रूप में रहो। फिर बाजी लगाकर उन्होंने खेल आरम्भ किया कि जो खेलने में हार जाय वह अपना हार दे दे। साँवली ने साँवली को और गोरी ने गोरी को अपनी-अपनी जोड़ी बना लिया। समझ बूझ कर एक साथ खेल खेला जिससे कि अपना हार दूसरे के हाथ न जा सके। आज ही खेल है। फिर यह खेल कहाँ होगा? खेल के समाप्त हो जाने पर फिर कोई कहाँ खेलता है? वह खेल धन्य है जो प्रेम के आनन्द से युक्त होता है। (वहाँ) प्रभुताई

और कुशल क्षेम एक साथ नहीं रह सकते। (प्रेम में जो अपनी ठकुराई या बड़प्पन चाहता है तो फिर कुशल क्षेम नहीं। कबीर ने भी कहा है *सीस उतारै भुइँ धरै सो पैठे इहि माहि*)।

मलिक मुहम्मद (जायसी) कहते हैं कि प्रेम के जाल में जैसा भावे वैसा ही खेलो। इस प्रकार तिल–फूलों के साथ मिलकर सुगन्धित तेल बन ही जाते हैं वे कैसे मिले हैं इससे कोई मतलब नहीं, ऐसे ही प्रेम की बाजी से परम आनन्द प्राप्त होगा ही, किस तरह की बाजी खेलनी है इससे कोई तात्पर्य नहीं। जैसे भाव वैसे ही प्रेम की बाजी को खेलो।

विशेष– इस पद में समासोक्ति द्वारा जायसी यह भी संकेत करते हैं कि मानव जीवन का खेल बार–बार नहीं मिलेगा। अतः इसे प्रेम के खेल में लगाओ। ईश्वर से प्रेम करो–यह भाव है।

सखी एक तेइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवाना।
कँवल डार गहि भैं बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा।
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ सैं हाथाँ।
घर पैठत पूँछब एहि हारू। कौनु उतर पाउबि पैसारू।
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे। जानहु मोंति गिरहिं सब ढरे।
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला।
हारु गँवाइ सो अैसेहिं रोवा। हेरि हेराइ लेहु जौं खोवा।
लागीं सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठि भोंति लै घोंघा काहू हाथ।।७।।

शब्दार्थ– तेइं = वह। बेकरारा = व्याकुल। पैसारू = प्रवेश। पैठत = घुसते ही। अैसेहिं = ऐसे ही। हेरि = ढूंढना। हेराइ = ढुंढवाना।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में मानसरोवर के मध्य जल की केलि क्रीड़ा का उल्लेख किया गया है। मानसरोवर में केलि क्रीडा करते हुए वे सभी एक खेल का आयोजन भी करती हैं।

व्याख्या– एक सखी उस खेल को नहीं जानती थी। उसका हार खो गया और वह चित्त से बेसुध हो गई। कमल की नाल को पकड़कर वह व्याकुल हो गई और कहने लगी कि मैं अपने हार के विषय में किससे पुकार करूँ। मैं इनके साथ खेलने ही क्यों आई थी जो कि स्वयं अपने हाथों से अपना हार खो चली। घर में घुसते ही इस हार के विषय में पूछा जाएगा तो फिर क्या उत्तर देकर प्रवेश पा सकूंगी? उसके नेत्र रूपी सीपी में आँसू भरे हुए थे। वे गिरते थे तो ऐसे लगते थे जैसे कि सीपी से मोती गिर रहे हों। सखियों ने कहा कि हे भोली कोयल! ऐसा कौन–सा पानी है जिसमें पवन मिली हुई नहीं है अर्थात् सुख–दुःख अथवा अच्छाई बुराई सर्वत्र मिली रहती है। खेल की अच्छाई के साथ हार खोने की बुराई भी वैसे ही मिली हुई है। हार को जो खोता है वह ऐसे ही रोता है परन्तु जो हार खो गया है उसे ढूंढ लो और हमसे ढुंढवा लो।

वे सब मिल करके ढूंढने लगीं और एक साथ ही सब डुबकी लगाने लगीं। किसी के हाथ में मोती आया और उसे लेकर ही ऊपर उठ आई और किसी के हाथ में घोंघा ही रहा।

विशेष– (१) जायसी ने यहाँ साधना–मार्ग के विघ्नों की ओर संकेत किया है। विघ्नों से घबड़ाना नहीं चाहिए। जो घबड़ाता है वह उस परम तत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। (२) अलंकार– उपमा, छेकानुप्रास।

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसें। पावा रूप रूप कें दरसें।
मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा।
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे।
नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर।।८।।

शब्दार्थ– चहा = जिसे चाहा था। पारस रूप = पारस के रूप में। भा = हुआ। गै = गई। पुन्नि = पुण्य की। ततखन = उसी समय, तत्क्षण। बेगि = शीघ्र। उतिराना = तैर आया। निरमर = निर्मल। जोति = ज्योति।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में मानसरोवर में जब सभी सखियाँ एक सखी के हार के खो जाने पर चिन्तित हैं तो उसी समय पद्मावती स्वयं सरोवर के जल में उतर कर उसके हार को खोजने का प्रयास करती हैं। पद्मावती के जल स्पर्श से हार स्वयं मानसरोवर के ऊपर आ जाता है।

व्याख्या– मानसरोवर ने कहा कि मैं जिसे चाहता था वह मुझे पा गई। पद्मावती जो पारस रूप है वह यहाँ तक (मेरे पास तक) आ गई। उसके पैरों के स्पर्श करने से मैं निर्मल हो गया (पारस के स्पर्श से लोहा कंचन हो जाता है)। उसके रूप को देखकर मुझे भी अच्छा रूप मिल गया। उसके शरीर से मलयाचल की सुगन्धि आ रही थी। उसे स्पर्श करके मैं शीतल हो गया और मेरी तपन बुझ गई। न मालूम कौन–सी वायु चली जो इसे यहाँ ले आई। मेरी दशा पुण्य की हो गई और पाप नष्ट हो गये। उसी क्षण शीघ्रता से हार ऊपर तैर आया। सखियों को वह मिल गया। उसे देखकर चन्द्रमा स्वरूप पद्मावती विहँसित हो गई। चन्द्रमा रूप पद्मावती की मुस्कान को देखकर कुमुदिनी रूप सखियाँ भी मुस्कराने लगीं। उसने (पदमावती ने) जहाँ जो देखा वह सब उसके रूप के समान ही था। जिस तरह के रूप भी अन्य वस्तुओं के थे वे सब पद्मावती के मुख के समान थे। इस तरह पद्मावती के मुख को मानो सब पदार्थ दर्पण हो रहे थे। सब में पद्मावती का ही रूप चमकता था।

पद्मावती का जो मुख है उसका सरोवर की वस्तुओं में प्रतिबिम्ब पड़कर दिखलाई देना चाहिए। जायसी पद्मावती के रूप में वह सब कुछ बतला देते हैं। जैसे कि सरोवर में कमल थे तो पद्मावती नेत्र ही मानो प्रतिबिम्बित कमल थे। उसका निर्मल शरीर ही मानो सरोवर में प्रतिबिम्बित निर्मल जल था। उसका हास ही मानो प्रतिबिम्बित

हंस थे (हँसी का रंग श्वेत होता है)। उसके दाँत ही मानो सरोवर में प्रतिबिम्बित नग और हीरे थे।

विशेष– इसमें जायसी ने परमेश्वर के बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव को इस प्रसंग के माध्यम से प्रकट करने का प्रयत्न किया है। पद्मावती बिम्ब है और यह सम्पूर्ण जगत उसी का प्रतिबिम्ब है। यह भाव साधारण कथा–प्रसंग के रहते हुए समासोक्ति के द्वारा समझना चाहिए।

नखशिख खण्ड

का सिंगार ओहि बरनौं राजा। ओहि क सिंगार ओहि पै छाजा।
प्रथमहि सीस कस्तुरी केसा। बलि बासुकि को औरु नरेसा।
भंवर केस वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरघानी।
बेनी छोरि झारु जौं बारा। सरग पतार होइ अंधियारा।
कोंवल कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअंग बिसारे।
बेधे जानु मलैगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा।
घुँघुरवारि अलकैं बिख भरीं। सिंकरीं पेम चहहिं गियँ परीं।
अस फँदवारे केस वै राजा परा सीस गियँ फाँद।
अस्टौ कुरी नाग ओरगाने भै केसन्हि के बाँद।।1।।

शब्दार्थ– बासुकि = शेषनाग। लुरही = लहर रहे हैं। बिसारे = विषैले। बिख = विष। सिंकरीं = जंजीरें। फँनवारे = फंदे में। ओरगाने = स्तम्भ। बाँद = बन्दी।

सन्दर्भ– नखशिख वर्णन के इस प्रस्तुत प्रसंग में जायसी ने हीरामन तोते से राजा रत्नसेन को पद्मावती के सुन्दर केशों का वर्णन कहलाया है।

व्याख्या– तोते ने राजा से उस पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा हे राजन! मैं उसके श्रृंगार का कहां तक वर्णन करूँ ? उसका सौन्दर्य तो अनुपम है। उसके सिर पर जो केश हैं वे कस्तूरी के समान काले हैं जिन पर शेषनाग को भी न्योछावर हो जाना पड़ता है। फिर राजा तो उसके सामने हैं ही क्या! पद्मावती उस मालती पुष्प की भाँति है तथा उसके सिर के बाल काले भ्रमर के समान हैं जो कि उसका मधुपान करने वाले हैं। उसके बाल विषैले सर्प की भाँति लहराने वाले हैं। जब वह उन बालों को खोलकर झाड़ती है तो आकाश एवं पाताल दोनों ही स्थानों पर अन्धकार छा जाता है। उसके ये सिर के बाल विषैले सर्प हैं। उनको देखकर प्रतीत होता है कि मानो वे पद्मावती को मलयागिरि पर्वत समझ उसकी सुगन्ध लेने के लिए चारों ओर से मंडरा रहे हैं। उसके शरीर की सुगन्धि ने उन सर्पों को वेंध रखा है। इसी कारण वे अन्य कहीं नहीं जा पाते। उसके घुँघराले केश मूर्च्छित करने वाले प्रतीत होते हैं, नहीं तो वे साक्षत् प्रेम की श्रृंखला ही प्रतीत होते हैं जो कि किसी के गर्दन में फन्दा बनकर पड़ना चाहती है। उनके फन्दे का महत्व इतना अधिक है कि दूर बैठा हुआ राजा भी उसमें फँस गया। इन्हीं केशों के फन्दे में तो आठों कलों के अधिपति नाग देवता भी आकर बंधे थे। इस प्रकार इन केशों में मूर्च्छित कर देने वाली शक्ति निहित है।

विशेष– (१) कवि ने यहाँ नख से शिख का वर्णन न करके शिख से वर्णन करना प्रारम्भ किया है। यह शैली फारसी कवियों के वर्णन की रही है। (२) अलंकार– रूपक, हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा।

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं।
बिनु सेंदुर अस जानहुँ दिया। उजिअर पंथ रैनि मह किया।
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी।
सुरुज किरिनि जस गगन बिसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी।
खाँडै धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा।
तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती। जमुना माँझ गाँग कै सोती।
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू।
कनक दुआदस बानि होइ चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत औ तरई उभै गगन निसि गाँग।।२।।

शब्दार्थ– दिया = दीपक। करवत = काशा में मरने को करवत कहते हैं। गाँग = गंगा। सोती = स्रोत। तपा = तपस्वी। मकु = सम्भव।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अंश में जायसी ने पद्मावती की मांग के सौन्दर्य का अनूठा वर्णन किया है।

व्याख्या– तोते ने राजा से कहा कि हे राजन! बालों के वर्णन के उपरान्त अब मैं उसकी माँग का सौन्दर्य आपको बतलाता हूँ। उसकी मांग में अभी सिन्दूर नहीं भरा है, वह अभी तक अविवाहित ही है। सिन्दूर से रहित उसकी माँग इस प्रकार प्रतीत होती है मानो दीपक का प्रकाश हो, या सघन मेघों में बिजली प्रकाशित हो गई अथवा यमुना की नीले रंग की धारा में त्रिवेणी की धारा रक्त से सनी हुई है या किसी ने करवत को उठा कर वेणी पर रख दिया हो। उसकी मांग में जो मोती गुंथे हुए हैं वे यमुना नदी में गंगा की धारा की भाँति शोभा पा रहे हैं। तपस्वी मृत्यु के इच्छुक होने पर जिस आरे को धारण करते हैं सम्भवतः वह इसीलिए धारण करते होंगे कि उस रुधिर से पद्मावती अपनी माँग में सिंदूर भरे। शुद्ध सोना बनने के लिए यह माँग सुहागे की माँग करती है। आकाश के समस्त नक्षत्र उसके सेवा करने वाले अर्थात उसकी सेवा को द्विगुणित करने वाले हैं क्योंकि उनके साथ मिलकर यह मांग आकाश गंगा की भाँति शोभित होती है।

विशेष– (१) कवि ने समस्त पद को अलंकृत ढंग से लिखा है। उपमाओं की तो यहाँ झड़ी–सी ही लगा दी है। (२) उपमा उत्प्रेक्षा एवं श्लेष अलंकार।

कहौं लिलाट दुइजि कै जोती। दुइजिहि जोति कहाँ जग ओती।
सहस कराँ जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई।
का सरबरि तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू।
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा।
तेहि लिलाट पर तिलक बईठा। दुइजि पाट जानहुँ धुव डीठा।
कनक पाट जनु बैठेउ राजा। सबै सिंगार अत्र लै साजा।

ओहि आगें थिर रहै न कोऊ। दहुँ काकह अस जुरा सँजोऊ।
खरग धनुक और चक्र बान दइ जग मारन तिन्ह नाउँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै राजा मो कहँ भए एक ठाउँ।।३।।

शब्दार्थ— सरबरि = बराबरी। मयंकू = शशी। पाट = आसन। डीठा = देखा। संजोऊ = साज। दहुं = पता नहीं। ओती = उतनी।

सन्दर्भ— प्रस्तुत प्रसंग में जायसी ने पद्मावती के मस्तक पर सुशोभित तिलक का वर्णन अद्वितीय ढंग से कर रहे हैं।

व्याख्या— तोते ने माँग का वर्णन करने के उपरांत पद्मावती के माथे का वर्णन करना आरम्भ किया। उसका मस्तक दूज के चाँद की भाँति है या उससे भी कहीं अधिक मस्तक की शोभा है। सहस्रों किरणों से युक्त सूर्य भी उसके ललाट को देखकर भय से छिप जाता है तो फिर चन्द्रमा का तो कहना ही क्या? उसके मस्तक पर किसी भी प्रकार कलंक का चिन्ह नहीं और चाँद कलंक–युक्त है। इसलिए वह पद्मावती की समता क्या कर सकता है? चन्द्रमा को तो सदैव राहु का भय रहता है कि कहीं राहु आकर उसे ग्रस न ले, जब कि इस मस्तक को किसी प्रकार का भय नहीं। उसके मस्तक पर लगी बिन्दी इस प्रकार प्रतीत होती है मानो दूज के चाँद रूपी आसन पर ध्रुव ही आकर बैठ गया हो अथवा किसी स्वर्ण–मंडित चौके पर आभूषणों आदि से युक्त कोई राजा ही बैठा हो। उसके मस्तक के आगे कोई स्थिर होकर नहीं बैठ सकता। न मालूम यह युद्ध की तैयारी किसके लिए हुई है। राजा ने तोते की इन बातों का उत्तर देते हुए कहा— नासिका रूपी खड्ग, नेत्र रूपी दो कटाक्ष ही बाण हैं। पुतलियाँ रूपी चक्र ये सभी संसार का संहार करने के लिए प्रसिद्ध हैं। यह सब सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया कि मेरे मारने के लिए ये सब तैयार होकर बैठे हैं।

विशेष— व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

भौंहें स्याम धनुकु जनु ताना। जासौं हेर मार बिख बाना।
उहै धनुक उन्ह भौहन्ह चढ़ा। केइ हतियार काल अस गढ़ा।
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा।
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा।
उहै धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहीं सहस्सर बाहू।
उहै धनुक मैं ओपहँ चीन्हा। धानूक आपु बेझ जग कीन्हा।
उन्ह भौंहन्हि सरि केउ न जीता। आछरिं छपीं छपीं गोपीता।
भौंह धनुक धनि धानुक दोसर सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगवै लाजह सो छपि जाइ।।४।।

शब्दार्थ— हतियार = हत्यारा। किरसुन = कृष्ण। राघौ = राम। ओपहँ = उस पर। धानुक = धनुर्धर।

सन्दर्भ— इस पद्य में हीरामन तोता रानी पद्मावती की भौंहों को अनुपयेय की संज्ञा देता हुआ कह रहा है।

व्याख्या— अब उस तोते ने पद्मावती की भौंहों का वर्णन करना आरम्भ किया।

उस राजकुमारी की काली--काली भौंहे तने हुए धनुष की भाँति प्रतीत होती थीं। वह जिस तरफ देख लेती है वह बाण के समान प्रतीत होती है। विष भरा धनुष उसकी भौंहों के रूप में तना हुआ है। न मालूम किस हत्यारे ने काल के सामने इन भौंहों को निर्मित किया है? यही धनुष कृष्ण और राम ने भी कंस और रावण को मारने के लिए धारण किया था। इसी धनुष के माध्यम से अर्जुन ने द्रोपदी के स्वयंवर के अवसर पर मत्स्य–वेध किया था और इसी के द्वारा परशुराम ने सहस्रबाहु को मारा था। यही धनुष पद्‌मावती के पास है। मैंने पूर्णतः पहचान लिया है। उसी ने समस्त संसार को अपना लक्ष्य बनाया है। उन भौंहों की समता कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता। उन भौंहों से लज्जित होकर स्वर्ग–लोक की अप्सरायें भी कहीं न कहीं जाकर छिप गई हैं। वृन्दावन--निवासिनी गोपियाँ भी इन भौंहों के समक्ष हार कर छिप ही गई हैं। इस प्रकार उस राजकुमारी की भौंहों की समता संसार में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। आकाश में निकला इन्द्रधनुष भी लज्जित होकर फिर आकाश में ही छिप जाता है।

विशेष– उपमा अलंकार।

नैन बाँक सरि पूज न कोऊ। मान समुँद अस उलथहिं दोऊ।
राते कवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माँति चहहिं उपसवाँ।
उठहिं तुरंग लेंहिं नहिं बागा। चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा।
पवन झकोरहिं देहिं हलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ लहोरा।
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार चाह पल माहाँ।
जबहिं फिराव गँगन गहि बोरा। अस वै भवर चक्र के जोरा।
समुद हिंडोर करहिं जनू झूले। खंजन लुरहिं मिरिग जनु भूले।
सुभर समुँद अस नैन दुइ मानिक भरे तरंग।
आवत तीर जाहिं फिरि काल भवर तेन्ह संग।।५।।

शब्दार्थ– भँवा = चक्कर। माँति = मतवाले होकर। उपसवाँ = उड़कर। बाँगा = बागडोर। अड़ार = राशि। जोरा = जोड़ा। सुभर = लहरों से भरा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत प्रसंग में हीरामन तोता नागमती के नेत्रों के व्यापक प्रभाव का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या– तोता कहने लगा कि पद्मावती के नेत्र इतने सुन्दर हैं कि उनकी समता कोई भी नहीं कर सकता। मान की भावना दोनों ही नेत्रों में उमड़ी पड़ती है। उसके नेत्र लाल रंग से रंगे हैं, उनमें काली पुतलियाँ ठीक उसी प्रकार प्रतीत होती हैं कि मानो भौंरे लाल कमल पर मंडरा रहे हों। लगता है मानो उसकी सुगंध से आकर्षित होकर वे पहले मंडरा रहे हों और उसका पान कर उड़ जाना चाहते हों। इसके अतिरिक्त उन नेत्रों की उपमा उन मुँहजोर घोड़ों से भी दी जा सकती है जो किसी का कहना न मानकर उल्टे होकर आकाश को छू लेना चाहते हैं। वे पवन को पूर्ण रूप से झकझोर कर पानी में हिलोर पैदा कर देते हैं। इस प्रकार आकाश को पृथ्वी पर उतार कर पुनः लौटा देते हैं। इस प्रकार उसके नेत्रों में चंचलता विद्यमान है। उनके चंचल हो जाने से सारा संसार ही चंचल हो जाता है। एक पल के अन्दर ही वे भरे–भराये भंडार को पल्ट देना चाहते हैं। जब राजकुमारी अपने नेत्रों के द्वारा इधर–उधर देखती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि

मानो वह आकाश को अतल में डुबो देगी। ऐसा उग्र पुतलियों का जोड़ा उसके नेत्रों में विद्यमान है। जब वे नेत्र घुमाये जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे समुद्र के हिंडोले पर झुलाये जा रहे हों, या खंजन पक्षी एक दूसरे से क्रीड़ा करने में व्यस्त हों। इसी प्रकार वे नेत्र ऐसे प्रतीत होते हैं मानो भूले हुए मृग के जोड़े हों। उसके दोनों नेत्र जल से भरे होने के कारण समुद्र के समान प्रतीत होते हैं। उसकी लहरें किनारे तक आती हैं और टकराके चली जाती है।

विशेष– अलंकार– उपमा और उत्प्रेक्षा।

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी।
जुरी राम रावन कै सेना। बीच समुँद भए दुइ नैना।
बारहिं पार बनावरि साँधी। जासौं हेर लाग बिख बाँधी।
उन्ह बानन्ह अस को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा।
गँगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी।
रोबँ रोबँ मानुस तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधिन्न तन काढ़े।
बरुनि बान सब ओपहँ बेधे रन बन ठंख।
सउजाह तन सब रोवाँ पंखिन्ह तन सब पंख।।६।।

शब्दार्थ– जानु = मानो। अनीं = सेना। बनावरि = वाणावली। रन = बन। सउजन्ह = जानवरों के। सोतहिं सोत = रोमकूप।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश में हीरामन तोता रत्नसेन से पद्मावती की बरौनियों के सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या– तोते ने कहा कि हे राजन्! उसकी बरोनियाँ तो इतनी अधिक सुन्दर हैं कि उनका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वे तो ठीक उसी प्रकार प्रतीत होती हैं मानो दो सेनायें आमने–सामने बाण ताने खड़ी हों। लगता है कि वे दो सेनायें राम और रावण की ही हों। उन्हीं के बीच में भरा हुआ समुद्र लहरा रहा है। वे दोनों से एक दूसरे की ओर बाणों का सन्धान करती हैं। वह राजकुमारी जिसकी ओर भी देख लेती है उसी को विष की मरोर सी लग जाती है। संसार के सभी लोग उसी के बाणों से बिंधे पड़े हैं। ये आकाश–कुसुम जो दिखाई दे रहे हैं, वह भी उसी के बाणों का चमत्कार है। आकाश ही क्या सारी पृथ्वी को ही उसके बाणों ने अपना लक्ष्य बना लिया है। वृक्ष की शाखायें भी खड़ी होकर उसी का प्रमाण देती हैं। मनुष्य के शरीर के रोमकूप भी उसी के बाणों के फलस्वरूप ही खड़े हैं। लगता है जैसे शरीर को बेधकर भीतर से बाहर निकल आये हों। इस प्रकार उसने अपने इन बरौनियों रूपी बाणों के द्वारा सभी वनखण्डों को बेध डाला है। सारे संसार के जानवरों के शरीर के रोंये और पक्षियों के शरीर के पंख सभी उसी के बाणों के कारण ही बने हैं।

विशेष– यहाँ कवि ने पद्मावती के सौन्दर्य को माध्यम बनाकर आध्यात्मिक संकेत भी दिया है। पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक है। उसी ब्रह्म के द्वारा ही संसार की सब वस्तुओं की रचना होती है। अलंकार–समासोक्ति है।

नासिक खरग देउँ केहि जोगू। खरग खीन ओहि बदन सँजोगू।
नासिक देखि लजानेउ सुआ। सूक आइ बेसरि होइ उआ।
सुआ सो पिअर हिरामनि लाजा। औरु भाउ का बरनौं राजा।
सुआ सो नाँक कटोर पँवारी। वह कोंवलि तिल पुहुप सँवारी।
पुहुप सुगंध करहिं सब आसा। मक हिरगाइ लेइ हम बासा।
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिवँ देखि सुआ मन लोभा।
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस को पाव को नाहीं।
देखि अमिअ रस अधरन्हि भएउ नासिका कीर।
पवन बास पहुँचावै अस रम छाँड़ न तीर।।७।।

शब्दार्थ– खीन = क्षीण। बदन = मुख। खरग = तलवार। बेसरि = नाक में पहनने का आभूषण। पिअर = पीला। कोंवलि = कोमल। मकु = कदाचित्। बासा = सुगन्ध। दारिवँ = दाड़िम। तीर = पास।

सन्दर्भ– इस प्रसंग में तोता हीरामन रत्नसेन के सामने पद्मावती की नासिका का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या– पछ्मावती की नासिका की तुलना खड्ग से भी नहीं की जा सकती। खड्ग उसकी बराबरी न करने के कारण ही क्षीण हो गया है। तोता भी उसकी नाक को देखकर लज्जित पड़ गया। शुक्र उसकी नाक का बेसरि बनकर प्रकाशित हो रहा है। हे राजा! मैं उसकी दशा का वर्णन किस भाँति करूँ? उसकी नाक तो अत्यधिक कोमल है जबकि तोते की नाक सुम्मी की भाँति कठोर होती है। पद्मावती की नाक का निर्माण तो फूलों के द्वारा हुआ है। सभी सुगन्धित फूलों को यह आशा लगी रहती है कि पद्मावती कब हमारी सुगन्धि का पान करेगी। इस नाक का स्थान अधर और दाँतों के ऊपर है। दाँतों और अधर की शोभा ठीक खिले हुए दाड़िम की भाँति लगती है, उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो नासिका रूपी तोता घात लगाए हुए उस दाड़िम को पाने के लिए बैठा हो। उस नासिका के दोनों ओर नेत्र रूपी दो खंजन क्रीड़ा करते हुए दिखाई पड़ते हैं, न जाने उस रस का आस्वादन कौन करेगा और कौन नहीं कर पायेगा। उसकी नासिका को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो होठों के अमृत रस को लेने के लिए तोता नासिका बन गया है। साँसों के आवागमन के द्वारा अधर की सुगन्धित वायु उस तक पहुंच जाती है। इस कारण यह उसका आस्वादन लेते हुए वहीं रम गया है, वहाँ से कहीं हटने का नाम ही नहीं लेता।

- **विशेष–** अलंकार– व्यतिरेक, हेतत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे।
फूल दुपहरी मानहुँ राता। फूल झरहिं जब जब कह बाता।
हीरा गहै सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजिआरा।
भए मँजीठ पानन्ह रंग लागें। कुसुम रंग थिर रहा न आगें।
अस कै अधर अमित भरि राखे। अबहिं अछत न काहूँ चाखे।
मुख तँबोल रँग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंबित बसा।

राता जगत देखि रँग धारहिं रसा। केहि मुख जोग सो अंब्रित बसा।
राता जगत देखि रँग राते। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाते।
अमिअ अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कँवल बिगासा को मधुकर रस लेइ।।८।।

शब्दार्थ– धारा = पानी। बिद्रुम = मूंगा। मँजीठ = मजीठ के समान लाल। रसा = जिह्वा। बिगासा = विकसित हुआ। मधुकर = भौंरा।

सन्दर्भ– इस पद्य के प्रसंग में जायसी पद्मावती के औष्ठों (होंठों) के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए थकते नहीं हैं और कह रहे हैं।

व्याख्या– तोते ने राजा को बताते हुए कहा कि हे राजन्! उस राजकन्या के लाल अधर अमृत–रस से सदैव भरे रहते हैं। बिम्बफल उनसे लज्जित होने के कारण ही वन का निवासी बन गया है। उसके होंठ दुपरिया के समान लाल रंग के हैं। उसके बातें करने के साथ ही साथ उसके मुख से फूल झड़ते जाते हैं। जब वह हँसती है तो उसके लाल मसूढ़े दिखाई देते हैं, उनमें लगे हुए दाँत इसी भाँति प्रतीत होते हैं मानो किसी ने मूंगों के अन्दर हीरे जड़कर रख दिये हों। जब वह मुस्कराती है तो सारा विश्व उससे प्रकाशित हो जाता है। उसके इस रंग के समक्ष कुसुम्मी की शोभा भी स्थिर नहीं रह सकी। उसके अधरों में तो अमृत भरा रहता है। अभी उसके अधरों का किसी ने रसपान नहीं किया। उसकी जीभ पान के रंग को धारण किए हुए है। न जाने अमृत से सिक्त उसके अधरों का पान अब कौन कर सकेगा। उसके होंठ सदैव लाल रहते हैं। जब वह हँसती है तो उसके होंठ सभी को प्रिय लगते हैं। सारा संसार ही उसकी इस लालिमा को देखकर लाल वर्ण का ही हो गया है। उसके अधर का रस हे राजन्! ऐसा है कि सभी उसके पान करने के इच्छुक बने हुए हैं, न जाने वह कमल रूप पद्मिनी किसके लिए निर्मित की गई है? न मालूम कब और कौन भ्रमर बनकर उसका पान करेगा?

विशेष– यहाँ तोता गुरु का प्रतीक है, वह साधक रत्नसेन को पद्मावती रूपी ब्रह्म की ओर आसक्त करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार यहाँ लौकिक अर्थ के साथ आध्यात्मिक अर्थ का भी उतना ही महत्व है। अलंकार– उत्प्रेक्षा।

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रँग स्याम गँभीरा।
जनु भादौं निसि दामिनि दीसी। चमकि उठी तसि भीनी बतीसी।
वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दीपहिं तो तेहि परिछाहीं।
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।
रबि ससि नखत दीन्हि ओहि जोति। रतन पदारथ मानिक मोंती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
दामिनी दमकि न सरबरि पूजा। पुनि वह जोति औरु को दूजा।
हँसत दसन तस चमके पाहन उठे झरक्कि।
दारिवँ सरि जो न कै सका फाटेड हिया दरक्कि।।६।।

शब्दार्थ– चौका = आगे के चार दाँत। दीसी = दिखाई पड़ी। भिनी = भिंदी हुई।

उपराहीं = ऊपर बढ़कर। पाहन = पत्थर। झरक्कि = झलक। दारिवँ = दाडिम। सरि = बराबरी। दरक्कि = फट जाना।

सन्दर्भ— प्रस्तुत छन्द में जायसी ने पद्मावती के दाँतों के सौन्दर्य एवं कान्ति का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन कर, फिर उनकी कान्ति से अलौकिक सत्ता के प्रकाश का संकेत देना चाहा है।

व्याख्या— अब तोते ने पद्मावती के दाँतों का वर्णन करना आरम्भ किया। उस पद्मावती के आगे के चार दाँत हीरे के समान हैं, इन्हीं दाँतों के बीच में मिस्सी का गहरा काला रंग भी विद्यमान है। इस प्रकार इस कालिमा के बीच में वे दाँत इस प्रकार सुशोभित होते हैं जैसे कि भादों की काली रात्रि में बिजली शोभित होती है। उसके दाँतों की शोभा हीरे की शोभा से कहीं अधिक है। हीरे की शोभा तो उस पद्मावती के दाँतों की शोभा का ही प्रतिबिम्ब है। जिस दिन पद्मावती के दाँतों का निर्माण विधि ने किया, उसी दिन से उस ज्योति के द्वारा अनेक ज्योतियों का निर्माण हुआ। इन्हीं के द्वारा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों आदि को ज्योति प्राप्त हुई। जहाँ–जहाँ और जब–जब वह मुस्कराई उसकी उस मुस्कराहट से चारों ओर वह ज्योति छिटक कर बिखर गई और सब ओर प्रतिभासित होने लगी। बिजली का प्रकाश भी उसकी समता नहीं कर सकता। इस ज्योति के समान संसार में कोई ज्योति नहीं है। उसके मुस्कराने से दाँतों की शोभा इतनी बढ़ गई है कि उससे पत्थर भी चमक उठे। अनार उस की बराबरी करने में असमर्थ रहा, इसलिए अपनी असमर्थता सहन न करने के कारण उसका हृदय भी फट गया।

विशेष— (१) इस दोहे में कवि ने आध्यात्मिक अर्थ की ओर भी इंगित किया है। उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब संसार की समस्त वस्तुओं में झलकता है। (२) अलंकार— उत्प्रेक्षा।

रसना कहौं जा कह रस बाता। अंब्रित वचन सुनत मन राता।
हरै सो सुर चात्रिक कोकिला। बीन बंसि बहु बैनु न मिला।
चात्रिक कोकिल रहहि जो नाहीं। सुनि वह बैन लाजि छपि जाहीं।
भरे पेम मधु बोलै बोला। सुनै सो माति घुर्मि कै डोला।
चतुर वेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहाँ।
एक एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह बरह्मा सिर धुना।
अमर भारथ पिंगल और गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता।
भावसती व्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान।
वेद भेद सै बात कह तस जनु लागहिं बान।।१०।।

शब्दार्थ— अंब्रित = अमृत। राता = अनुरक्त। सुर = स्वर। चात्रिक = चातक। माति = मतवाला। घुर्मि = घूमकर। भारथ = महाभारत। भावसती = ज्योतिष का ग्रन्थ।

सन्दर्भ— प्रस्तुत छन्द में जायसी ने पद्मावती की जिह्वा (जीभ) और उससे निकलने वाले अर्थ गाम्भीर्य पूर्ण शब्दों का वर्णन किया है।

व्याख्या— उसकी रसना में इतना मिठास है कि उसके बात करने पर रस का अनुभव होता है। उसके सुधामय वचनों को सुनकर मन प्रसन्न हो जाता है उसकी वाणी ने चातक और कोयल को भी मात दे दी। बीणा और वंशी के स्वर भी इसकी वाणी की

मिठास की समता नहीं कर सकते और वे लज्जित होकर छिप जाते हैं। वह जब वचन बोलती है तो वे अमृत से सने हुए होते हैं। जब वह बोलती है तो उसकी बोली सुनकर सभी मतवाले होकर गिर जाते हैं। चारों वेदों का अथाह ज्ञान उसमें भरा पड़ा है उसकी बात में अनेक अर्थ छिपे रहते है जिसके समझने में इन्द्र भी मोहित हो जाता है और ब्रह्मा भी हार कर बैठ जाता है। अमरकोष, महाभारत, पिंगल, छन्द और गीता सम्बन्धी शास्त्रार्थ में पंडित भी उससे जीत नहीं पाते। भास्वती, ज्योतिष, संस्कृत, व्याकरण, पिंगल, पुराण के पाठ करने में वह साक्षात् लक्ष्मी है। वह वेद के रहस्यों को जानती है। जब उनका उद्घाटन करती है तो सुनने वाले भी दंग रह जाते हैं।

विशेष– हेतूत्प्रेक्षा अलंकार।

पुनि बरनौं का सुरँग कपोला। एक नारंग के दुऔ अमोला।
पुहुप पंक रस अंब्रित साधे। केई ये सुरँग खिरोरा बाँधे।
तेहि कपोल बाएँ तिल परा। जेइँ तिल देख सो तिलतिल जरा।
जनू घुँघुची वह तिल करमुहाँ। बिरह बान साँधा सामुहां।
अगिनि बान तिल जानहुँ सूझा। एक कटाख लाख दुइ जूझा।
सो तिल काल मेंटि नहिं गएऊ। अब वह गाल काल जग भएऊ।
देखत नैन परी परिछाहीं। तेहतें रात स्याम उपराहीं।
सो तिल देखि कपोल पर गँगन रह ध्रुव गाड़ि।
खिनहि उठै खिन बूड़ै डोलै नहिं तिल छाँड़ि।।११।।

शब्दार्थ– पंकरस = पराग। सांधे = साने। घुंघची = गुंजा। करमुंहा = काले मुंह वाली। सांधा = सन्धान। सामुहा = सामने। उपराहीं = ऊपर। गाड़ि = गढ़ा हुआ। खिन = क्षण।

सन्दर्भ– प्रस्तुत प्रकरण में महाकवि जायसी ने पद्मावती के कपोलों (गालों) का और उस पर सुशोभित काले तिल का बड़ा ही अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से वर्णन किया है।

व्याख्या– अब तोता पद में पद्मावती के कपोलों के सौन्दर्य का वर्णन करता है। पद्मावती के दोनों होठ नारंगी के दो हिस्से प्रतीत होते हैं। दोनों कपोलों के बीच की लालिमा, पुष्प–रस से सनी कत्थे की टिकिया सी प्रतीत होती है। उसके कपोल के बायीं ओर एक तिल का निशान है। उस तिल का जो भी व्यक्ति दर्शन कर लेता है वह उससे लज्जित होकर तिल–तिल जलने लगता है। इसी तिल को देखकर घूंघची भी काली पड़ गई है। वह काला तिल विरह वाण के समान तना रहता है वह तिल साक्षात् अग्नि बाण के समान है। उसके एक–एक कटाक्ष पर अगणित व्यक्ति मर जाते हैं। वह काला तिल वहाँ से हटाया नहीं गया है, वहीं स्थिर है। उस को काल भी नहीं हटा सका इसलिये वह तिल–युक्त उसका कपोल सभी के लिये काल बना हुआ है। नेत्रों के द्वारा देखे जाने से इस तिल का प्रतिबिम्ब उनमें भी पड़ गया। इसी क़ारण नेत्र अन्दर से काले तथा बाहर से लाल दिखाई पड़ते हैं। उसके कपोल के तिल को देखकर ध्रुवतारा भी एक ही स्थान पर स्थिर होकर ठिठक गया है। वह और नक्षत्रों की भाँति वहाँ से हट नहीं जाता। कभी वह उदय हो जाता है, कभी छिप जाता है किन्तु अपने स्थान को बिल्कुल नहीं छोड़ता।

विशेष– अलंकार उपमा और उत्प्रेक्षा।

स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उँजिआरे।
मनि कुंडल चमकहिं अति लोने। जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने।
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ ध्रुव दुऔ खूँट बँसारे।
पहिरे खुँभी सिंघल दीपी। जानहुँ भरी कचपची सीपी।
खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा। काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा।
डरपहिं देव लोक सिंवाला। परै न बीज टूटि एहि कला।
करहिं नखत सब सेवा स्रवन दिपहिं अस दोउ।
चाँद सुरुज अस गहने औरु जगत का कोउ।।१२।।

शब्दार्थ– लौकहिं = चमकती है। कौंधा = बिजली। खूंट = कान का गहना। बारे = जलाये। खुम्भी = कान का गहना। कचपची = वृत्ति का नक्षत्र।

सन्दर्भ– प्रयुक्त पद्य में कवि ने पद्मावती के श्रवणों (कानों) का और उनमें सुशोभित हो रहे गहनों (आभूषणों) का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रांकन किया है।

व्याख्या– तोते ने आगे कान का वर्णन करते हुए राजा से कहा कि उसके दोनों कान सीपियों के सदृश हैं। उनमें पहने हुए दो कुंडल चमकते ऐसे प्रतीत होते हैं। मानो बिजलियाँ चमक रहीं हों। उन चाँद–सूरज की भाँति चमकते हुए कुंडलों की ओर देखा ही नहीं जाता। वे चुन्न रूपी नक्षत्रों से जुड़े हुए हैं। इस कारण उनकी ओर देखा ही नहीं जाता। उसी के ठीक ऊपर दो खूंट रूपी दीपक जल रहे हैं मानों दोनों किनारों पर दो ध्रुव तारे बिठा दिये गये हों उस कुमारी ने सिंहलद्वीप की बनी हुई खुंभी पहन रखी है। वह पहनी हुई ऐसी प्रतीत होती है जैसे कचपचिया नक्षत्रों से भरी हुई सीपी हो। जब वह अपने आँचल से सिर को ढकती है तो कुंडलों के हिलने से बिजली चमक जाती है। सिंहलगढ़ के देवता भी उससे डरते हैं कि कहीं बिजली टूटकर न गिर पड़े। उसके दोनों कानों में जड़ाऊ नक्षत्र शोभायमान ऐसे प्रतीत होते हैं मानो सब नक्षत्र उनकी सेवा कर रहे हों। चन्द्रमा और सूर्य तो उसके आभूषण हैं तो फिर औरों का तो कहना ही क्या।

विशेष– उपरोक्त समस्त पद्य में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों की अनुपम छटा बिखेरी गई है। जो पाठकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित किये हुए हैं।



3

सूरदास

विनय तथा भक्ति

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगें मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन जाति जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै।।1।।

शब्दार्थ– अबिगत = अज्ञात, अनिर्वचनीय। गति = स्थिति। अंतरगत ही = हृदय में ही। परम स्वाद = अलौकिक आनन्द। अमित तोष = अपरिमित संतोष। अगम = जहाँ जाया न जा सके। अगोचर = इन्द्रियाँ जिसका अनुभव न कर सकें। निरालंब = बिना अवलम्ब (सहारा) के।

सन्दर्भ–प्रस्तुत पद सूर के विनय के पदों से उद्धृत है। इस पर में सूरदास निर्गुण ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हुए सगुण ब्रह्म की सार्थकता की ओर संकेतित करते हैं।

व्याख्या– [भगवान् के] अव्यक्त (निर्गुणस्वरूप) की कुछ रीति कही नहीं जा सकती। जैसे गूँगे को मीठे फल का स्वाद मन–ही–मन अच्छा लगता है, वैसे ही निर्णय ब्रह्म की प्राप्ति का आनन्द भी अत्यन्त उच्चकोटि का है तथा निरन्तर असीम सन्तोष प्रदान करने वाला है। [निर्गुण ब्रह्म] मन वाणी के द्वारा दुर्बोध एवं अग्राह्य है तथा इन्द्रियातीत है, जो उसे प्राप्त कर लेता है वही उसे जान पाता है (उससे उत्पन्न आनन्द तथा ज्ञान की अनुभूति मनुष्य अभिव्यक्त नहीं कर सकता।) [निर्गुण ब्रह्म] रूप, आकार, गुण, जाति तथा तर्क से रहित (अव्यपदेश्य) है। इस प्रकार निरवलम्ब होकर [मन निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में] कहाँ दौड़े ? अतः (निर्गुण ब्रह्म) को विचार की दृष्टि से सब प्रकार से पहुँच के बाहर (अगम) जानकर सूर अपने पदों में (ब्रह्म के) सगुण रूप का गायन कर रहा है।

विशेष– सूरदास जी ने सगुण ब्रहम की उपासना को सर्वोपरि बताया है।

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं, कै हमहीं माधौ, अपने भरोसैं लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िनि कौ, पतितै है निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौं, बिरद दिन करिहौं।

कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै प्रभु, जब हँसि दैहो बीरा।।२।।

शब्दार्थ— टरिहौं = भगाऊँगा, हटाऊँगा। लरिहौं = लड़ाई करूँगा। निस्तरिहौं = पार जाऊँगा, मुक्त होऊँगा। उघरि नच्यौ चाहत हौं = लोकलाज की परवाह न करके मनमानी करना चाहता हूँ। बिरद = यश, कीर्ति। बीरा = वह फूल–फल जो देव–प्रसाद रूप में भक्तों को दिया जाता है।

सन्दर्भ— पूर्ववत् पद के समान रहेगा।

व्याख्या— [हे प्रभु] आज मैं यह निपटारा करके ही मानूँगा कि [हम दोनों में] किसकी जीत होती है। मैं अपने [पातित्य के] भरोसे मुकाबिला करूँगा, [और] हे माधव या तो मैं ही [पतित] रह जाउंगा, या तुम ही [पतित–पावन] रह जाओगे। मैं तो सात पीढ़ियों का (खानदानी) पतित हूँ [और] पतित रहकर ही [आप द्वारा भव–सागर से] उद्धार पाउंगा (निस्तरिहौं) अब मैं निरावरण होकर (निर्लज्ज होकर) नाचना चाहता हूँ [जिससे] तुम्हें विरुद्ध, अर्थात् पतित–पावनता की कीर्ति से विहीन, कर दूँगा। हे हरि [मेरा उद्धार न करके भक्त–समाज में व्याप्त] अपना विश्वास क्यों नष्ट कर रहे हो ? मैंने तो [तुम्हारी पतित–पावनता में वज्रवत् सुदृढ़, न टूटने वाला, विश्वास रूपी] हीरा पा लिया है। हे प्रभु यह पतित सूर तभी उठेगा जब हँसकर उसे बीड़ा देंगे अर्थात् प्रसन्न होकर उसे अपनी सेवा में ले लेंगे।

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तुष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेटा बाँहयौं, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहिं काल।
सूरदस की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल।।३।।

शब्दार्थ— नाच्यो = भ्रमित हुआ हूँ। असंगत = बुरी। कटि = कमर। कोटिक = करोड़ों। सुधि = स्मरण।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पद सूर संचयन के विनय कि पदों से अवतरित है। इस पद में सूरदास जी ने विषय वासनाओं से ग्रसित मानव की दशा का वर्णन किया है। इस पद में रूपक अलंकार द्वारा कवि की कल्पना का सजीव चित्र अंकित किया गया है।

व्याख्या— हे गोपाल [माया के वश में होकर] मैं बहुत नाच चुका। [नृत्य के साज के रूप में] मैने काम तथा क्रोध का जामा तथा कंठ में विषय वासनाओं की माला पहन रखी है। [मेरी इस गति से] महामोह के नूपुर बजते हैं [जिनसे] निन्दा का रसीला शब्द निकलता है (जो माया से भ्रमित होने के कारण आनन्दप्रद जान पड़ते हैं) भ्रम रूपी भौयन (आटा जो पखावज पर ध्वनि में ठनक उत्पन्न करने के लिए लगाया जाता है) से युक्त मन रूपी पखावज (मृदंग) से शरीर के अन्दर तृष्णा रूपी नाद उत्पन्न होता है, जिसके

विविध प्रकार के तालों पर बेमेल (विसंगत) गति से नाचता रहा हूँ। मैंने कमर में माया रूपी फेंट बाँध लिया है तथा मस्तक पर लोभ का तिलक दे रखा है। [इस प्रकार माया के वशीभूत होकर] मैंने जल तथा स्थल में स्मरणातीत काल से करोड़ों [प्राणियों के] रूप धारण कर (बहुरूपिये के समान कितनी) कलाएँ दिखाई है। हे नन्दलाल, [इस–कौशल प्रदर्शन पर प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरूप] सूरदास की सारी अविद्या को दूर कर दीजिये अर्थात् उसे माया–मुक्तकर दीजिए।

विशेष– (१) अलंकार– सांगरुपक। (२) रस– भक्तिरस।

तजौ मन, हरि बिमुखानि कौ संग।
जिनकैं संग कुमति उपजति है, परत भजन में भंग।
कहा होत पय पान कराऐं, विष नहिं तजत भुजंग।
कागहिं कहा कपूर चुगाऐं, स्वान न्हवाऐं गंग।
खर कौं कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन-अंग।
गज कौं कहा सति अन्हवायें, बहुरि धरे वह ढंग।
पाहन पतित बान नहिं बेधत, रीतौ करत निषंग।
सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग।।४।।

शब्दार्थ– तजौ = छोड़ दो। विमुखानि = जो हरि से पृथक करते हैं। कुमति = दुर्बुद्धि। भंग = बाधा। पय = दूध। भुजंग = सर्प। कागहि = कौआ। स्वान = कुत्ता। अरगजा = चंदनादि। सरति = नदि। पाहन = पत्थर। रीतौ = खाली। कमरि = कमली। रीति = खाली। पाट्टन = पत्थर।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद सूरसागर के प्रथम स्कन्ध से अवतरित है। इसमें महाकवि सूर ने कुबुद्धि पर विजय प्राप्त करने के लिये कहा है। मन की चंचलता ही भक्त को प्रभु से पृथक कर देती है।

व्याख्या– हे मन, असन्तों (दुष्टों) का साथ छोड़ दो। उनके साथ [रहने से] दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है तथा भगवान् के भजन में बाधा पड़ती है। [तुम्हारा यह सोचना कि उन्हें अपने भजन–भाव, सदुपदेश आदि द्वारा प्रभावित कर सकोगे, निष्फल है] सॉप को दूध पिलाने से क्या लाभ ? इससै वह अपना विष नहीं छोड़ता। कौवे को कपूर चुगाने और कुत्ते को गंगा में नहलाने से क्या [लाभ] होता है ? (वे पुनः अभक्ष्य–भक्षण करते हैं)। गधे को सुगन्धित लेप करने से तथा बन्दर के अंगों में आभूषण पहनाने से क्या लाभ होता है ? हाथी को नदी में नहलाने से क्या होता है, वह पुन। अपना वही (अपने शरीर पर धूल डालने का) ढंग अपनाता है। पतित रूपी पत्थर सदुपदेश रूपी बाणों से विद्ध (प्रभावित) नहीं हो सकता, उसे विद्ध करने की चेष्टा में व्यर्थ ही तरकश खाली होता है (बाणों की बरबादी होती है)। सूरदास कहते हैं कि काले कम्बल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। [इसी प्रकार दृष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों पर भी अच्छी बातों का प्रभाव नहीं पड़ता, अतः उनका परित्याग कर देना चाहिये]।

विशेष– (१) अलंकार– अनुप्रास (२) पद की अन्तिम पंक्ति श्रेष्ठ सूक्ति वाक्य है। (३) भावसाम्य।

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सागर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग-मुक्ति-मुक्ताफल, सुऔत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस छीलर, वा समुद्र की आस।।५।।

शब्दार्थ– चकई = आत्मा। निसा = रान। सुहात = सुगंध।

सन्दर्भ– अध्यात्मिक विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए इस पद का विशेष रूप से महत्व है। इस पद पर नाथ पंथियों सिद्ध साधक सन्तों की शैली का भी प्रभाव है। इसमें आत्मा को सम्बोधित करते हुए प्रभु के चरणों तक पहुँचाने का मार्ग इंगित किया गया है।

व्याख्या– हे बुद्धि रूपी चकवी, भगवान् के चरण रूपी सरोवर को चलो जहाँ प्रेम में वियोग (का दुःख) नहीं सहना पड़ता। जहाँ पर मिथ्या ज्ञान [भ्रम] रूपी रात्रि कभी नहीं होती वही अपार जल–राशि (सागर) के सुख [के लिए] योग्य [स्थान] है, जहाँ सनकादि तथा शिव रूपी हंस, मुनि रूपी मीन [सदा बिहार करते हैं] और भगवान के नख रूपी सूर्य–बिम्ब का सदा प्रकाश रहता है। (कभी रात नहीं होती, एक क्षण [के लिए भी तुम्हें विरह का सन्ताप देने वाली] चन्द्रमा युक्त रात्रि का भय नहीं रहता, [सदा] कमल खिलते हैं, और उनकी सुगन्ध से मत्त निगम वेद रूपी भ्रमर गुंजार करते हैं (वेद ध्वनि होती रहती है), जिस सरोवर में सुन्दर मुक्ति रूपी मोती प्राप्त होता है, और [इस सरोवर तक जाने के भ्रम के] पारितोषिक रूप अमृत रस का पान करो। हे दुर्बुद्धि रूपी पक्षी ऐसे सरोवर का परित्याग कर यहाँ रह कर क्या कर रहे हो ? सूरदास कहते हैं कि [उस सरोवर में] भगवान् के दास शोभा पाते, और लक्ष्मी सहित भगवान् की नित्य लीला में मग्न रहते हैं। अब मुझे उस [अगाध अपार] जलाशय की आशा में यह विषय वासनाओं वाली छिछली तलैया नहीं सुहाती।

गोकुल लीला

सोभा सिंधु न अन्त रही।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति वही री।
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत विधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री।
जसुमति-उदर-अगाध-उदधि तैं, उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूरश्याम प्रभु इंद्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री।।६।।

शब्दार्थ– पूरि = करके। बीथिनि = गलियों में। मुख सहसहुँ = सहस्र मुख वाले शेषनाग भी। उर लाइ = हृदय से लगा कर। गही = ग्रहण कर लिया।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश में महाकवि सूरदास जी ने कृष्ण के रुपसागर की अनन्तता का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है।

व्याख्या– एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखि श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव से उत्पन्न शोभा के सागर का कोई अन्त नहीं रहा। नन्द के भवन को तृप्त करके उमंग में आकर वह (शोभा) ब्रज की गलियों में बह रही है। आज मैंने घर–घर जाकर दही बेचते समय (गोकुल में इस अपूर्व शोभा) को देखा। मै उसका (शोभा का) वर्णन किस प्रकार अनेक प्रकार से करूँ। हजारों मुखों से भी प्रशंसा करने पर उसका (उस शोभा के वर्णन का) निर्वाह नहीं किया जा सकता। ऐसा सभी ने कहा कि (वह शोभा) यशोदा के उदररूपी अगाध समुद्र से उत्पन्न हुई है। **सूरदास** कहते हैं कि इन्द्रनीलमणि के समान भगवान् को ब्रजांगनाओं ने हृदय से लगा कर पकड़ रखा है।

विशेष– (१) अलंकार– सांगरुपक तथा परिकर।

(२) कृष्ण की बाल रुप की अलौकिक तथा सर्वव्यापी छवि की झांकी प्रस्तुत की गई है।

(३) रस– श्रृंगार रस।

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिये।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ बज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए।।७।।

शब्दार्थ– नवनीत = माखन, कर = हाथ, रेतू = धूल, कपोल = गाल, लोल चंचल = गोरोयन चमरी गाय के मस्तक से प्राप्त सुगन्धित द्रव्य, लट = अलक, मधुप = भ्रमर, गन = समूह, कठुला = कंठ में धारण किया जाने वाला आभूषण, केहरि नख = व्याघ्र का नाखून।

संदर्भ– प्रस्तुत पद्य महाकवि सूरदास कृत 'सूरसागर' से अवतरित है जिसमें बालकृष्ण की क्रीड़ा का स्वाभाविक चित्रण करते हुए सूर ने उसमें अपनी सहभागिता का वर्णन किया है।

व्याख्या– (भगवान् कृष्ण) हाथ में माखन लिये हुए सुशोभित हो रहे हैं। धूल धूसरित शरीर तथा मुख में दधि लपेट कर वे घुटनों के बल चल रहे हैं उनके कपोल सुन्दर हैं, नेत्र चंचल हैं तथा वे गोरोचन का तिलक दिये हैं। उनके लटों की लटकन ऐसी प्रतीत होती है मानो उन्मत्त भ्रमरों का समूह मादक मधु का पान कर (के झूम) रहा हो। उनके कण्ठ में कठुला और हृदय पर सिंह का वज नाखून (अथवा सिंह नख और मणि) सुशोभित हो रहा है (रहे हों)। **सूरदास** कहते हैं कि इस सुख में एक पल का जीवन भी धन्य है। सैकड़ों कल्प (जीवन) जीने से क्या लाभ ?

विशेष– (१) कृष्ण के बाल सुलभ कौतुक का अद्वितीय रुपांकन किया गया है।

(२) अलंकार– अनुप्रास उत्प्रेक्षा, रुपकातिशयोक्ति।

(३) रस– वात्सल्य रस।

वृन्दावन लीला

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहैं, जमुनाजल न बहत।
खग मोहैं, मृग-जूथ भुलाहीं, निरखि मदन-छवि छरत।
पसु मोहैं सुरभौ विथकित, तृन दंतनि टेकि रहत।
सुक सनकादि सकल मुनि मोहैं, ध्यान न तनक गहत।
सूरजदास भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत।।८।।

शब्दार्थ– बिथकित = जो चकित या मुग्ध होकर स्तब्ध जाय।

प्रसंग एवं सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने कृष्ण की मुरली की ध्वनि के अलौकिक प्रभाव का वर्णन किया है।

व्याख्या– ज़ब कृष्ण बाँसुरी ओठ पर धरते हैं तब न चलने वाले चलने लगते हैं और चलने वाले स्थिर हो जाते हैं। पवन शिथिल (थका हुआ) रह जाता है। यमुना के पानी का बहना बन्द हो जाता है। पक्षी मोहित हो जाते हैं। (इसे) देखकर कामदेव की छवि अपहृत (क्षीण) हो जाती है। पशु मोह जाते हैं। गायें विशेष रूप से थकित होकर तृण को दाँतों से पकड़े रहे जाती हैं। शुकदेव, सनक, आदि मुनि मोह में पड़ जाते हैं और तनिक भी ध्यान नहीं धर पाते। सूरदास कहते हैं कि वे भाग्यवान हैं जो इस सुख को पाते हैं।

विशेष– (१) अलंकार– विरोधाभास तथा अतिशयोक्ति।
(२) रस– अद्भुत रस।

मानो माई घन घन अंतर, दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, शोभित हरि-ब्रज भामिनि।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद-सुहाई-जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप-राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सौं, मुदित भईं गुन ग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुंदर घन, आनंद मन बिस्रामिनि।
खंजन-मीन-मयूर-हंस-पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।
को गति गनै सूर मोहन सँग, काम बिमोह्यौ कामिनि।।९।।

शब्दार्थ– घन–धन = बादल। अन्तर = अन्दर। दामिनी = बिजली। अभिरामिनी = सुन्दर। पुलिन = तट।

सन्दर्भ– भगवान कृष्ण तथा राधिका जी रासलीला में निमग्न हैं।सूरदास जी उस समय का वर्णन करते हैं।

व्याख्या– मानो बादल के बीच बिजली और बिजली के बीच बादल हो, इसी

प्रकार कृष्ण ब्रज की स्त्रियों के बीच शोभा देते हैं। यमुना का किनारा, मनोहर मल्लिका, शरद की सुहावनी रात, सुन्दर चन्द्रमा एवं गुणरूप तथा प्रेम की राशि और अंग अंग को आनंद देने वाली गोपियों ने कृष्ण के साथ रास रचाया और इससे गुण के समूहों से युक्त युवतियाँ प्रसन्न हो गयीं। रूप के निधान अत्यन्त सुन्दर कृष्ण के मन को (गोपियाँ) आनंद एवं विश्राम देने वाली हैं। खंजन, मछली, मोर, हंस, कोयल इन उपमानों को भुलाकर इस समय गोपियाँ गज गामिनी हैं। सूरदास कहते हैं कि मोहन के साथ होने वाली गति को कौन गिन सकता है ? कामिनियों को कामदेव ने मोहित कर लिया।

उपमा हरि-तनु देखि लजानी।
कोउ जल मैं, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी।
मुख निरखत ससि गयौ अम्बर कौं, तड़ित दसन-छवि हेरि।
मीन कमल कर-चरन नयन डर, जल मैं किसी बसेरि।
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिबरन पैठे धाइ।
कटि निरखत केहिर डर मान्यौं, बन-बन रहे दुराइ।
गारी देहिं कबिनि कैं बरनत, श्री-अँग पटतर देत।
सूरदास हमकों सरमावत, नाउँ हमारौ लेत।।१०।।

शब्दार्थ– अम्बर = आकाश। बिवरन = बिलों में। पटतर = समता।,

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में सूरदास जी कृष्ण का सौन्दर्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य की उपमा किसी भी वस्तु से नहीं दी जा सकती है।

व्याख्या– कृष्ण के शरीर को देखकर (सारी) उपमायें लजा गयीं। कोई जल में, कोई वन में, छिपी रहीं, कोई–कोई आकाश में समा गयीं। मुख को देखकर चन्द्रमा आकाश में चला गया और दाँतों को देखकर बिजली (आकाश में चली गयी) नेत्रों के डर से मीन, हाथ तथा चरणों के डर से कमलों ने पानी में जाकर बसेरा लिया। भुजा को देखकर सर्पों के राजा (शेषनाग) लजाकर बिल में जाकर बैठ गये। कमर को देखकर सिंह ने डर माना और वन–वन छिपता रहा। अंग शोभा की समता करते समय कवियों को (उपमान) गाली देते हैं। और वे कहते हैं कि हमारी चर्चा करके हमें (कविगण) लज्जित करते हैं।

विशेष– महाकवि सूर के कहने का आशय है कि कृष्ण के अंग–प्रत्यंग इतने सुन्दर हैं कि उनकी उपमा नहीं दी जा सकती है।

अँखियाँ हरि कै हाथ बिकानीं।
मृदु मुसुकानि मोल इनि लीन्ही, यह सुनि-सुनि पछितानी।।
कैसें रहति रहीं मेरौं बस, अब कछु औरै भाँति।
अब बै लाज मरितं मोंहिं देखत, बेठीं मिलि हरि-पाँति।।
सपने की सी मिलनि करति हैं, कब आवतिं कब जातिं।
सूर मिलीं ढरि नंद-नंदन कौं, अनत नहीं पतियातिं।।११।।

शब्दार्थ– बिकानी = बिक गई। औरै भाँति = अन्य प्रकार से। ढरि = उमंग सहित। अनत = अन्यत्र। पतियाति = विश्वास करती है।

प्रसंग– कृष्ण के रूप–माधुर्य से मुग्ध होकर सखी के नेत्र बिक से गये। उसी प्रसंग को लेकर वह दूसरी सखी से कहती है।

व्याख्या– हे सखी! मेरे ये नेत्र तो कृष्ण के हाथ बिक गये हैं। इस विक्रय में कृष्ण की मुस्कान ही मूल्य के रूप में मिली है, इससे गोपी को पश्चाताप हुआ क्योंकि मूल्य बहुत कम मिला और वह भी स्थायी नहीं रहा। अब ये आँखें मेरे बस में कैसे रह सकती हैं? मैं इन्हें किस अन्य ढंग से अपने पास रखूँ ? अब तो वे कृष्ण के ही निकट बैठती हैं और मुझे देखकर संकुचित होती हैं क्योंकि मैंने उन्हें बिना उसका उचित मूल्य लिये ही बेच दिया। ये नेत्र मेरे निकट तो स्वप्न की भाँति अल्प तथा अस्थायी रूप से आते हैं कि उनको किसी अन्य का विश्वास नहीं है, इसी कारण ये उमंग तथा आतुरता के साथ कृष्ण से जा मिली हैं।

विशेष– (१) अलंकार–गम्योत्प्रेक्षा– हरि कैं बिकानीं। (२) पुनरुक्ति– सुनि–सुनि। (३) गूढात्तर– पछितानी। (३) जब कोई प्राणी किसी वस्तु के किसी वस्तु के विशेष गुण पर मुग्ध हो जाता है तो वह बिक सा जाता है, यही दशा नेत्रों की श्याम के रूप को देखकर हो गई है। दृष्टि के ठहराने का कारण किसी वस्तु की सुन्दरता है, इसी कारण वे मार्ग में कहीं नहीं ठहरतीं, केवल कृष्ण के साथ रहना चाहती हैं। स्वप्न का मेल अस्थिर तथा क्षण–भंगुर होता है, इसी प्रकार नेत्रों का ठहराव अन्य वस्तुओं के साथ है। (४) जिस प्रकार कोई प्रेमी अपने ही प्रेमी का समीप्य चाहता है उसी प्रकार नेत्र अपने प्रियतम (श्रीकृष्ण) का सामीप्य चाहते हैं।

राधा–कृष्ण

चितवनि रोकै हूँ न रही।
स्याम सुंदर सिंधु-सनसुख, सरित उमँगि बही।
प्रेम-सलिल-प्रवाह भँवरनि, मिति, न कबहुँ लही।
लोभ-लहर-कटाच्छ, घुंघट-पट करार ढही।
थके पल पथि, नाव धीरज परति नहिँन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहिं, फेरिहू न चही।।१२।।

शब्दार्थ– मिति = मर्यादा, सीमा। करार = कगार, किनारा। फेरिहू न चही = लौटना (फिरना) नहीं चाहतीं।

सन्दर्भ– यहाँ पर सूरदास ने कृष्ण की रूप माधुरी के बरबस आकर्षण का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है।

व्याख्या– (गोपी की) दृष्टि रोकने पर भी न रुकी। श्याम सुन्दर रूपी समुद्र की ओर (दृष्टि रूपी) नदी उमगकर बह चली। प्रेम रूपी जल के प्रवाह की भँवरों (आँख की भौहों) (कृष्ण से) की गहराई का अनुमान कभी (सुख) नहीं मिला। (मिलन) के लोभ तथा (आँख की) कटाक्ष रूपी लहर से घूँघट रूपी किनारा ढह गया। पलक रूपी पथिक थक गये। धीरज की नाव सम्हाली नहीं जाती। सूरदास कहते है कि यह दृष्टि स्वभावतः कृष्ण में मिल गयी, फिर वापस हो कर भी नहीं देखा (मुड़कर भी नहीं देखा)।

विशेष– (१) अलंकार– विशेषोक्ति सांगरुपक, अतिशयोक्ति, स्वाभावोक्ति।
(२) रस– श्रृंगार रस।

मथुरा गमन

देखियत कालिंदी अति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भयी विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारु उपचार चूर, जल-पूर प्रस्बेद पनारी।
बिगलित कच कुस काँस कुल पर, पंक जू काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, निसि दिन दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास-प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।१३।।

शब्दार्थ– कालिंदी = यमुना नदी। जुर = ज्वर, ताप। जारी = जली हुई। प्रजंक = पर्यंक, शय्या। तरंग = लहरें। तलफ = तड़फन। उपचार = निदान। चूर = चूर्ण। बिलगित = शिथिल, बिखरे हुए। काजल = काली। सारी = साड़ी।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश में सूरदास जी ने कृष्ण के वियोग में काली पड़ गयी यमुना का वर्णन किया है।

व्याख्या– यमुना अत्यन्त काली दिखाई देती है। हे पथिक ! उस हरि से कहना कि (यमुना) विरह के ज्वर में जल गयी है। पर्वत रूपी पंलग से (यह) पृथ्वी पर गिरती है तथा उसके तन में तरंग रूपी भारी तड़पन होती है। तट की बालू का चूर्ण ही उपचार का चूर्ण है, (यमुना की) जल–धारा ही निकलने वाला पसीना है। तट पर (कीचड़) ही (काली) मैली साड़ी है। भौंरे भ्रमित होकर इधर–उधर फिरते रहते हैं। (यही यमुना की भ्रमित मन की दशा है) वह दुखी होकर इधर–उधर (घूमती है) दिवारात्रि चकई जो 'पी–पी' की रट लगाती रहती है, वह मानो उसकी अन्तर्व्यथा सूचित करती है (प्रियतम–प्रियतम की रट लगाने वाली मुद्रा घोषित कर रही हैं) सूरदास कहते हैं (गोपियाँ कहती हैं) कि जो यमुना की दशा है वैसी ही हमारी भी दशा हो गई है।

विशेष– (१) अलंकार– सांगरुपक, (२) वियोग श्रृंगार रस।

सखी इन नैननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे।
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेकं द्रुम डारे।
बिन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे।
दुरि दुरि बूँद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिय कीन्हीं, बिबि मूरति धरि न्यारे।

घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे।।१४।।

शब्दार्थ– ऊरध = ऊँचा, ऊपर का। परनकुटी = पत्तों से बनी कुटी। बिबि = दो।

सन्दर्भ– कवि ने इस पद्य के अन्तर्गत गोपियों के नेत्रों से निकलने वाले आँसुओं का अनेक अलंकारों के माध्यम से वर्णन किया है।

व्याख्या– सखी ! इन नेत्रों से बादल हार गये। ये बिना ऋतु के ही दिन–रात बरसते रहते हैं, दोनों तारे (पुतलियाँ) सदा मलिन रहते हैं। ऊर्ध्व साँस रूपी तेज वायु ने सुख रूपी अनेक वृक्षों को उखाड़ डाला। पावस के दुख के कारण वचन रूपी पक्षी मुख रूपी सदन में बस गये हैं। कंचुकी (चोली) पर अंजन से मिली हुई काली बूँदे आँखों से विलग होकर टपकती है। ऐसा लगता है मानो शिव ने दो अद्‌भुत मूर्तियाँ धारण करके पर्णकुटी बना ली हो। घुमड़–घुमड़ कर बरसते हुए बादल जल छोड़ते हैं, अँधरे में भय लगता है। सूरदास कहते हैं कि डूबते हुए ब्रज को प्यारे कृष्ण के बिना कौन बचाये?

विशेष– अलंकार– व्यातिरेक, विभावना, सांगचरुपक, तद्‌गुण, उत्प्रेक्षा, परिकरांकुर। वियोग श्रृंगार रस।

पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उबहित–जुन्हैया, डसि उलटि है जात।
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात।।१५।।

शब्दार्थ– उबति = उदय होती है। जुन्हैया = चन्द्रमा। मुरि मुरि = मुड़–मुड़ कर। शरीर को ऐंठ–ऐंठ कर।

सन्दर्भ– यहाँ पर कृष्ण के वियोग का वर्णन किया गया है।

व्याख्या– प्रिय (कृष्ण) के बिना काली रात नागिन के समान हो गयी है। यदि कहीं रात में ज्योत्सना उदित हो जाती है तो (यह रात) मानो डसकर उलटी हो जाती हे। यन्त्र स्फुरित (प्रभावकारी) नहीं होता, मन्त्र नहीं कारगर होता, प्रीति नष्ट होती जाती है। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के बिना विरहिणी मुड़–मुड़कर (साँप काटे व्यक्ति की भाँति) (विष की) लहरें लेती हैं।

विशेष– (१) अलंकार– सांगरुपक। (२) वियोग श्रृंगार रस। (३) प्रकृति का उद्‌दीपन रुप।

दूरि करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे, नाहिंन होत चंद्र कौ ढरिबौ।
बीतै जाहि सोई पै जानै, कठिन सु प्रेम पास कौ परिबौ।
प्राणनाथ संगहिं तैं बिछुरे, रहत न नैन नीर कौ झरिबौ।
सीतल चंद अगिन सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबौ।
सूर सु कमलनयन के बिछुरैं, झूठौ सब जतननि कौ करिबौ।।१६।।

शब्दार्थ– थक्यौ = रुक जाना। ढरिबौ = अस्त होना। पास = बन्धन। झरिबौ = झड़ना, गिरना।

सन्दर्भ– उपरोक्त पर १५ के समान होगा।

व्याख्या– वीणा का हाथ में धारण करना दूर करो (क्योंकि वीणा के सुन्दर नाद को सुनकर) चन्द्रमा का रथ थक गया, मानों (रथ के) मृग मोहित हो गये, (फलस्वरूप) चन्द्रमा अस्त होता ही नहीं। जिस पर (मुसीबत) पड़ती है वही जानता है, प्रेम पाश का पड़ना बहुत कठिन है (जो छुड़ाने पर छूटता नहीं)। प्राणनाथ साथ से बिछुड़ गए, नेत्रों से आँसू गिरना रुकता ही नहीं, शीतल चन्द्रमा अग्नि के समान लगता है, कहो धीर किस प्रकार धारण किया जाय ? सूरदास कहते हैं (कि) कमल–नैन (कृष्ण) से बिछुड़ने पर सभी यत्नों का करना व्यर्थ है।

विशेष– (१) अलंकार– विरोधाभास, उत्प्रेक्ष, उपमा, अतिशयोक्ति। (२) वियोग श्रृंगार रस। (३) प्रकृति का उद्दीपन रुप में चित्रण हुआ है।

कोउ माई बरजै री या चंदहिं।
अहि हीं क्रोध करत हैं हम पर, कुमदिनि कुल आनन्दहिं।
कहाँ कहौ बरषा रवि तमचुर, कमल बलाहक कारे।
चलत न चपल रहत थिर के रथ, बिरहिनि के तन जारे।
निंदतिं सैल उदिध पन्नग कौ, श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देतिं असीम जरा देवी कौं, राहु केतु किन जोरहिं।
ज्यौं जल-हीन मीन तन तलफतिं, ऐसी गति ब्रजबालहिं।
सूरदारस अब आनि मिलावहु, मोहन मदन गुपालहिं।।१७।।

शब्दार्थ– तमचुर = मुर्गा। बलाहक = बादल। पन्नग = शेषनाग।

सन्दर्भ– उपरोक्त पद १५, १६ के समान रहेगा।

व्याख्या– हे सखी ! कोई इस चन्द्रमा को मना करे। यह कमलिनियो के समूह को (तो) आनन्द देता है, (किन्तु) मुझ पर अत्यधिक क्रोध करता है। वर्षा, सूर्य, मुर्गा, कमल (तथा) काले बादल (बलाहक) (न जाने) कहाँ (गये), कोई कहे या बतावे (तो) (इनमें किसी के होने पर चन्द्रमा अदृश्य हो जाता)। यह चालाक (चपल) चलता नहीं (वल्कि) रथ रोक कर स्थिर रहता है, (तथा) विरहिणियों के शरीर को जलाता है। सर्पों को, सागर को, (मन्दराचल) पर्वत को विष्णु को, (तथा) कठोर कच्छप को; (गोपियाँ) निन्दित करती हैं, (क्योंकि इन्हीं लोगों ने समुद्र मथ कर चौदह रत्न निकाले थे जिनमें से चन्द्रमा एक है)। वे जरा देवी को आशीष देती हैं, (वे) राहू तथा केतु को क्यों नहीं जोड़ देतीं (ताकि वे चन्द्रमा को ग्रस लें) जैसे जल से रहित मछली का शरीर तड़पता है वैसी दशा ब्रजबालाओं की है। सूरदास कहते हैं कि अब मोहन मदन गोपाल को लाकर मिलाओ।

उद्धव संदेश

निरखतिं अंक स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, है गइ स्याम स्याम जू की पाती।

गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधौ; जब सुनि बेनु नाद सँग जाती।
उनकैं लाड़ बदति नहिं काहू, निसि दिन रसिक-रास-रस राती।
प्रान-नाथ तुम कबहि, मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल-सँघाती।।१८।।

शब्दर्थ— अंक = अक्षर। लावर्ति = लगाती है। मसि = स्याही। स्याम = काली, काली। स्याम = कृष्ण। पाती = चिट्ठी। ताती = तप्त, गर्म। उती = उतनी। बेनु = वंशी। लाड़ = प्रेम। राती = अनुरक्त। बाल—सँघाती = बाल सखा, मित्र।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पद में महाकवि सूरदास ने उद्धव से कृष्ण की चिट्ठी पाने के बाद गोपियां जिस तरह प्रेम विह्वल हो जाती हैं, इसी विह्वलता का वर्णन किया है।

व्याख्या— शयम सुन्दर (कृष्ण) के (द्वारा लिखे गये) अक्षरों को देखती हैं और (पत्र को) बार—बार छाती से लगाती हैं। आँख के आँसू तथा कागज की स्याही मिल कर कृष्ण की पत्री काली हो गयी। गोकुल में नंदनंदन (कृष्ण) के रहते हुए हमें तप्त हवा तक कभी भी नहीं लगी, और उसे कैसे कहें, जब बंशी के नाद को सुनकर (हम) उनके साथ चली जाती थीं उनके स्नेह में रमी हुई हम किसी से बात तक नहीं करती थीं, और निरन्तर कृष्ण के रास—रास में रमित रहती थीं। सूरदास कहते हैं कि (गोपियाँ कहती हैं) बालपन के साथी तुम कब मिलोगे।

विशेष— प्रस्तुत पद में गोपिकाओं की कृष्ण प्रेम की अनन्यता को अभिव्यक्त किया गया है। श्याम श्याम में यमक अलंकार। अन्तिम पंक्तियों में स्मरण अलंकार की सुन्दर नियोजना है।

उपमा नैन एक न रही।
कवि जन कहत कहत सब आये, सुधि कर नाहि कही।
कहि चकोर बिधु मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख कमल कोष बिछुरे तैं ठाले कत ठहरात।
ऊधौ बधिक ब्याध है आए, मृग सम क्यौं न पलात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात।
खंजन मन-रंजन न होहिं ये, कबहूँ नहीं अनुकलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात।
प्रेम न होइ कौन विधि कहियै, झूठैं हीं तन आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त।।१६।।

शब्दार्थ— सुधि = ध्यान। ठाले = बिना प्रयोजन। पलात = पलायन करते। घात = प्रहार। मुकुलात = आँख बन्द करते। आड़त = रोकना। मीनता = मछली का भाव। बिना जल के जीवित न रहने का भाव।

सन्दर्भ— इस पद में कवि ने आँखों की गुण—हीनता की व्यंजना का वर्णन किया गया है।

व्याख्या— आँखों की किसी से समानता नहीं रह गयी। कवि लोग कहते आये

लेकिन (किसी ने) सोच कर नहीं कहा। (इन्हें) चकोर कहा जाय (किन्तु यह भी उचित नहीं है) क्योंकि वे कृष्ण मुख रूपी चन्द्रमा को देखे बिना जीवित रहती हैं। भ्रमर भी नहीं हैं नहीं तो उड़ जाते क्योंकि कृष्ण रूपी कमल कोश के बिछुड़ जाने पर व्यर्थ क्यों ठहरे रहते ? उद्धव बधिक तथा व्याध के समान आये हैं, ये मृग के समान भाग क्यों नहीं जाते? श्याम रूपी सघन वन में भाग जायँ, जहाँ कोई भय नहीं है। ये मन के अच्छे लगने वाले खंजन पक्षी भी नहीं हैं क्योंकि ये कभी आकुल नहीं होते तथा पंख पसार कर ये चंचल गति नहीं होते, और न ही कृष्ण के आगे मुकुलित ही होते हैं। किस तरह कहा जाय इन्हें प्रेम नहीं है, ये व्यर्थ शरीर को रोके हैं। **सूरदास** कहते हैं (गोपियाँ कहती हैं) इनमें मछली के गुण कुछ मात्रा में हैं। क्योंकि जल-भरना कभी नहीं छोड़ते।

विशेष— (१) अलंकार— अतिशयोक्ति, हेतुत्प्रेक्षा, उपमा। (२) वियोग श्रृंगार रस सम्पूर्ण पद में दर्शनीय है।

कांहे कौं रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रूँधौ।
कै तुम सिखि पठए हौ कुबिजा, कह्यौ स्याम घनहूँ धौं।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ, जुवतिनि जोग कहूँ धौं।
ताकौ कहा परेखौ कीजै, जानै छाँछ न दूधौ।
सूर मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निबेरत ऊधौ।।२०।।

शब्दार्थ— रूँधौ = अवरुद्ध करते हो। छाँछ = मट्ठा। मूर = मूलधन। निबेरत = वसूलते हैं।

सन्दर्भ— ऊपर वर्णित पद में सूरदास जी ने सगुण भक्ति के राजमार्ग पर बाधा डालने के लिए उद्धव को रोका जा रहा है।

व्याख्या— सीधा मार्ग क्यों रोकते हो। उद्धव, सुनो निर्गुण काँटे से राजपथ क्यों अवरूद्ध करते हो। क्या तुम कुबरी के द्वारा सिखाकर भेजे गये हो या कृष्ण ने भी कहा है। वेद, पुराण, स्मृति सब कुछ ढूँढ़ डालो कहीं युवतियों के लिए योग (का विधान) है उनकी बातों को कैसे बुरा माना जाय जो दूध तथा मट्ठा जानता ही नहीं है। (जो इतना मूर्ख है कि दूध और मट्टे का अन्तर नहीं जानता)। **सूरदास** कहते हैं (गोपियाँ कहती हैं) अक्रूर (कृष्णधन) ले गये तथा उद्धव, तुम ब्याज वसूलने आये हो।

विशेष— (१) अलंकार— अन्योक्ति, रूपक तथा सन्देश। (२) पद की अन्तिम दोनों पंक्तियों में लोकोक्ति दृष्टव्य है।

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार-ज्ञान कह जानैं, कैसें ध्यान धराहीं।
तेई मूँदन नैन कहत हौं, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतैं सुनी न जाहीं।
स्रवन चीरि सिर जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अंग भस्म बतावत, बिरह-अनल अति दाहीं।

जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सो तौ है अप माहीं।
सूर स्याम तैं न्यारी न पल छिन, ज्यौं घट तैं परछाहीं।।२१।।

शब्दार्थ– जोग जोग = योग के योग्य। सार–जान = तत्वज्ञान। चीरि = फाड़कर। अपमाहीं = अपने में ही। न्यारी = अलग।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद का सन्दर्भ उपरोक्त पद संख्या २० के समान होगा।

व्याख्या– उद्धव, योग के योग्य हम नहीं हैं। अबलाएँ तत्व ज्ञान क्या जानें तथा कैसे ध्यान धरें। (तुम) उन्हीं नेत्रों को मूँदने को कहते हो जिनमें कृष्ण की मूर्ति है। मधुकर (ऊधो) ऐसी कपट कथा हमसे सुनी नहीं जाती। कानों को फाड़कर सिर पर जटा बँधाते हो यह दुख कहाँ समाये। विरह की अग्नि से अत्यधिक दग्ध शरीर में चन्दन को त्यागकर भस्म लगाने को कहते हो। योगी जिसके लिए भ्रमित हैं वह अपने ही भीतर है। सूरदास कहते हैं (गोपियाँ कहती हैं) कृष्ण से हम क्षण भर भी अलग नहीं हैं जैसे शरीर से परछायी अलग नहीं है।

विशेष– (१) अलंकार– यमक, अतिशयोक्ति, रुपक, विरोधाभास, मीलित और दृष्टान्त। (२) योग साधना की अनुपयोगिता की व्यंजना पर प्रकाश डाला गया है।

लरिकाईं कौ प्रेम कहौ अलि कैसैं छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित, अंतरगति लूटत।
वह चितवनि वह चाल मनोहर, वह मुसकानि मंद-धुनि गावनि।
नटवर-भेष नंद-नंदन कौ, वह विनोद, वह बन तैं आवनि।
चरन कमल की सौंह करति हौं, यह सँदेश मोहिं विषसौं लागत।
सूरदास पल मोहिं न विसरति, मोहन मूरति सोवत जागत।।२२।।

शब्दार्थ– लरिकाई = बाल्यावस्था। सौंहँ = शपथ।

सन्दर्भ– इस पद में महाकवि सूरदास जी ने बाल अवस्था से विकसित होने वाले प्रेम का गोपियों के क्षरा वर्णन अति रमणीय ढंग से किया है।

व्याख्या– अलि (उद्धव) कहो बचपन की प्रीति कैसे छूटे। ब्रजनाथ (कृष्ण) के चरित्र को कैसे कहूँ वह (चरित्र) अंतर को लूटने वाला है। वह दृष्टि, वह मनोहर चाल, वह मुस्कान, वह मंद ध्वनि से गाया जाने वाला गान, नटवर वेष, वह कृष्ण का विनोद तथा वन से वह आगमन (ये सब हृदयहारी हैं) कृष्ण के चरण कमलों की कसम लेकर कहती हूँ यह संदेश मुझे विष जैसा लगता हैं। सूरदास कहते हैं (गोपियाँ कहती हैं) (वह) मोहनी मूर्ति हमें सोते–जागते कभी नहीं भूलती।

विशेष– (१) अलंकार– वक्रोक्ति, उल्लेख, रुपक, रुपकाशियोक्ति अतिश्योक्ति। (२) सम्पूर्ण पद में वियोग श्रृंगार रस का भाव है।

बिनु गुपाल वैरिन भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।

पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजैं।
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हारे दरस कौं, मग-जोवत अँखियाँ भईं घुंजैं।।२३।।

शब्दार्थ– पान = पानी। घनसार = कपूर। दधि–सुत = चन्द्रमा, भानु भई। भुंजैं = सूर्य होकर भूनती हैं। गुंजैं = घुँघची।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने कृष्ण के वियोग में प्रकृति के पदार्थों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों का लेखा–जोखा बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

व्याख्या– कृष्ण के बिना सभी कुंज (वन) शत्रु हो गये। तब ये लतायें अत्यधिक शीतल लगती थीं अब विपम ज्वाला पुंज (के समान) हो गयी हैं। यमुना व्यर्थ बहती है, पक्षी (व्यर्थ) बोलते हैं तथा भ्रमर का गूँजना और कमल का खिलना सब व्यर्थ है। पवन, पानी, कपूर, सजीवन (सब दुखकर हो गये) तथा चन्द्रमा की किरणें सूर्य की किरणों के समान (तप्त होकर) भूनती हैं। हे उद्धव कृष्ण से कहना कि काम ने मान कर हमें लुंज कर दिया है। सूरदास कहते हैं (गोपियाँ कहती है) कि कृष्ण तुम्हारे दर्शन के लिए रास्ता देखते–देखते आँखें घुँघची की भाँति रक्त हो गयी हैं।

विशेष– (१) अलंकार– विरोधाभास, रुपक। (२) वियोग श्रृंगार रस वर्णित है। (३) इस सम्पूर्ण पद में प्रकृति के उद्दीपन रुप का चित्रांकन है।

ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन कारे।
नंद जसोदा मारग जोवति, निसि-दिनि साँझ सकारे।
चहुँ-दिसि कान्ह-कान्ह कहि टेरत, अँसुवन बहत पनारे।
गोपी, ग्वाल, गाइ, गो सुत सब, अतिहीं दीन बिचारे।
सूरदास प्रभु बिनु यौं देखियत, चंद बिना ज्यौं तारे।।२४।।

शब्दार्थ– जोवति = देखती हैं। सकारे = प्रातःकाल। पनारे = अनेक प्रवाह (परनाले)।

सन्दर्भ– इस पद में सूरदास जी ने कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण गोपियाँ और माँ यशोदा तथा बाबा नन्द की विरह व्यथा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

व्याख्या– ब्रज के विरही लोग दुखित हैं। बिना गोपाल के सब ठगे से खड़े रहे तथा वे शरीर से अत्यन्त दुर्बल तथा काले हो गये हैं। रात–दिन संध्या सबेरे नन्द और यशोदा मार्ग देखते हैं। चारो दिशाओं में कान्ह–कान्ह कहकर पुकारती हैं तथा आँसुओं से परनाले बहते हैं। गोपी, ग्वाल, गाय तथा बछड़े (आदि) बेचारे अत्यन्त दीन हैं। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के बिना वे वैसे ही हैं जैसे तारों के बिना चन्द्रमा।

विशेष– (१) सम्पूर्ण पद के अन्दर ब्रज के समस्त लोगों में कृष्ण के प्रति अनुरक्ति व्यक्त की गई है।

(२) प्रस्तुत सम्पूर्ण पद में विरह–व्यथा का वर्णन किया गया है।

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छाहीं।
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहै मौन हवै, यह कहि कहि पछिताहीं।।२५।।

शब्दार्थ– हंस सुता = सूर्य--पुत्री, यमुना। कगरी = किनारा। सुरभी = गायें। खरिक = गौशाला। जाहीं = जाना। सुरति = स्मरण। उमगत = तरंगित, प्रसन्न। अनगन = अगणित।

सन्दर्भ– उपरोक्त वर्णित पद में महाकवि सूरदास जी ने कृष्ण को ब्रज की याद ने व्यथित कर दिया है। वे अपने मन के भावों को उद्धव के सम्मुख वर्णन करते हुए कहते हैं।

व्याख्या– ऊधो मुझे ब्रज भूलता नहीं। यमुना की सुन्दर कगार और कुंजों की छाया तथा वे गाये तथा वे बछड़े, जिन्हें बाड़े में दुराने जाते थे हमें नहीं भूलते। ग्वाल बाल सब के साथ मिलकर कोलाहल करते थे तथा गला पकड़कर नाचते थे। यह मथुरा सोने की नगरी है जहाँ मणि तथा मुक्ताफल है किन्तु जब उस सुख की याद आती है तो मन उमगता है तथा शरीर (की चेत) नहीं रहती। ब्रज में अनेक लीला की, नंद तथा यशोदा ने सब कुछ निबाहा। सूरदास कहते है कि कृष्ण चुप हो गये और यह कहकर पछताते हैं।

विशेष– इस समस्त पद में स्मृति संचारी भाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

4

तुलसीदास

श्री रामचरित मानस (उत्तरकाण्ड)

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।।
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।

दोहा- *बरनाम्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।*
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।1।।

शब्दार्थ– त्रैलोका = तीन लोक (स्वर्ग, मर्त्य और पाताल), विषमता = असमानसता, वैषम्य, निरत = लीन।

सन्दर्भ– वस्तुतः 'राम चरित्र मानस' गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित महाकाव्य है। इस महाकाव्य में सात काण्ड हैं उनका अपना–अपना महत्व है। उनमें भी उत्तर काण्ड विशिष्ट स्थान रखता है। प्रस्तुत अंश उत्तरकाण्ड से अवतरित किया गया है। इसमें कवि ने भगवान श्री राम के राज्य सिहांसन पर विराजमान होने के समय का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है।

व्याख्या– श्रीराम के राज्य सिंहासन पर बैठने पर त्रैलोक्य हर्षित हो उठा और समस्त शोक समाप्त हो गए। कोई किसी से वैरभाव नहीं करता और श्रीराम की कृपा से सबकी विषमता समाप्त हो उठी।

दोहा– सभी लोग अपने–अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल धर्म पर रत वेद मार्ग पर चलते हुए निरन्तर आनन्द प्राप्त करते हैं, न भय है, न शोक है, न रोग है।

टिप्पणी– अन्त में, कवि निषाद प्रसंग की अवतारणा करता है– सभी पात्र एक स्थिति विशेष में श्रीराम से मिलते हैं और फिर उनसे बिछुड़ भी जाते हैं– तादात्म्य एवं फिर विरह–इन दो भावों के हर्ष तथा विषाद के द्वन्द्व निरन्तर डूबते उतराते मानवीय तथा आध्यात्मिक दोनों व्यंजनाओं को साथ–साथ समेटे हुए चलते हैं। निषाद को श्रीराम भरत की भाँति अपना अनुज ही नहीं बनाते बराबर आते–जाते रहने की भी बात करते हैं। मध्यकालीन वर्ण–व्यवस्था के इस गर्हित पात्र को श्रीराम की यह आत्यान्तिक प्रियता भारतीय धर्म–व्यवस्था की लीक से हटकर भक्ति व्यवस्था के सन्दर्भ से जोड़ती है।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।।
सर नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।।
राम भगति रत नर अरुनारी। सकल परम गति के अधिकारी।।

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।।
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।।
सब गुनज्ञ पंडित सब ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।।
दोहा- *राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।*
काल कर्म सुझाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।।२।।

शब्दार्थ– दैहिक = शारीरिक। दैविक = देवता या भाग्य सम्बन्धी। भौतिक = जीवित प्रणियों से सम्बन्ध रखने वाला, भूत–सम्बन्धी। तापा = कष्ट, दुःख। श्रुति = वेद। चारिउ चरन धर्म = धर्म के चारो चरण (सत्य, शौच, दया और दान)। अध = पाप। पीरा = पीड़ा। बिरुज = रोगरहित। अबुध = मूर्ख। निर्दम्भ = दम्भरहित। पुनी = पुण्य से युक्त, पवित्र। सचराचर = चेतन जड़ सहित। नभगेस = पक्षियों के स्वामी, गरुड़।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अवतरण में तुलसीदास जी ने राम राज्य की विशिष्टताओं का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है, जो कि अपने आप में अतुलनीय है।

व्याख्या– श्रीराम के राज्य में दैहिक, दैविक भौतिक ताप किसी को नहीं व्यापते। सभी मनुष्य परस्पर प्रेम भाव करते हैं तथा वेदों में निर्देशित नीति के अनुसार आचरण करते हुए स्वधर्म में रत हैं। धर्म अपने चारों चरणों सत्य, तप, दया, दान से संसार में परिपूर्ण हो रहा है और स्पप्न में भी पाप नहीं है। सम्पूर्ण नर–नारी श्रीराम के चरणों में रत हैं और सभी परम पद के अधिकारी हैं। न अल्प मृत्यु है और न किसी प्रकार की पीड़ा है। सभी सुन्दर हैं और सभी निरोग हैं। न कोई दरिद्र है, न दुखी है, न दीन, न कोई अज्ञानी है और न कोई लक्षणहीन है। सभी दंभरहित, धर्मलीन एवं पुण्यवान हैं। सभी नर–नारी चतुर तथा गुणी हैं, सभी गुणज्ञाता हैं, पंडित तथा ज्ञानी हैं, सभी किए हुए उपकार को मानने वाले हैं कोई धूर्त (कपट सयाना) नहीं है।

दोहा– हे गरुड़! सुनें, श्रीराम राज्य में जड़ तथा चेतन काल, कर्म, स्वभाव तथा गुण से उत्पन्न दुःख किसी को नहीं होते।

टिप्पणी– तुलसीदास इन पंक्तियों में रामराज्य की परिकल्पना करते हैं, रामराज्य एक कवि की कल्पना सृष्टि का वह साक्ष्य है– जहाँ मानवीय मूल्यों तथा हितों की सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट परिकल्पना की गई है। परम्परागत बाल्मीकि रामायण तथा अध्यात्म पुराण में श्रीराम के राज्य के सुख, वैभव, शान्ति तथा सम्पन्नता का वर्णन मिलता है। किन्तु कवि मानस में अत्यन्त विस्तारपूर्वक मानवीय सुख तथा समृद्धि की सर्वोच्च कल्पना करता है। रामराज्य की परिकल्पना के अन्तर्गत नैतिक, आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक सुखों की आत्यान्तिक स्थापना एवं मानव को पीड़ित करने वाले दैविक, दैहिक, मानसिक तथा भौतिक संतापों से मुक्ति की आकांक्षा मिलती हैं। सुख, शान्ति, समृद्धि, सन्तोष, तृप्ति, आनन्द तथा व्यवस्था के सम्पूर्ण मूल्यों की व्यापक प्रतिष्ठा कवि की उदार मानवतावादी दृष्टि का प्रतिफल बनकर यहाँ आयी है।

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।।
भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।।
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी।।

सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिर एहि चरित तिन्हहुँ रति मानी।।
सोउ जानै कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दम सीला।।
राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा।।
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी।।
एक नारिब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।।
दोहा- *दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।*
जीतहुँ मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज।।२२।।

शब्दार्थ– मेखला = करधनी। भुअन = संसार, प्रभुता वैभव, सामर्थ्य। खगेस = पक्षियों के स्वामी, गरुड़। दमसील = जितेन्द्रिय, इन्द्रियों के दमन करने वाले। फनीस = शेषनाग। झारी = समूह। जतिन्ह = सन्यासियों।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अंश में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की महिमा, उनके राज्य करने के एक आदर्श राजा के गुणों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है।

व्याख्या– सात समुद्रों की मेखला से युक्त पृथ्वी पर एक मात्र राजा कोशलाधीश श्रीराम हैं जिनके रोम–रोम में अनेक भुवन हैं, यह प्रभुता बहुत अधिक नहीं है। प्रभु श्रीराम की उस अत्यधिक महिमा को समझ लेने पर यह वर्णन बहुत बड़ी हीनता (ठहरती) है। हे गरुड़ ! वह महिमा जिसने जान ली है, वे भी पुनः इसी चरितात्मक लीला में ही रति मानते हैं। उसको जानने का फल यह लीला है, इन्द्रियों का दमन करने वाले मुनि श्रेष्ठ ऐसा ही कहते हैं। राम राज्य की सुख–सम्पत्ति का वर्णन शेषनाग तथा सरस्वती भी नहीं कर सकते। सभी उदार हैं, सभी परोपकारी हैं और नर–नारी ब्राह्मणों के चरणों के सेवक हैं। सभी पुरुष एक पत्नी व्रतधारी हैं। स्त्रियाँ भी मन, वाणी तथा कर्म से पति का हित करने वाली हैं।

दोहा– श्रीरामचन्द्र के राज्य में दण्ड केवल यतियों के हाथ में हैं और भेद जहाँ नर्तकों के नृत्य समाज में दिखायी पड़ता है और जीतना शब्द केवल मन के सन्दर्भ में ही सुनाई पड़ता है।

टिप्पणी– श्रीराम के माहात्म्य का निरूपण करता हुआ कवि रामराज्य के उदात्त मानवीय मूल्यों की स्थापनाओं को इंगित करता है। सुख–सम्पत्ति का प्राचुर्य एवं मानवों में परस्पर उदारता तथा परोपकार वृत्ति का वह उल्लेख करता है। नैतिक मूल्यों में ब्राह्मण को सर्वोपरि सामाजिक वरीयता, नारी एवं पुरुष में परस्पर एक दूसरे के प्रति समर्पित जीवन–यापन की निष्ठा आदि की स्थापना से समाज व्यवस्थित था।

दंड जतिन्ह........ रामचन्द्र के राज्य–में परिसंख्या अलंकार है।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन।।
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई।।
कूजहिं खगमृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा।।
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा।।
लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं।।

ससि सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी।।
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी।।
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी।।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।।
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।।
दोहा– बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल रामचन्द्र कें राज।।४।।

शब्दार्थ– तरु = वृक्ष। कानन = जंगल। पंचानन = सिंह। बिसराई = भुलाकर। बूंद = समूह। सुरभि पवन = सुगन्धित पवन। ससि = शस्य, खेती। बिटप = वृक्ष। मनभावतो = मनचाहा, इच्छानुसार। पय = दुग्ध। बारि = जलि। अमल = स्वच्छ। मरजादा = सीमा। सरसिज = कमल। संकुल = भरा हुआ, परिपूर्ण। तड़ाग = तालाब। बिधु = चन्द्रमा। महि = पृथ्वी। मयूखन्हि = किरणों से। रबि = सूर्य। बारिद = बादल।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अवतरण में गोस्वामी तुलसीदास जी ने रघुकुल शिरोमणि, श्री राम की राज्य करने की विशिष्ट विशेषताओं का वर्णन किया है। इसके साथ ही प्रकृति की सहज सुन्दरता की ओर भी संकेतित किया है।

व्याख्या– वनों में वृक्ष सदा फूलते–फलते हैं और वहाँ एक साथ हाथी तथा सिंह (पंचानन) रहा करते हैं। पशु–पक्षी अपने सहज वैर भाव को भूलकर सभी ने आपस में प्रेम बढ़ा रखा है। पक्षी (वन में) कूजन करते हैं और अनेकानेक पशु समूह निर्भय विचरण करते हुए आनन्द करते हैं। शीतल मंद सुगन्ध वायु चलता रहता है मकरन्द लेकर चलते हुए भ्रमर गुंजार करते हैं। लताएँ तथा वृक्ष मांगने पर पराग टपका देते हैं तथा गाएं मनचाहा दूध देती हैं। पृथ्वी सदा खेती से सम्पन्न रहती है और त्रेता में सतयुग की दशा (करनी) हो गई। परमात्मा श्रीराम को राजा जानकर पर्वतों ने विविध मणियों की खान उत्पन्न की। सभी नदियाँ निरन्तर शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट, आनन्ददायी तथा पवित्र जल बहाने लगीं। समुद्र अपनी मर्यादा में रहने लगा तथा (तटों पर स्वतः) रत्न डालता था और लोग प्राप्त करते थे। सभी तालाब कमल पूरित हो उठे और दसों दिशाओं के सभी प्रदेश (विभाग) अत्यन्त प्रसन्न हैं।

दोहा– श्रीरामचन्द्र के राज्य में चन्द्र अपनी किरणों से पृथ्वी को परिपूर्ण किए हुए हैं, जितनी आवश्यकता है, सूर्य उतना ही तपता है और बादल माँगने से (आवश्यकतानुसार ही) जल देते हैं।

टिप्पणी– मानवीय मूल्यों की सर्वोत्कृष्टता का वर्णन करके कवि प्रकृति तथा मानवीय हित की परस्पर सहसम्बद्धता को इंगित करता है। तरु, कानन, खग, मृग, व्याघ्र, वायु, भ्रमर, लता, विटप, गौ, कृषि, पर्वत, मणियाँ, समुद्र, रत्न, कमल, तालाब, चन्द्र, सूर्य, बादल आदि अपनी हितकारी सीमाओं में स्थिर मानव समाज की सर्वोत्कृष्ट सम्पन्नता में लगे हैं। मानवीय सम्बद्धों के नैतिक सदाचरण तथा सद्भाव के बीच प्रकृति भी सन्तुलन स्थिर करके न केवल स्वयं आनन्दित होती है अपितु मानव समाज के लिए भी आनन्द का हेतु बन जाती है।

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे।।
श्रुति पथ पालक धर्म धुंरधर। गुनातीत अरु भोग पुंरदर।।

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील विनीता।।
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई।।
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल, सदा सेवाबिधि गुनी।।
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।
जेहिं बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ।।
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाही।।
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता।।
दोहा– जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ।।५।।

शब्दार्थ– बाजिमेध = अश्वमेध। धुरंधर = धुरी का धारण करने वाला, अग्रगण्य, श्रेष्ठ। गुनातीत = सत्व, रज और तम गणों से परे। खानि = भण्डार। परिचरजा = परिचर्या, सेवा। श्री = लक्ष्मी। रमा = लक्ष्मी। जगदम्बा = जगत की माता। संततमनिन्दिता = सदैव अनिन्दित। रति = प्रेम।

सन्दर्भ– प्रस्तुत महाकाव्य के इस खण्ड में महाकवि तुलसीदास जी ने भक्तवत्सल श्री राम के महान परक्रमी राजा और जगत जननी माँ सीता जी के गुणों, और पारिवारिक कर्त्तव्यों की विभिन्न विशेषताओं का अति मनोरम चित्रण किया है।

व्याख्या– प्रभु श्रीराम ने करोड़ों अश्वमेध किया तथा ब्राह्मणों को अनेक प्रकार से दान दिए। धर्म की धुरी धारण करने वाले श्रीराम वैदिक मार्ग के रक्षक, गुणातीत तथा भोग में इन्द्र सदृश हैं। सौन्दर्य की खानि, अत्यधिक शीलवती एवं विनीत स्वभाव वाली सीता सदैव पति के अनुकूल रहती है। कृपासागर श्रीराम की प्रभुता को समझती है तथा उनके चरण कमलों की मन लगाकर सेवा करती है। यद्यपि राजभवन में अनेक तथा सेवा परिपाटी में सर्वथा कुशल सेवक सेविकाएँ हैं किन्तु सीता अपने हाथ से गृह सेवा कार्य करती हैं तथा श्रीराम की आज्ञा का अनुसरण करती है। जिस प्रकार से कृपासिन्धु श्रीराम सुख मानते थे, सेवा की परिपाटी (सीता) जानती थी, इसलिएं वैसे ही करती थी। मान तथा गर्व से शून्य वह गृह में स्थित कौसल्या आदि सभी सासुओं की सेवा करती थी। हे पार्वती ! जगज्जननी लक्ष्मी जी सीता ब्रह्मा आदि द्वारा वंदित तथा सतत अभिनन्दनीय हैं।

दोहा– जिसकी कृपा कटाक्ष की देवगण कामना करते हैं किन्तु वह उन्हें देखती तक नहीं, वह श्रीराम के चरण कमल में, (अपने चंचला होने के) सहज स्वभाव का परित्याग करके, रति करती हैं।

टिप्पणी– मानवीय सम्बन्धों तथा सम्बन्धित आचरणों से ही समाज में सुख तथा शान्ति की परिकल्पना की जा सकती है। भौतिक साधनों तथा सम्पन्नता से सुख शान्ति की सम्भावनाओं का कविता निषेध करके मानवीय सम्बन्धों की कवित गरिमामयी प्रतिष्ठा करता है। यद्यपि राजवैभव के समस्त साधन राज परिवार में उपलब्ध हैं किन्तु सीता अपने गृह की परिचर्या स्वयं करती है–

"निजकर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई।।"

मानव जीवन के सुख के लिए आधारस्वरूप कौटुम्बिक जीवन यापन पद्धति को कवि यहाँ निर्दिष्ट करता है।

बरवै रामायण

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सिय अंग सखि कोमल कनक कठोर।।१।।

शब्दार्थ– सुबरन = सुन्दर रंग। कनक = सोना।

सन्दर्भ– प्रस्तुत दोहा महाकवि तुलसीदास जी द्वारा रचित बरवै रामायण से उद्धृत किया गया है। कवि ने इस प्रकरण में सीता जी के रुप सौन्दर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या– सखी! स्वर्ण शोभा (कान्ति)–में तो श्री जानकी के श्री अंगो के समान है, किन्तु उनकी तुलना में थोड़ा भी सुखदायी (शीतल) नहीं है और श्री जानकी के अंग कोमल हैं, पर स्वर्ण कठोर है।

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ।।२।।

शब्दार्थ– बिगसाई = विकसित होता है।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अवतरण का सन्दर्भ उपरोक्त पद सं० १ के समान है।

व्याख्या– श्रीसीताजी का मुख शरद्–ऋतु के कमल के समान कैसे कहा जाय, क्योंकि वह (कमल) तो रात्रि में म्लान होता है, किंतु यह (श्रीमुख) रात–दिन (समानरूप से) प्रफुल्लित रहता है।

सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेल पहिरावौं चंपक होत।।३।।

शब्दार्थ– हारबोलि = बेला के पुष्प का हार। उदोत = प्रकाश।

सन्दर्भ– इस अवतरण में तुलसीदास जी सीता के अंग–प्रत्यंग के सौन्दर्य का अद्वितीय वर्णन किया है।

व्याख्या– (सखी श्री जानकी जी से ही कहती है–) जानकी! तुम्हारे शरीर के रंग से मिलकर पुष्पहार अधिक प्रकाशित होता है और तो और (तुम्हारे अंग की स्वर्णकान्ति के कारण) बेला (मोगरा)–के पुष्पों की माला मैं (तुम्हें) पहनाती हूँ तो वह भी चम्पा के पुष्प की माला जान पड़ती है।

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ।।४।।

शब्दार्थ– उर = हृदय।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अवतरण में सीता जी के विरह के क्षणों का कवि ने चित्रण किया है।

व्याख्या– (श्री जानकी जी कहती हैं–) हृदय में जब वियोग की अग्नि भड़क

उठती है, तब मेरी शत्रु ये दोनों आँखें (आँसू बहाकर) उसे बुझा देती हैं, (उस अग्नि में मुझे जल नहीं जाने देतीं।)

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ।।५।।

शब्दार्थ— कनगुरिया = कनिष्ठिका अंगुली (सबसे छोटी अंगुली) मुँदरी = अँगूठी।

सन्दर्भ— उपरोक्त पद सं० ४ के समान है।

व्याख्या— हनुमान् ! अब जीवित रहने की कोई आशा नहीं है। (तुम देखते ही हो कि) कनिष्ठिका अँगुली की अँगूठी अब कंगन बन गयी (उसे हाथ में कंगन के समान पहिन सकती हूँ, इतना दुर्बल शरीर हो गया है।)

संकट सोच बिमोचन मंगल गेह।
तुलसी राम नाम पर करिय सनेह।।६।।

शब्दार्थ— गेह = घर, मकान, आवास। सनेह = प्रीति।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पद्य में महाकवि तुलसीदास का श्री राम के चरण कमलों में ध्यान करने की ओर संकेतित किया है।

व्याख्या— तुलसीदास जी कहते हैं— अरे मन! सब प्रकार के संकट एवं शोक को नष्ट करने वाले तथा सम्पूर्ण मंगलों के निकेतन श्री राम–नाम से प्रेम करना चाहिए।

तप तीरथ मख दान नेम उपबास।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास।।७।।

शब्दार्थ— उपवास = व्रत। जपु = जाप करना, ध्यान करना।

सन्दर्भ— उपरोक्त पद सं० ६ के समान है।

व्याख्या— तुलसीदासजी कहते हैं— अरे मन! जो तपस्या, तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, नियम–पालन, उपवास आदि सबसे अधिक (फलदाता) हैं, उस राम–नाम का जप करो।

केहि गिनती मह गिनती जस बन घास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास।।८।।

शब्दार्थ— तुलसी = तुलसी का पौधा। तुलसीदास = श्री राम के अनन्य भक्त।

सन्दर्भ— प्रस्तुत अवतरण में तुलसीदास जी ने भगवान श्री राम की अनन्य भक्ति की ओर इशारा कर उसकी महत्ता को बताया है।

व्याख्या— तुलसीदासजी कहते हैं कि मैं किस गिनती में था, मेरी तो वह दशा थी जो वनकी घासकी होती है, किंतु राम–नाम का जप करने से वही मैं तुलसी (के समान पवित्र एवं आदरणीय) हो गया !

कामधेनु हरि नाम कामतरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम।।९।।

शब्दार्थ— कामतरु = कल्प वृक्ष। चारि फल = धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार फल हैं।

सन्दर्भ— इस अंश में कवि ने चारि फल प्राप्त करने के लिए श्री राम की भक्ति की ओर संकेत किया है।

व्याख्या— तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीराम का नाम कामधेनु है और उनका रूप कल्पवृक्ष के समान है। श्री राम–नाम का स्मरण करने से ही चारों फल सुलभ हो जाते (सरलता से मिल जाते) हैं।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय।।१०।।

शब्दार्थ— भाग = भाग्य। अनुराग = प्रेम।

सन्दर्भ— प्रस्तुत अवतरण में महाकवि ने उस को बड़ा ही सौभाग्यशाली बताया है जो श्री राम के चरणों में अपने मन को लगाता है।

व्याख्या— तुलसीदासजी कहते हैं कि (श्री राम से प्रेम करने की बात) कहते–सुनते तो सब हैं, किंतु समझता (आचरण में लाता) कोई ही है। बड़ा सौभाग्य (उदय) होने पर श्रीराम से प्रेम होता है।

कवितावली

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छवि भूरि अनंग की दूरि करै।
दमकै दंतिया दुति दामिनी ज्यों, किलकैं कल बाल विनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, 'तुलसी' मन–मन्दिर में बिहरैं।।१।।

शब्दार्थ— दुति = शोभा, कान्ति। स्याम सरोरुह = नील कमल। लोचन = नेत्र। कंज = कमल। मंजुलताई = सुन्दरता। छवि = शोभा। भूरि = अत्यधिक। अनंग = कामदेव। दमकै = चमके। दतियां = दूधिया दाँत। दुति = चमक। दामिनि = बिजली। कल = सुन्दर। बाल विनोद = बाल लीला, बालकों जैसे मनोरंजक खेल।

प्रसंग— 'कवितावली' के बालकाण्ड में से उद्धृत इस पद में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के अपने मन में हमेशा वास करते रहने की कामना करते हुए तुलसीदास कह रहे हैं।

व्याख्या— राम के शरीर की शोभा नीले कमल के समान है, अर्थात् रंग सांवला है। उनके खिले नयन खिले कमलों की सुन्दरता को भी हरने वाले हैं– अर्थात् कमल से भी बढ़कर विकसित और सुन्दर हैं। खेलने के कारण धूल से भरे चारों बालक बड़ी ही शोभा पा रहे हैं। अपनी सुन्दरता से कामदेव की सुन्दरता को मात दे रहे हैं। उनके

मुखों में दूधिया दाँत बादलों में चमकने वाली बिजली के समान चमक कर सभी को चमत्कृत कर देते हैं। इस प्रकार वे सब बाल–लीलाएं या बालकों के समान खेलते हुए बार–बार जोर से किलकार उठते हैं। तुलसीदास कहते हैं, इस प्रकार राजा दशरथ के ये चारों बेटे अपने स्वाभाविक बाल–खेल–खेलते हुए हमेशा मेरे मन रूपी मन्दिर में निवास करते रहें।

विशेष– बाल–स्वभाव और खेल–कूद का स्वाभाविक वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। यह वर्णन सूरदास के काव्य से निश्चय ही विशेष प्रभावित है।

उपमा, दीपक, रूपक और अनुप्रास आदि अलंकारों की सहज छटा दर्शनीय है। 'मन–मन्दिर' पद में रूपक की योजना के साथ पवित्रता की अभिव्यंजना भी की गई है। वात्सल्य एवं भक्ति–रसों का समन्वित प्रभाव भी दर्शनीय है।

रानी मैं जानी अजानी महा, पवि-पाहनहू तें कठोर हियो है।
राजहूँ काजु-अकाजु न जान्यो, कह्यौ तियको जेहिं कान किये है।
ऐसी मनोहर मूरति ए, बिछुरैं कैसे प्रीतम लोगु जियो है।
आँखिन में सखि राखिबे जोगु, इन्हें किमि कै बनबास दियो है।।२।।

शब्दार्थ– मैं जानी = मेरी समझ के अनुसार। अयानी = अज्ञानी, ना समझ। पवि = बज्र। पाहन = पत्थर। हियो = हृदय। काजु–अकाजु = भला–बुरा। कह्यौ = कहना। तियको = नारी का। जेहि = जिसने। कान दियो है = सुना, माना। किमि कै = किस प्रकार से।

प्रसंग– राम–लक्ष्मण के वनवास की बात सुनकर रानी कैकेयी और राजा दशरथ के व्यवहार की ग्राम–बन्धुओं के माध्यम से आलोचना करते हुए कविवर तुलसीदास कह रहे हैं :

व्याख्या– एक ग्राम बधू दूसरी से कहने लगी–इन पथिकों को और इनके वनवास की कहानी सुनकर, जहाँ तक मैं समझ पाई हूँ, यही लगता है कि रानी कैकेयी बड़ी ही अज्ञानी है। उसका हृदय वज्र और पत्थर से भी कठोर प्रतीत होता है। राजा दशरथ भी विशेष विचारशील प्रतीत नहीं होते। तभी तो वह अपना और सबका भला–बुरा सोच पाने में असमर्थ रहे और उन्होंने रानी कैकेयी की बातों पर कान दिये। अर्थात् कैकेयी की बात मान इन लोगों को चौदह वर्षो के वनवास की आज्ञा देकर राजा दशरथ ने अपनी बुद्धिमता का परिचय नहीं दिया है। इन तीनों का स्वरूप तो इतना सुन्दर, कोमल और आकर्षक है कि पता नहीं, इनसे बिछुड़ कर इनके प्रियजन जीवित कैसे रह पाए होंगे? हे सखि! ये तीनों तो आँखों में बसाने के योग्य हैं। इनको राजा दशरथ और रानी कैकेयी ने किस कलेजे से वनवास की आज्ञा दी होगी? अर्थात् अपना हृदय अत्यन्त कठोर बनाकर ही वे लोग ऐसा कर पाए होंगे।

विशेष– जन–आक्रोश का भाव स्पष्ट है। ग्रामीण–नारियों का भोला विश्वासभाव और आक्रोश भी वर्ण्य विषय के अनुरूप ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पड़ा है।

प्रश्न और अनुप्रास अलंकार हैं। प्रसाद गुण–प्रधान, भाषा कथ्य को उभारने में पूर्ण सफल रही है।

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकीं जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ, कछु मुसुकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदय बिगसीं मनो मंजुल कंज कली।।३।।

शब्दार्थ– बैन = बोल, वचन। सुधारस साने = अमृत के समान मधुर। सयानी = समझदार, चतुर। सैन = संकेत। तेहि औसर = उस समय। सोहैं = शोभा पातीं। अवलोकति = देखतीं। लोचन–लाहु = नेत्रो का लाभ। अली = सखियाँ, ग्राम वधुएँ। तड़ाग = सरोवर। भानु = सूर्य। विगसीं = खिल उठीं। मंजुल = सुन्दर। कंज = कमल।

प्रसंग– ग्राम वधुओं के विनोदपूर्ण प्रश्न के उत्तर में अपने पति राम का उन्हें परिचय देने के लिए सीता ने जो सांकेतिक क्रियाएँ कीं, उनका रोचक वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कह रहे हैं :

व्याख्या– ग्राम–वधुओं के अमृत के समान मधुर वचनों और उनमें छिपे विनोदभावों को सीता ने मन में जान लिया कि ये सभी बड़ी ही चतुर एवं विनोद–मुद्रा में हैं। अतः सीता ने भी उन्हीं की तरह चतुराई और विनोद भाव से काम लिया। वह तिरछे नयनों से राम की ओर देख, संकेत से उन्हें समझाया कि यह मेरे पति हैं, मुस्करा कर आगे बढ़ गईं। तुलसीदास कहते हैं कि उनकी इस क्रिया से प्रसन्न सभी ग्राम–वधुएँ अपना नयन–लाभ पाने लगीं– अर्थात् उनके दर्शन से नयन सफल–सार्थक करने लगीं। उस क्षण उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रेम–रूपी–सरोवर में राम–रूपी सूर्योदय होने पर उनके दर्शन–स्पर्श पा सबके नयन रूपी कलियाँ खिल उठी हों।

विशेष– कवि ने सीता के हाव–भाव प्रदर्शन द्वारा पति राम का परिचय देने की नारी–सुलभ प्रक्रिया का अत्यन्त सजीव–स्वाभाविक वर्णन किया है। क्रिया–चातुरी और वाणी–विदग्धता निश्चय ही विशेष दृष्टव्य है। अन्तिम पंक्तियों में गम्योत्प्रेक्षा एवं गूढ़ोक्ति अलंकारों के साथ–साथ सानुप्रासिकता दर्शनीय है। संयोग श्रृंगार का भाव स्पष्ट है। भाषा माधुर्य गुणमयी एवं सप्रवाह है।

बालधी बिसाल बिकराल, ज्वाल जाल मानो,
लंक लीलबे को काल-रसना पसारी है।
कैंधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि-सी उघारी है।
'तुलसी' सुरेस-चापु' कैंधो दामिनि-कलापु,
कैंधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखें जातुधान-जातुधानीं अकुलानि कहैं,
काननु उजारयो, अब नगरू प्रजारि हैं।।४।।

शब्दार्थ– बालभी बिसाल = लम्बी पूँछ। विकराल = भयानक। लीलिबे = निगलने। रसना = जीभ। पसारी = फैलाई। कैंधों = अथवा या फिर। ब्योम–बीथिका = आकाश मांग। भूरि = बहुत सारे। धूमकेतु = पुच्छल तारे। तरवारि = तलवार। उघारी

हैं = खोल रखी, नंगी। सुरेसु–चापु = इन्द्र धनुष। दामिनी–कलापु = बिजली–समूह। मेरु तें = सुमेरु पहाड़ से। कृसानु–सारे = आग की धारा। जातुधान = राक्षस। जातुधानीं = राक्षसिया । काननु = वन, अशोक–वाटिका। उजारिहैं = जला देगा।

प्रसंग– महावीर हनुमान की जलती पूंछ को देख अनेक प्रकार की उपमाओं द्वारा उसका तथा राक्षस–राक्षसियों की प्रतिक्रिया का वर्णन करते हुए कविवर तुलसीदास कह रहे हैं :

व्याख्या– महावीर हनुमान की आग से जलती हुई पूंछ देखकर लगता है, मानो वह आग की लपटों का भयानक जाल हो, जो सारी लंका को अपने में समेट लेना चाहता है। या फिर लगता है यह जलती हुई पूंछ नहीं, बल्कि स्वयं काल देवता ने लंका को निर्गल जाने के लिए अपनी लम्बी और भयानक जीभ फैला रखी है। या फिर लगता है कि जलती पूंछ नहीं, बल्कि आकाश–मार्ग पर अनेकों पुच्छल तारे भर कर घूम रहे हैं। या फिर इस जलती हुई पूंछ के रूप में वीर भाव से भरे किसी वीर ने शत्रुओं का नाश करने के लिए नंगी तलवार उघाड़ रखी है। तुलसीदास कहते हैं, यह हनुमान की जलती हुई पूंछ नहीं, बल्कि इन्द्रधनुष है जो आकाश पर छा रहा है, या फिर बादलों में चमकतीं बिजलियों का समूह है, जो लंका पर गिरकर उसे नष्ट–भ्रष्ट कर देना चाहता है। या फिर ऐसा लगता है कि यह हनुमान जी की लम्बी पूंछ नहीं, बल्कि सुमेरू पर्वत से बह निकलने वाली अग्नि या ज्वालामुखी की धारा है। इस प्रकार हनुमान जी की जलती हुई पूँछ को देखकर लंकावासी राक्षस–राक्षसियां व्याकुल होकर आपस में कहती हैं– पहले इस (हनुमान) ने अशोक वन को उजाड़ा था, अब यह सारे नगर को जला कर राख कर देगा।

विशेष– कवि ने महावीर हनुमान की जलती पूंछ का अत्यन्त सजीव, अनेकविध वर्णन किया है। अन्तिम पंक्तियों में लंकावासियों पर छाये आतंक का भाव भी दर्शनीय है। वर्णन में चित्रात्मकता, गतिशीलता और प्रवाह वर्ण्य विषय के सर्वथा अनुरूप कहा जाएगा। पद्य को भयानक रस का अच्छा उदाहरण कह सकते हैं। भाषा में सजीवता और ओज गुण की प्रधानता है। प्रथम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार है। शेष पंक्तियों को सन्देह अलंकार का अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। 'प्रजारिहैं' पद श्लिष्ट या श्लेषपूर्ण है।

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नामु, हिएँ पुनि रामहि को थलु है।।
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है।।५।।

शब्दार्थ– अगाध = गहरा, अथाह। अनूप = अनुपम, उपमा–रहित। बिलोचन–मीनन को = नयनरूपी मछलियों के लिए। श्रुति = कान। हिएँ = हृदय में। थलु स्थल, स्थान। मति = बुद्धि। गति = सक्रियता। रति = अनुराग, प्रेम। बलु है = शक्ति है। मतें = मत या विचार में।

प्रसंग– भगवान श्रीराम के सर्वभाव से समर्पित हो जाने में ही जीवन की सार्थकता है, यह विचार प्रकट करते हुए, इस पद्य में कविवर तुलसीदास कह रहे हैं:

व्याख्या– इस संसार में मेरे लिए श्रीराम और सीता का अनुपम, साकार

स्वरूप का सौन्दर्य ही नयन–रूपी मछलियों के लिए जल के समान है। अर्थात् जैसे मछली गहरे जल में ही सुख–सन्तुष्टि एवं जीवन पाती है, उसी प्रकार मेरे नयन श्रीराम–सिया के साकार सौन्दर्य का दर्शन करकें ही सुख–सन्तोष प्राप्त करते हैं। मेरे कानों में हर क्षण श्रीराम की कथा, मुख में श्रीराम का नाम और हृदय में राम का स्थान या निवास ही सुखकर है। अर्थात् कान, मुख और हृदय आदि अंगों की सार्थकता श्रीराम के नाम–रूप के वर्णन स्मरण से ही है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। मेरी बुद्धि सक्रियता अनुराग–प्रेम सभी कुछ श्रीराम की भक्ति और कृपा से है। मेरा बल तो संसार में एकमात्र भगवान श्रीराम की भक्ति और कृपा से है। मेरा बल तो संसार में एकमात्र भगवान श्रीराम ही हैं। कविवर तुलसीदास कहते हैं, मैं औरों की बात नहीं जानता, अतः सबके मन की बात कह भी नहीं रहा, परन्तु मेरे अपने मत में इस संसार में मनुष्य रूप में जन्म लेने और जीवन धारण करने का फल बस इतना ही है अर्थात् श्रीराम अर्पण में ही जीवन की सार्थकता–सफलता है।

विशेष– कवि ने श्रीराममय जीवन को ही सफल–सार्थक बताया है। कवि ने यहाँ नवधा भक्ति के कई अंगों का बड़ी कुशलता से संकेतित प्रतिपादन कर महत्वांकन किया है। पद्य में उल्लेख, आत्मतुष्टि और प्रमाण अलंकार है। भाषा अनुप्रासमयी, माधुर्य एवं प्रसाद–गुणों से समन्वित है।

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जगु, संत कहंत जे अंतु लहा है।
ताको सहै सठ! संकट कोटिक, काढ़त दंत, करंत हहा है।।
जानपनीको गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है।।६।।

शब्दार्थ– जगु = संसार। कहंत = कहते हैं। जे = जिन्होनें। अंतु लहा है = अन्त या सार जान लिया है। ताको = उसको। सहै = सहन करे। सठ = दुष्ट। कोटिक = करोड़ों। काढ़त दंत = दाँत निकालना, बेचारगी में गिड़–गिड़ाना, दाँत निपोरना। करंत हहा है = हाय–हाय करता है। जानपनी = ज्ञानपने, ज्ञानी होने। गुमान = घमण्ड। जानकी–जीवन = श्रीराम। जान = ज्ञान। जान्यो = जाना। जान = ज्ञानी।

प्रसंग– श्रीराम के नाम को पहचान उनकी भक्ति करना ही सच्चा एवं वास्तविक ज्ञान है, अपने मतानुसार इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कविवर तुलसीदास कह रहे हैं :

व्याख्या– जिन सन्त जनों ने इस संसार का अन्त या सार तत्व अपने व्यापक अनुभवों से प्राप्त कर लिया है, वे लोग यह बात बार–बार पुकार–पुकार कर कहते हैं कि यह संसार झूठा है– एकदम झूठा एवं सारहीन है। हे दुष्ट! यह सब जान–सुनकर भी तू उसी संसार और उसके क्षणिक भौतिक सुखों को पाने के लिए करोड़ों प्रकार के कष्ट उठाता और संकट झेलता है। दाँत निपोरकर इस झूठे संसार के लिए ही हमेशा हाय–तौबा मचाए रखता है। तुझे अपने ज्ञानी होने का, लगता है बड़ा ही घमण्ड हो गया है। पर तुलसीदास कहते हैं, वास्तव में राम से विमुख तेरी स्थिति एक महागंवार के समान ही है। हे मूर्ख प्राणी! जिसे तू ज्ञान और ज्ञानीपन मानकर गर्व कर रहा है, उस ज्ञान के द्वारा जानकी जीवन श्रीराम को, उनकी भक्ति को नहीं

पहचाना, तो ज्ञानी कहलाते हुए भी वस्तुतः तू अज्ञानी ही रहा। अर्थात् तूने कुछ भी नहीं जाना और अपनी ज्ञानवानता को व्यर्थ ही गंवा दिया।

विशेष– कवि ने ज्ञान और ज्ञानी के वास्तविक स्वरूप को अपनी मान्यता के अनुरूप उजागर किया है। इसे हम भक्ति–मार्गी, सगुणोपासक तुलसीदास द्वारा ज्ञान–योग–मार्ग का खण्डन करना भी कह सकते हैं। पद्य में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति प्रकाश आदि कई अलंकार हैं। पद्य की भाषा प्रसाद ओज–गुणों से युक्त है।

को भरिहै हरिके रितएँ, रितवै पुनि को, हरि जौं भरिहै।
उथपै तेहि को, जेहि रामु थपै, थपिहै तेहि को, हरि जौं टरिहै।।
तुलसी यहु जानि हिएँ अपने सपने नहि कालहु तें डरिहै।
कुमयाँ कछु हानि न औरनकीं, जो पै जानकी-नाथु मया करिहै।।७।।

शब्दार्थ– को = कौन। भरिहै = भर सकता। हरिकें = भगवान के। रितएँ = खाली कर देने पर। रितवै = खाली कर सकता। उथपै = उखाड़े। थपै = स्थापित करें। जौं = जिसे यदि। टरिहैं = टाल दें। जानि हिएँ = हृदय में जानकर। कुमयाँ = अकृपा, क्रोध। औरन = दूसरे। जो पै = यदि। मया = कृपा। करिहै = करेंगे।

प्रसंग– भगवान की कृपा के अभाव में जीवन को व्यर्थ और असम्भव बताते हुए कविवर तुलसीदास कह रहे हैं :

व्याख्या– इस संसार में जिस मनुष्य के जीवन को भगवान ही खाली कर दे, उसे भला अन्य कौन भर या पूर्ण बना सकता है? इसके विपरीत स्वयं कृपा करके भगवान जिसके जीवन को भर या पूर्ण बना देते हैं, उसे कोई खाली या अपूर्ण नहीं कर सकता। इसी प्रकार श्रीराम जिसे कृपा कर एक बार स्थापित या प्रतिष्ठित कर देते हैं, उसे फिर कोई उखाड़ या बिगाड़ नहीं सकता। परन्तु जिसे स्वयं भगवान उखाड़ या बिगाड़ देते हैं, अन्य किसी के द्वारा न तो उसकी बिगड़ी बन ही सकती है और न ही वह पुनः स्थापित ही हो सकता है। अतः तुलसीदास कहते हैं, इस तथ्य को मन में भली प्रकार जान–समझ लेने के बाद कभी काल से भी नहीं डरना चाहिए। हमेशा यही स्मरण रखने की आवश्यकता है कि जब हमें जानकीनाथ श्रीराम की कृपा–दृष्टि प्राप्त है तो अन्य किसी की अकृपा या कुदृष्टि हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

विशेष– श्रीराम के प्रति अनन्य आस्था रखने की प्रेरणा ही प्रमुखतः कवि ने प्रदान की है।

नामु अजामिल-से खल तारन, तारन बारन-बारबधू को।
नाम हरे प्रहलाद-बिषाद, पिता-भय-साँसति-सागरु सूको।।
नामसों प्रीति-प्रतीति-बिहीन गिल्यो कलिकाल कराल, न चूको।
राखिहैं रामु सो जासु हिएँ तुलसी हुलसै बलु आखर दू को।।८।।

शब्दार्थ– खल = दुष्ट, पापी। तारन् = तारने, उद्धार करने वाला। बारन = हाथी, गजराज। बारबधू = वेश्या, गनिका। हरे = हर लिए, दूर कर दिए। विषाद = दुःख। साँसति = संकट, कष्ट। सागर सूँ = सागर के समान अपार, अथाह। प्रीति =

प्रेम। प्रतीति–बिहीन = विश्वास रहित। गिल्यो = निगल गया। कराल = भयानक। न चूको = चूका नहीं, भूल नहीं की। जासु हिएँ = जिसके हृदय में। हुलसै = आनन्दित हो। आखर द = 'रा' और 'म' – राम नाम के दो अक्षर।

प्रसंग– दो अक्षर के संगम– राम–नाम का महात्म्य बताते हुए इस पद्य में **कविवर तुलसीदास** कह रहे हैं :

व्याख्या– राम–इन दो अक्षरों के नाम में इतना प्रताप और प्रभाव है कि इनके उच्चारण से अजामिल जैसा महापापी भी भवसागर से पार उतर गया। इसी नाम के प्रताप और प्रभाव ने गज को ग्रह से छुटकारा दिलाया और गनिका जैसी पतिता नारी का उद्धार किया। दो अक्षरों के नाम के प्रभाव ने भक्त प्रहलाद के सारे कष्ट मिटा दिए और पिता हिरण्याकश्यप से प्राप्त भय एवं कष्ट–रूपी सागर तक को सुखा दिया। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के मन में राम–नाम से प्रेम और विश्वास का भाव नहीं रहता, भयानक कलिकाल उसे निगल जाने से कभी चूकता नहीं, अर्थात् राम–नाम–विहीन व्यक्ति को वह अवश्य ही निगल कर समाप्त कर दिया करता है। यह सब देख–सुन **कविवर गोस्वामी तुलसीदास** दावे के साथ कहते हैं, जिस मनुष्य के हृदय में 'राम' नाम के दो अक्षरों का आनन्द भाव भरा रहता है, उस की रक्षा श्रीराम की कृपा से स्वतः ही हो जाती है। अर्थात् कलिकाल या अन्य कोई सच्चे राम–भक्त का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

विशेष– कवि ने पुराण–कथित पात्रों के उद्धार के माध्यम से राम–नाम का महत्व दर्शाया है। कलिकाल के विषम प्रभावों से मुक्ति का उपाय भी राम–नाम पर आस्था रखने को रेखांकित किया है। वर्णन और अनुप्रास अलंकार है। पद्य की भाषा प्रसाद गुण प्रधान है।

भौंह-कमान संधान सुठान जे नारि-बिलोकनि-बानतें बाँचे।
कोप-कृसानु गुमान-अवाँ घट-ज्यों जिनके मन आव न आँचे।।
लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि-ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।
नीके हैं साधु सबै तुलसी, पै तेई रघुवीर के सेवक साँचे।।६।।

शब्दार्थ– भौंह–कमान = भृकुटि रूपी धनुष। संधान = निशाना। सुठान = अच्छी प्रकार साधकर। नारि–बिलोकनि–बान = नारी की चितवन रूपी बाण। बाँचे = बचे हुए। कोप–कृसानु = क्रोध रूपी आग। गुमान–अवाँ = घमण्ड रूपी आवा, कुम्हार की भट्टी। घट ज्यों = घड़े के समान। आव न आँचे = आँच (सेंक) नहीं आतीं। कपि–ज्यौं = वानर के समान। नीके = अच्छे।

प्रसंग– सांसारिक माया–मोह आदि से विरक्त रहने वाले को ही प्रभु श्रीराम का सच्चा सेवक बताते हुए कविवर तुलसीदास कह रहे हैं :

सन्दर्भ– उपरोक्त

व्याख्या– संसार में जो लोग नारी के भृकुटी–रूपी धनुष पर कसकर या निशाना साधकर चढ़ाए हुए कटाक्ष या तिरछी चितवन रूपी बाण से हमेशा बचे रहते अर्थात् नारी के रूप–जाल में नहीं उलझते हैं, जो लोग घमंण रूपी आवे (भट्टी, वर्सन पकाने वाली) में क्रोध–रूपी अग्नि की लपटों में अपने मन रूपी घड़े को तपने–पकने

नहीं देते अर्थात कभी भी क्रोध से मन मस्तिष्क को दूषित नहीं होने देते? जो लोग लोभ लालच रूपी नट के हाथों में पड़कर इस असार संसार में हर समय बन्दर की तरह अनेक प्रकार के नाच नहीं नाचते रहते अर्थात् तृष्णाओं में पीछे भाग कर बेहाल नहीं होते रहते, **कविवर तुलसीदास** कहते हैं– मेरे विचार में ऐसे लोग ही भगवान श्रीराम के सच्चे सेवक और भक्त होते या हो सकते हैं। यों तो सभी साधु–सन्त अच्छे होते हैं, पर भक्ति और कृपा बिना वास्तविक साधना सम्भव नहीं।

विशेष– कवि ने राम भक्ति का महत्व निभ्रतित रूप में प्रतिपादित करके उनकी शरणागत की प्रेरणा दी है। पद्य में रूपक एवं उपमा अलंकार हैं। भाषा प्रसाद गुण प्रधान है।

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
'राम कहां?' सब ठाउं हैं' खंभ में?' हां, सुनि हाँक न केहरि जागे।
बैरि बिदारि भए बिकराल, कहें प्रह्लादहिकें अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तबतें सब पाहन पूजन लागे।।१०।।

शब्दार्थ– काढ़ि = निकाली। कृपान = तलवार। पितुः = पिता, हिरण्य–कश्यप। काल कराल = काल के समान भयानक। बिलोकि = देखकर। ठाऊँ = स्थान। खंभ = खम्भा, स्तम्भ। हाँक = ललकार, हुँकार कर। नृकेहरी = नरसिंह भगवान। जागे = प्रगट हुए। बिदारि = चीर–फाड़कर। भए = हुए। विकराल = भयानक। प्रतीति = विश्वास। पाहन = पत्थर।

प्रसंग– पत्थर (मूर्ति–पूजा) के रूप में भगवान की पूजा क्यों और कब से आरम्भ हुई, इस तथ्य को अपनी मान्यता के अनुसार प्रगट करते हुए **तुलसीदास** इस पद्य में कह रहे हैं :

व्याख्या– कठोर एवं अहंकारी स्वभाव वाले कठोर हृदय पिता हिरण्यकश्यप ने अपने रामभक्त बेटे प्रहलाद को मारने के लिए तलवार खींचकर म्यान से निकाल ली। इस प्रकार अपने पिता का काल के समान भयानक स्वरूप देखकर भी भक्त प्रहलाद भागे अर्थात् डरे या घबराए नहीं। तलवार खींच, क्रोध में भरकर पिता हिरण्य कश्यप ने बेटे प्रहलाद से कहा–तुम्हारा राम कहाँ है? भक्त प्रहलाद ने उत्तर दिया– मेरा राम सभी जगह रमता है। क्रोधावेश में भरकर गर्म खम्भे की ओर इशारा करते हुए हिरण्यकश्यप ने फिर प्रश्न किया– क्या इस खम्भे में भी तुम्हारे भगवान राम निवास करते हैं? तब प्रहलाद ने दृढ़ और विश्वास–भरे स्वर में कहा– हाँ! इस खम्भे में भी भगवान राम रहते हैं। इस प्रकार अपने प्रेमी भक्त प्रहलाद की प्रेम–विश्वास भरी हाँक या ललकार को सुनकर उस गर्म खम्भे से भगवान नृसिंह (अवतार) के रूप में वहीं प्रगट हो गए। बड़े ही भयानक बनकर उन्होंने अपने भक्त प्रहलाद के वैरी को तीखे नाखूनों से चीर–फाड़ डाला। जब भक्त प्रहलाद ने प्रार्थना की तभी उनका जागृत क्रोध शान्त हो सका। **गोस्वामी तुलसीदास** कहते हैं– इस घटना के बाद लोगों का प्रेम और विश्वास भाव भगवान के प्रति अत्यधिक बढ़ गया। तभी से लोग, क्योंकि भगवान पत्थर के खम्भे से प्रगट हुए थे, पत्थर की बनी मूर्तियों की पूजा करने लगे।

विशेष– संक्षेप में, इस पद्य में नृसिंह अवतार की कथा की पूरी रूप रेखा आ गई है। पद्य में प्रश्न अलंकार है। कथात्मक शैली और प्रसादात्मक भाषा है।

अंतरजामिहुतें बड़े बाहेरजामि हैं रामु, जे नाम लियेतें।
धावत धेनु पेन्हाई ज्यों बालक-बोलनि कान कियेतें।
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबेकी न बावरि बात बियेतें।
पैज परें प्रहलादहुको प्रगटे प्रभु पाहनतें, न हिये तें।।११।।

शब्दार्थ– अंतरजामिहु तें = अन्तर्यामी से भी। बाहरे जामि = बाहर की जानने वाले, सगुण = साकार। जे = जो। नाम लिये तें = नाम लेने से। धावत = दौड़े आते। धेनु = गाय। पेन्हाइ = दूध उतरने पर। लवाई = हाल की ब्यायी, प्रसूता। बोलनि = वचन। अपनी बूझि = अपनी समझ के अनुसार। कहिबे की = की। बावरि = बावली, दीवानगी से भरी। बियेतें = दूसरों से। पैज परे = प्रतिज्ञा में बंधे। पाहन तें = पत्थर के स्तम्भ से। हिये तें = हृदय से।

प्रसंग– निर्गुण–निरकारवाद का खण्डन कर, प्रहलाद की कथा के माध्यम से सगुण–साकार वाद का महत्व प्रतिष्ठापित करते हुए, इस पद्य में **कविवर तुलसीदास** कह रहे हैं :

सन्दर्भ– उपरोक्त

व्याख्या– भगवान (राम) अन्तर्यामी अर्थात् निर्गुण–निराकार से भी बढ़कर सगुण–साकार हैं। तभी तो नाम मात्र लेने से ही वे अपने भक्तों की लाज बचाने के लिए उसी प्रकार दौड़े आते हैं, जैसे नई ब्याई गाय दूध उतरने और अपने बछड़े की आवाज कान में पड़ते ही उसे दूध पिलाने के लिए भागी आया करती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि मैं ये सब बातें अपनी समझ और अनुभव के आधार पर ही कह रहा हूँ, यद्यपि इस प्रकार की बावली या अबूझ कही जाने वाली बातें दूसरों से नहीं कहनी चाहिए। पर अनुभव और घटित घटनाक्रम यह स्पष्ट बताता है कि अपने भक्त प्रहलाद की प्रतिज्ञा के बन्धन में बंधे हुए भगवान उसकी रक्षा करने के लिए पत्थर के खम्भे से प्रगटे हुए थे, किसी के हृदय से नहीं।

विशेष– कवि ने मूर्ति पूजा के विरोधियों को अनुभव सिद्ध जवाब देकर मूर्ति–पूजा का महत्व प्रतष्ठापित किया है। इस प्रकार सगुण–साकारवाद का मण्डन एवं निर्गुण–निराकार वाद का खण्डन भी स्पष्ट है। पद्य में उदाहरण अलंकार है। भाषा प्रसादात्मक है।

गीतावली

रहहु भवन हमरे कहे, कामिनी !
सादर सासु-चरन सेवहु नित, जो तुम्हरे अति हित गृह-स्वामिनि।।
राजकुमारि ! कठिन कंटक मग, कयों चलिहौ मृदु पद गजगामिनि।
दुसह बात, बरषा, हिम, आतप कैसे सहिहौ अगनित दिन जामिनि।।
हौं पुनि पितु-आग्या प्रमान करि ऐहौं बेगि सुनहु दुति-दामिनि।
तुलसिदास प्रभु बिरह-बचन सुनि सहि न सकी, मुरछित भइ भामिनि।।१।।

शब्दार्थ– बात = पवन। आतप = घाम, गर्मी। जामिनि = रात। दुतिदामिनि = विद्युत कान्ति से युक्त।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश कविवर तुलसी दास द्वारा रचित गीतावली के अयोध्याकाण्ड से अवतरित की गई हैं।

व्याख्या– [फिर सीताजी को साथ चलने के लिए हठ करती देख भगवान् राम ने कहा–] 'हे प्रिये !' हमारे कहने से तुम घर ही रहो। हे गृहस्वामिनि ! तुम सास के चरणों की सर्वदा आदर पूर्वक सेवा करो, यह तुम्हारे लिए अत्यन्त भली बात होगी। हे राजकुमारि ! वन का मार्ग बड़ा ही कठिन और कण्टकाकीर्ण है। हे गजगामिनी ! तुम अपने कोमल चरणों से उस पर कैसे चल सकोगी; अगणित दिन और रात्रियों तक तुम दःसह वायु, वर्षा, शीत और घाम कैसे सहन कर सकोगी। हे विद्युत्कान्तिमयि ! मै भी पिताजी की आज्ञा का पालन कर शीघ्र ही लौट आऊँगा। तुलसीदास जी कहते हैं– प्रभु के ये वियोग–सूचक वचन सुनकर सीता जी उन्हें सह न सकीं और मूर्च्छित हो गयीं।

जो पै हौं मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी! जगमें या मुखकी कहाँ कालिमा ध्वैहौं।
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि कौन मानिहै साँचि।
महिमा-मृगी कोन सुकृति की खल-बच-बिसिषन बाँची।।
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जोइ सूझै।
दीनबन्धु कारुण्य-सिंधु बिनु कौन हिये की बूझै।।
तुलसी रामबियोग बिषम-बिस-बिकल नारि-नर भारी।
भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी।।२।।

शब्दार्थ– मते = मत में, राय में। कालिमा = कलक, कालापन। सुचि = पवित्र। सुकृती = पुण्यात्मा, पुण्यकर्म करने वाला। खल–बच–बिसिखन = दुष्टों के वचनरूपी बाण से। बाँची = बची। सुधा = अमृत।

सन्दर्भ– उपरोक्त पद संख्या १ के अनुसार रहेगी।

व्याख्या– [भरतजी माता कौसल्या से कहते हैं–] 'मातः ! यदि मैं अपनी माता के मत में सहमत होऊँ तो अब संसार में इस मुख की कालिमा को कहाँ धो सकूँगा ? आज सौगन्ध खाने से मैं कैसे निर्दोष हो सकता हूँ ? मेरी बात को सच भी कौन मानेगा? भला, किस पुण्यवान् की महिमारूप मृगी दृष्टों के वाग्बाणों से विद्ध हुए बिना बची है ? किसी की जीभ नहीं पकड़ी जा सकती, इसलिये जिसको जैसा सूझता हो, वह वैसा ही कहे। मेरे हृदय की बात तो करुणासागर दीनबन्धु भगवान् राम के बिना और कौन जानेगा?' तुलसीदासजी कहते हैं– श्री राम के वियोगरूप विषम विष से सब नर–नारी बहुत व्याकुल हो रहे थे। उस समय भरतजी के स्नेहरूप अमृत से सींचे जाकर वे सब सुखी हो गये।

अतिहि अधिक दरसनकी आरति।
राम-बियोग असोक-बिटपतर सीय निमेष कलपसम टारति।।
बार-बार बर बारिजलोचन भरि भरि बरत बारि उर ढारति।
मनहु बिरह के सद्य घाय हिये लखि तकि-तकि धरि धीरज तारति।

तुलसीदास जद्यपि निसिबासर छिन-छिन प्रभुमूरतिहि निहारति।
मिटथ्त न दुसह ताप तउ तनकी, यह बिचारी अंतर गति हारति।।३।।

शब्दार्थ– आरति = व्याकुलता। निमेष = पलक मारने का समय। बरत = जलता हुआ, गर्म। बारिज = कमल। सद्य = तुरन्त।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित सीताजी को राम से मिलने की इच्छा का प्रकटीकरण किया गया है।

व्याख्या– जानकी जी को आपके दर्शनों की बड़ी ही लालसा है। वे रामवियोग में उस अशोकवृक्ष के नीचे एक–एक पल को कल्प के समान बिताती हैं। वे अपने कमल रूप नेत्रों में गर्म जल भरकर बारम्बार अपने हृदय पर डालती हैं, मानो हृदय में विरह के नये–नये घाव देखकर वे धैयपूर्वक तक–तककर उन्हें गर्म जल की धारा से धोती हैं। तुलसीदास कहते हैं– यद्यपि वे रात–दिन क्षण–क्षण में प्रभु की मूर्ति का दर्शन करती हैं तो भी उनके शरीर का दुःसह ताप दूर नहीं होता। अतः आपके वाह्य वियोग के सामने उनका ध्यानादिजनित आन्तरिक सुखहार मान जाता है।

पदपदुम गरीबनिवाजके।
देखिहौं जाइ पाइ लोचन-फल हित सुर-साधु-समाजके।।
गई बहोर, ओर निरबाहक, साजक बिगरे साजके।
सबरी सुखद, गीध-गतिदायक, समन सोक कपिराजके।।
नाहिन मोहि और कतहूँ कछु, जैसे काग जहाजके।
आयो सरन सुखद पदपंकज चोंथे रावन-बाजके।।
आरतिहरन सरन, समरथ सब दिन अपनेकी लाजके।
तुलसी 'पाहि' कहत नत-पालक मोहुसे निपट निकाजके।।४।।

शब्दार्थ– निवाज = कृपा करने वाला। बहोर = लौटाने वाला। साजक = सजाने वाले, संभालने वाले। समन = शमन करने वाला, शान्त करने वाला। निकाज = बिना काम का।

सन्दर्भ– उपरोक्त पद्य के समान है।

व्याख्या– 'अहो ! अब मैं गरीबनिवाज भगवान् राम के उन चरणकमलों को जाकर देखूँगा और नयनों का फल पाऊँगा जो देवता और साधुसमाज के लिये अत्यन्त हितकर हैं। भगवान् राम बीते सुख को वापिस लाने वाले, अन्ततक रक्षा करने वाले और बिगड़ी बात को बना देने वाले हैं। वे शबरी को सुख देने वाले, गृध्र की मुक्ति करने वाले और कपिराज सुग्रीव के शोक को शान्त करने वाले हैं। जहाज के काग के समान मुझे और कहीं कोई आश्रय नहीं हैं। अतः अब मैं रावणरूप बाज से पीड़ित होकर उन्हीं के सुखदायक चरणकमलों की शरण आया हूँ। वे सदा ही अपने भक्तों की लज्जा रखने में समर्थ और शरणागतों के दुःख को दूर करने वाले हैं।' तुलसीदासजी कहते हैं कि 'रक्षा करो' ऐसा कहने पर तो वे मुझ–जैसे अत्यन्त निकम्मे पुरुषों के भी शरणागत–पालक हैं।

मेरे सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंध-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।।
सुनु, सुग्रीव ! साँचेहू मोपर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता।।
गिरि, कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
हैहै कहा बिभीषनकी गति रही सोच भरि छाती।।
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे।।५।।

शब्दार्थ– साखामृग = वानर। सँघाती = साथी। प्रचारे = उत्तेजित किया, ललकारा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पंक्तियां गीतावली के लंकाकाण्ड से ली गई हैं। कविवर तुलसीदास ने भगवान श्री राम को लक्ष्मण के वियोग में दुखी होने का वर्णन किया है।

व्याख्या– 'अब मेरा सारा पुरुषार्थ थक गया। अपनी विपत्ति को बँटाने वाले भाईरूप भुजा के बिना अब मैं किसका भरोसा करूँ। सुग्रीव ! सुनो, विधाता ने सचमुच मेरी ओर से मुँह फेर रखा है, इसी से ऐसे समय युद्ध का संकट उपस्थित होने पर मुझे लक्ष्मण–जैसे भाई ने त्याग दिया। वानर तो पर्वत और वनों में चले जायेंगे और मैं भैया लक्ष्मण का साथ पकडूँगा, परंतु मेरे हृदय में यही सोच भरा हुआ है कि विभीषण की क्या गति होगी।' तुलसीदास जी कहते हैं– प्रभु के ये वचन सुनकर सब रीछ–वानर हृदय में व्याकुल होकर थकित हो गये। जब जाम्बवान् ने हनुमान्‌जी को बुलाकर उत्तेजित किया।

विनयपत्रिका

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुरसरिता आस करत ओसकन की।।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।।
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तान की।
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति-बिसारि आनन की।।
कह लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति मन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।।१।।

शब्दार्थ– मूढ़ता = मूर्खता। परिहर = छोड़कर। धूम–समूह = धुएँ का समूह। आस = आशा। तृषित = प्यास। गच–काँच = भूमि, अर्थात् फर्श में लगा हुआ शीशा। सेन = बाज। अहार = भोजन। आनन = मुख, चौंच। विसारि = भूलकर। कहलौं = कहाँ तक। कुचाल = कुमार्ग पर चलना। निज पन = अपनी प्रतिज्ञा अर्थात् दोनों का उद्धार करने की प्रतिज्ञा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद में गोस्वामी जी ने अपने मन की इस मूर्खता का वर्णन किया है कि वह श्रीराम के भजन को त्यागकर अन्य उपायों से भव सागर पार करने की इच्छा करता रहता है।

व्याख्या– अपने परमाराध्य श्रीराम को सम्बोधित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं अपने इस मन की मूर्खता का कहाँ तक और किस प्रकार वर्णन करूँ, जो आपकी भक्ति रूपी गंगा नदी में स्नान करना छोड़कर अन्य देवी–देवताओं की पूजाराधना–रूपी ओस की बूँदों से प्यास बुझाने की चेष्टा करता रहता है अथवा राम–भक्ति–रूपी सच्चे आनन्द के स्थान पर विषय–भोगों से तृप्त होने की आशा करता रहता है। मेरे इस मूर्ख मन की दशा उस पपीहे की तरह है जो प्यास होने के कारण धुएँ के समूह को बादल समझ लेता है और उसे बादल समझकर वहाँ जा पहुँचता है। हाँ जब वह भ्रम का शिकार होकर धुएँ के समूह में पहुँचता है तो वहाँ उसको न तो शीतलता मिलती है और न जल ही मिलता है, अपितु उसे अपनी आँखों की हानि सहनी पड़ती है– उसकी आँखों में धुआँ भर जाया करता है। हे प्रभु ! मूर्ख मन की दशा उस मूर्ख बाज जैसी है जो काँच के फर्श में अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखकर उसे दूसरा पक्षी समझकर उस पर झपटा मारता है और फर्श से टकराने के कारण उसे अपनी चोंच की क्षति सहनी पड़ती है– उसकी चोंच आहत हो जाती है। हे करुणा सागर ! मैं अपने मूर्ख मन की कुचालों का कहाँ तक वर्णन करूँ, आप तो अंतर्यामी हैं। अतः आप मेरी दशा से अच्छी तरह परिचित हैं ही। गोस्वामी जी कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि मैं पापी हूँ, किन्तु आपका विरुद पतित–पावन अर्थात् पतितों का उद्धारकर्त्ता है। इसीलिए आप अपनी इस प्रतिज्ञा का स्मरण करते हुए कि मैं पतितों का उद्धारक हूँ, मेरे भी असह्य कष्टों का निवारण कर दीजिए।

विशेष–(१) गोस्वामी जी की 'ज्यों गच–आनन की' उक्ति के संदर्भ में कबीर का यह दोहा अवलोकनीय है–

"दर्शन केरी जो गुफा सोनहा पैठी धाय।
देखत प्रतिमा आपनी, भूकि–भूकि मरि जाय।"

(२) अंलकार– दृष्टान्त, भ्रांतिमान और रूपक।

अबलौ नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भय निसा सिरानी, जागे फिर न डसैहौं।।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित-कंचनहिं कसैहौ।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस हवै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं।।२।।

शब्दार्थ– अब लौ = अब तक। नसानी = नष्ट की है, बिगाड़ी है। भव–निसा = सांसारिक माया–मोह रूपी रात्रि। सिरानी = समाप्त हो गई है। डसैहौं = बिछौना बिछाऊँगा। कसैहौं = कसूँगा। मन–मधुकर = मन–रूपी भौंरा। पन = प्रतिज्ञा। बसैहौं = बसूँगा।

संदर्भ– प्रस्तुत पद में गोस्वामी जी ने यह भाव व्यक्त किया है कि सांसारिक

माया–मोह में लिप्त रहते हुए मेरी जितनी जिन्दगी बीत गई है वह तो बीत ही गई है किन्तु अब भविष्य में मैं उसको स्व–आराध्य के भजन–पूजन में व्यतीत किया करूँगा।

व्याख्या– तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरे जीवन का जितना अंश अब तक व्यर्थ की बातों अर्थात् सांसारिक मायाजाल में लिप्त रहते हुए व्यतीत हो गया है, उसका मुझे घोर पाश्चाताप है और मैं संकल्प करता हूँ कि अब अपने भावी जीवन को नहीं बिगड़ने दूँगा। आपकी कृपा से मेरी सांसारिक माया–मोह–रूपी रात्रि समाप्त हो चुकी है, मेरा अज्ञानान्धकार समाप्त हो गया है और ज्ञान उत्पन्न हो चुका है, अतः अब मैं फिर सोने के लिए बिछौना नहीं बिछाऊँगा–पुनः अज्ञानान्धकार में नहीं फँसूँगा। हे प्रभु ! अब तो मुझको आपके नाम–रूपी चिन्तामणि की उपलब्धि हो गई है। अतः अब मैं उसको अत्यधिक सम्हाल कर रखूँगा और उसको अपने हृदय अथवा हाथों से नहीं गिरने दूँगा। हे प्रभु ! अब तक मेरी इन्द्रियाँ मुझ पर इस बात के लिए हँसती रही हैं कि मैं उनके वशीभूत होकर किस प्रकार के नाच नाचता रहा हूँ– सांसारिक माया मोह में लिप्त होकर त्रिताप भोगता रहा हूँ, किन्तु अब मैं अपने मन और इन्द्रियों पर काबू कर इस हँसी से बचूंगा। गोस्वामी जी कहते हैं कि अरे मेरे मन–रूपी भ्रमर अब तू यह प्रतिज्ञा कर ले कि अब तू सदैव श्रीराम के चरण–रूपी कमलों में ही रहा करेगा–श्रीराम के चरण–वास को कभी नहीं त्यागेगा।

विशेष– (१) गोस्वामी जी का यह अत्यन्त दैन्य–पूर्ण पद है जिसकी मार्मिकता निर्विवाद है। (२) अंलकार–रूपक और सांगरूपक।

ऐसे को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर रामसरिस कोउ नाहीं।।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।।
जो सम्पति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा विभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं।।
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु, राम काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो।।३।।

शब्दार्थ– द्रवे = दयालु हो जाए। रामसरिस = राम के समान। गीध = गृद्ध अर्थात् जटायु। सिव पहँ = शिव से। चाहसि = चाहता है।

सन्दर्भ– इस पद में गोस्वामी जी ने स्व–मन को सब काम छोड़कर राम–नाम का स्मरण करने का परामर्श दिया है।

व्याख्या– स्व–मन तथा जनवासियों को प्रबोधित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि इस जगत् में श्रीराम जैसा उदार देवता अन्य कौन है, जो अपने भक्तों पर उनके द्वारा सेवा न करने की दशा में भी दयालु हो जाते हैं। श्रीराम की दयालुता पर प्रकाश डालते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि मुनि और ज्ञानी जन अनेक प्रयत्न करने पर भी योग–साधना और वैराग्य का आश्रय लेने का भी जिस बैकुण्ठ धाम में बड़ी कठिनाई से ही पहुँच पाते हैं, उस गति को आपने गृद्धराज और भीलनी शबरी को सहज ही प्रदान

कर दिया था और वह गति उनको कम ही प्रतीत हुई थी। उन्हें यह गर्व नहीं हुआ था कि मैने इनको बहुत--कुछ प्रदान कर दिया है। इसी प्रकार लंका की जिस सम्पत्ति को रावण ने शिव से अपने दस शीश समर्पित करके प्राप्त किया था, लंका--राज्य की उसी सम्पत्ति को श्रीराम ने विभीषण को बड़े ही संकोचपूर्वक प्रदान कर दिया था। गोस्वामी जी स्व--मन को प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि अरे मेरे मन ! यदि तू सभी प्रकार के सुख प्राप्त करना चाहता है तो तू श्रीराम का भजन करना आरम्भ कर दे--वे तेरे समस्त प्रकार के कार्यों को पूर्ण कर देंगे, अर्थात् तेरी सभी इच्छाएँ सफल हो जाएँगी।

विशेष– प्रभु की उदारता का 'श्री भगवद्‌गुणदर्पण' में निम्नांकित लक्षण दिया गया है– "पात्रापात्र विवेकेन देशकालाद्यु पेक्षणात्. । वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हारे।"

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगों।
श्रीरघुनाथ-कृपालु कृपा तें सन्त-सुभाव गहौंगों।।
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगों।
परहित-निरत निरन्तर, मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष गहौंगो।।
परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि-भक्ति लहौंगो।।४।।

शब्दार्थ– रहनि रहौगो = रहना आरम्भ करूँगा, इस प्रकार का जीवन व्यतीत करूँगा। गहौंगो = ग्रहण करूँगा। जथालाभ = जितना भी लाभ हो। निरत = लगा हुआ। नेम = नियम। निबहौंगो = निर्वाह करूँगा। परुष = कठोर। स्रवन = कान। पावक = आग। रहौंगो = जलूँगा। लहौंगो = प्राप्त करूँगा।

सन्दर्भ– इस पद में गोस्वामी जी ने सन्त स्वभाव ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की है।

व्याख्या– हे प्रभु ! यदि आपकी कृपा हुई तो मैं कभी--न--कभी अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति करके ही रहूँगा कि सन्तों जैसे स्वभाव को ग्रहण करके ही रहूँगा– अर्थात् सन्त--वत् जीवन व्यतीत करने लगूँगा। हे प्रभु ! सन्त--वत् जीवन यापित करते हुए मुझको जितना कुछ भी लाभ हो जाया करेगा, मैं उसी में सन्तोष कर लिया करूँगा और किसी से कुछ भी नहीं कहा करूँगा। तब मैं सदैव दूसरों की भलाई करने में लगा रहा करूँगा तथा अपने मन, वचन और कर्मों द्वारा इसी नियम का पालन किया करूँगा। हे प्रभु ! तब मैं लोगों की असहाय कठोर बातें सुनकर भी उनकी आग में नहीं जला करूँगा– लोगों की कठोर बातें मेरे हृदय को नहीं जला सकेंगी। तब मैं अपने अंहकार--भाव का नाश कर दूँगा, सभी के प्रति समत्व भाव रखूंगा और मेरा अन्तर्मन--शीतल होगा। तब मैं दूसरों के दोषों को नहीं अपितु गुणों को कहा करूँगा। हे प्रभु ! सन्त स्वभाव ग्रहण कर लेने पर मैं अपनी शरीर सम्बन्धी चिन्ताओं का परित्याग कर दूंगा तथा मुझको चाहे सुख मिले अथवा दुःख, मेरी दुःख और सुख के प्रति समत्व बुद्धि रहा करेगी। हे प्रभु ! इस मार्ग पर चलता हुआ मैं तुलसी आपकी अडिग भक्ति--भावना में निमग्न रहूँगा।

विशेष– प्रस्तुत पद में गोस्वामी जी ने जो मनोभिलाषा व्यक्त की है, उसी प्रकार की भावना व्यक्त करते हुए **श्री हरि** राम व्यास ने लिखा है–

"ऐसी कब करिहौ मन मेरी।
कर करुणा, हरवा गुंजन को, कुंजन माहि बसेरो।
ब्रजवासिन के टूक जूंठ अरु, घर–घर छाछ महेरौ।
भूख लगै तब मांगि खाइहौ, गिनौ न सांझ सबेरो।
ऐसी आस 'व्यास' की पूजै, मेरे गाम न खेरौ।।"

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम, वचन अरु ही ते।।
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन-धाम संवारे, अन्त चले उठि रीते।।
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।
अन्तहुं तोहि तजैगे पामर ! तू न तजै अबही ते।।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घी ते।।५।।

शब्दार्थ– अवसर बीते = समय निकल जाने पर। अरु = और। ही ते = ह्रदय से। दस बदन = रावण। बनितादि = पत्नी आदि। पामर = नीच। तजै = छोड़ता है।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद में गोस्वामी जी ने शीघ्रातिशीघ्र हरि–भजन आरम्भ कर देने के तथ्य पर बल दिया है।

व्याख्या– स्व–मन को तथा सांसारिक प्राणियों को सम्बोधित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि अरे मन ! तू शीघ्रांतिशीघ्र राम–स्मरण आरम्भ कर दे क्योंकि जब समय निकल जाएगा तो तेरे हाथ मात्र पश्चाताप करना ही रह जाएगा। तुझे जो मानव–योनि प्राप्त हुई, उसकी प्राप्ति बड़ी कठिनाई से हुआ करती है, अतः तू मनसा–वाचा–कर्मणा हरि–भजन करना आरम्भ कर दे। तुझे अपनी वीरता पर गर्व है तो इस तथ्य को मत भूल कि सहस्रबाहु तथा रावण जैसे वे योद्धा भी जिनके क्रमशः एक हाथ तथा दस सिर थे, महाबली काल का ग्रास बनने से नहीं बच सके हैं। वे अभिमानी नरेश जब तक जीवित रहे तब तक यह हमारा है, यह हमारा है, कहते हुए घर और मकान आदि को संचित करते एवं संवारते रहे थे, किन्तु जब उनका अंतिम समय आया अर्थात् उनकी मृत्यु हुई, तो वे इस संसार से खाली हाथी ही गए। अरे प्राणी ! तेरे जो पुत्र और पत्नी आदि सम्बन्धी हैं, वे सभी स्वार्थी हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए ही तुझको प्रेम करते हैं। अतः तेरी भलाई इसी में है कि तू उनसे प्रेम करना छोड़ दे। जब तेरा अंतिम समय आएगा, तो ये पत्नी पुत्रादि तुझको त्याग देंगे, अतः अरे अधम ! तू अभी से इन्हें क्यों नहीं त्याग देता है। अरे मूर्ख जीव ! तू अब भी सचेत होकर श्रीराम को प्रेम करना आरम्भ कर दे और सांसारिक भोग–विलासों से तृप्ति पाने की दुराशा को छोड़ दे। कारण यह है कि

काम–वासना–रूपी आग भोग–विलास रूपी घी से शांत होने के स्थान पर और भी भड़का करती है–भोग विलासों में अत्यधिक लिप्ति से प्राणी की संतुष्टि नहीं होती अपितु उसकी लालसा और भी बढ़ जाया करती है।

विशेष–(१) मृत्यु का भय दिखाकर कबीर ने भी प्राणियों को भगवद् भक्ति की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की है–

"पांचों नौबत बाजतीं, होत छतीसो राग।
सौ मन्दिर खाली पड़ा, बैठन लागे काम।
आस पास जोधा खड़े, सभी बजावैं गाल।
मांझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल।"

(२) अलंकार–अन्तिम चरण में साग रूपक।

5

बिहारी

मंगलाचरण

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोई।

जा तन की झांई परै, स्याम, हरित-दुति होई।।१।।

शब्दार्थ– भव–बाधा = सांसारिक विघ्न। झाईं = परछाहीं, झलक, ध्यान। स्यामु = श्यामवर्ण वाले कृष्ण, कृष्ण, काले रंग वाला (कल्मष, दुःख आदि)। हरित दुति = हरे रंग वाला, हरा–भरा (प्रसन्न) कान्तिरहित।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य बिहारी द्वारा रचित सतसई के प्रारम्भ में मंगलाचरण का पहला पद्य है। अपनी सतसई की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से कवि श्री राधा जी से समस्त बाधाओं को दूर करने के लिए प्रार्थना करता है।

व्याख्या– (१) हे राधा नागरी, जिसके तन की परछाई अर्थात् आभा पड़ने से श्याम वर्ण वाले श्री कृष्ण हरे रंग की घुति वाले हो जाते हैं, मेरी भव बाधा हरो। (२) हे राधा नागरीः जिसके तन की झाँकी अर्थात् झलक (आँखो में) पड़ने से (दिखाई देने से) श्री कृष्ण हरे–भरे अर्थात् प्रसन्न बदन हो जाते हैं, मेरी भव–बाधा हरो। (३) हे वही राधा नागरी, जिसके तन (रुप) का ध्यान पड़ने से (भक्त के हृदय में आने से) काले रंग वाला (पदार्थ अर्थात् कल्पषता, पातक इत्यादि) हृत घुति (गति घुति अर्थात् अपनी कल्मषता से रहित) हो जाता है (अर्थात् अपना दुःखद प्रभाव छोड़ देता है), मेरी भव–बाधा (सांसारिक दुःख, दरिद्र, चिंता इत्यादि जिनका रंग कवि परिपाटी काला माना जाता है।) हरो।

विशेष– यह दोहा कवि की प्रतिभा का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें कवि ने झाँई, स्यामु, तथा हरित–दुति शब्दों के तीन–तीन अर्थ रखकर एक ही वाक्य से तीन भाव निकाले हैं, जो तीनों ही उसके इष्टार्थ के साधक हैं।

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।

तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि।।२।।

शब्दार्थ– अनाकनी = अनसुनी। आनाकानी देना = बात को सुनकर भी न सुनना। फीकी = प्रभाव रहित। गुहारि = पुकार। बिरदु = प्रशंसा, प्रशस्ति। तारन–बिरदु = तारने वाले होने की विख्याति। बारक = एक बार ही, सर्वथा। बारनु = हाथी।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य बिहारी द्वारा रचित सतसई से उद्धृत हैं, इसमें भक्त का उलाहना भगवान से है।

व्याख्या– [हे नाथ ! आप ने तो] अच्छी आनाकानी दी, [हमारी] पुकार फीकी पड़

गई, मानो हाथी को तार कर [आपने] एक बार ही [अपना] तारन विरद (तारने वाले कहलाना) छोड़ दिया।

विशेष– (१) कवि के कथन में वाग्विदग्धता है। (२) 'अनाकनी देना', 'गुहार फीकी पड़ना' मुहावरों का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग हुआ है। (३) अलंकार– उत्प्रेक्षा, वृत्यानुप्रास।

जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता काननु सेवत नैन।।३।।

शब्दार्थ– जोग = संयोज, योग (चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा जीवात्मा को परमात्मा में लीन करना।)। मैन = कामदेव। पिय = प्रियतम, परमात्मा। अद्वैतता = अभिन्नता। काननु = कानों को जंगल। नैन = नेत्र।

सन्दर्भ– नवयौवना मुग्धा के नेत्रों के सौंदर्य तथा बढ़ाव को देखकर सखियाँ, उनकी प्रशंसा करती हुई, उससे परिहासात्मक तथा उत्साहवर्द्धक वाक्य कहती हैं–

व्याख्या– [अब तेरे] नयन–रूपी योगी 'काननु' (श्रवण–रूपी वन) का सेवन करने लगे हैं, मानो मदन–रूपी महायोगी के द्वारा योग (1. संयोग। 2. योग–क्रियाओं) की सब युक्तियाँ सिखाए हुए [ये] प्रिय–अद्वैतता (1. प्रियतम से अलग न होना, 2. परमात्मा से एकता) चाहते हैं [एवं इनकी शोभा पर रीझकर नायक सदैव तेरे सामने उपस्थित रहेगा]।

यह सखियों का परिहास उसी प्रकार का है, जैसा सम–वयस्क युवतियाँ आपस में किया करती हैं कि अब तो मेरे मन में और ही चाव बढ़ने लगे हैं, और तेरा प्रियतम तुझ पर मोहित हो रहा है।

विशेष– (१) विद्यापति द्वारा वयः संधि–प्राप्त नायिका के कानन–चारी नेत्रों का वर्णन किया है। (२) अलंकार– श्लेष, अनुप्रास, रुपक एवं फलोत्प्रेक्षा।

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान।।४।।

शब्दार्थ– वारना = न्यौछावर करना। सुजान = चतुर, ज्ञानी। उरबसी = उर्वशी अप्सरा, हृदय पर पहनने वाला आभूषण।

सन्दर्भ– राधिकाजी ने श्रीकृष्णचंद्र को अन्य–रत सुनकर मान किया है। सखी मान छुड़ाने के निमित्त कहती है–

व्याख्या– हे प्रवीण राधे ! सुन, [तू तो ऐसी सुन्दर है कि और की कौन कहै, इन्द्र की अप्सरा] उर्वशी को [भी] मैं तुझ पर वार दूँ। तू [तो] मोहन के उर में उरबसी [भूषण] के समान होकर बसी है फिर दूसरी उनके उर में कैसे बस सकती हैं।

विशेष– एक ही शब्द बार–बार आने और उनके अर्थ भिन्न होने से यमक अलंकार अपनी छटा बिखेर रहा है।

खेलन सिखए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार।।५।।

शब्दार्थ– भलैं = भली–भाँति। यहाँ इसका अर्थ बड़ी विलक्षणता से होता है।

अहेरी = शिकारी। काननचारी = कानों तक विचरने वाले अर्थात् दीर्घ। (२) जंगल में विचरने वाले। प्राचीन परिपाटी तथा बिहारी की लेख प्रणाली के अनुसार पहले अर्थ के निमित्त 'कानन' शब्द को उकारांत, अर्थात् 'काननु' होना चाहिए, पर बिहारी के समय मे ऐसे शब्दों को अकारांत लिखने की प्रथा प्रचलित हो चली थी और यद्यपि बिहारी इस प्रथा का अनुकरण स्वतंत्रतापूर्वक तो नहीं करते थे, पर इस दोहे में श्लेष के निर्वाहार्थ, उन्होंने उक्त प्रचार से लाभ उठाकर, कान के बहुवचन काननु को भी अकारांत ही मान लिया, क्योंकि दूसरे अर्थ के निमित्त 'कानन–चारी' समस्त पद का 'कानन' (जंगल) शब्द उकारांत नहीं हो सकता। श्लेषालंकार में ऐसे प्रयोगों का निर्वाह माना भी जाता है।

सन्दर्भ– नायिका की अंतरंगिनी सखी उसके नेत्रों द्वारा नायक के घायल होने का वृतान्त उससे, परिहासात्मक वाक्य में, कहती है। वह चातुरी से नायक का नाम नहीं लेती, प्रत्युत घायल होने वाले के निमित्त बहुवचन 'नागर नरनु' पद प्रयुक्त करके सामान्यतः कहती है कि तेरे नेत्रों से प्रवीण नरों का शिकार होता है। वह सोचती है कि यह सुनकर जब नायिका पूछेगी कि मेरे नेत्रों ने किसका शिकार किया है, तब नायक का नाम बतला दूँगी--

अर्थ– हे अली ! कामदेव रूपी चतुर अहेरी ने [तेरे] कानन–चारी (कानों तक जाने वाले, वन–चारी) नयन–रूपी मृगों को भली–भाँति (बड़ी विलक्षण रीति से) नगर–निवासी (सुघर) नरों का शिकार करना सिखलाया है।

मृगों का आखेट करना तो नगर–निवासी नरों को सामान्यतः अहेरी सिखलाते ही हैं, पर काम–रूपी अहेरी ने यह विलक्षण चातुरी की है कि कानन–चारी नयन मृगों को नगर–निवासी (सुघर) नरों का आखेट करना सिखलाया है।

विशेष– अलंकार– (१) उपमेय से उपमान का निरादर होने से प्रतीप अलंकार है।

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु, भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन।।६।।

शब्दार्थ– रस सिंगार मंजनु किए = श्रृंगार रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि में निमग्न, अथवा उनको माँजे हुए अर्थात् दक्ष। कंजनु = कंजों को। भंजनु = मान–भंग, पराजय। अंजनु रञ्जनु हूँ बिना = अंजन रँगने (लगाने) के बिना भी। खंजनु = भाषा में खंजन तथा खंज, दोनों रूप खंजन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'खंजनु' पद यहाँ खंज शब्द का बहुवचन है। इसके पश्चात् के संप्रदानार्थक कौं का लोप है, अतः यह पद यहाँ संप्रदानकारक–वत् प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ यहाँ खंजों को होता है। गंजनु = तिरस्कार। यह पद, यहाँ कर्मकारक रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसके पश्चात् 'दैन' का अध्याहार होता है, और उसी 'दैन' पद का यह कर्म है।

सन्दर्भ– नायिका के नेत्रों की प्रशंसा नायक अथवा सखी द्वारा–

व्याख्या– श्रृंगार--रस में मज्जन किये हुए (श्रृंगार–रसोचित हाव, भाव, कटाक्षादि से परिष्कृत--पानी दिये हुए अथवा उनमें निमग्न) [ये तेरे] नयन [अपनी स्वच्छता से] कंजों को [जो कि सदैव जल में मज्जित रहने के कारण स्वच्छ रहते हैं] भंजन (मान–मर्दन, पराजय) देने वाले हैं, [और अपनी स्वाभाविक श्यामता से] अंजन लगाने के बिना भी खंजों को तिरस्कार [देने वाले] हैं।

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात।।७।।

शब्दार्थ– हिय = हृदय। लजात = लज्जित होना।

सन्दर्भ– प्रोषितपतिका नायिका ने पत्री में अपने विरह का कुछ वृत्तांत निवेदित करके, यह बात जताने के लिए कि जो कुछ लिखा गया है, उससे विरह--व्यथा की पूर्ण व्यवस्था विदित नहीं हो सकती, अंत में यह दोहा लिख दिया--

व्याख्या– [कंप, स्वेद, अश्रु इत्यादि के कारण] कागज पर [तो विरह–वृत्तांत] लिखते नहीं बनता, [और] संदेश [रूप से उस वृत्तांत को] कहते (अर्थात् किसी को दूत रूप से तेरे पास भेजने के निमित उससे अपने मार्मिक दशा कहते) [हृदय] लजाता है। [अतः मैं यही लिखकर संतोष करती हूँ कि यदि तू विचार करेगा, तो] तेरा हृदय मेरे हृदय की सब बातें [तुझसे] कह देगा (अर्थात् अपने हृदय की व्यथा से तुझको मेरे हृदय की सच्ची दशा का अनुमान हो जायेगा।

विशेष– (१) यहाँ कवि ने तुल्यानुरण जनित प्रेम दृढ़ता का निरुपण किया है। (२) नायिका प्रोषित पतिका है। (३) दूसरे के मन की बात, दूसरे का मन कैसे कहेगा इसमें विरोधा–सा दिखाई देता है अतः इसमें विरोधाभास अलंकार है।

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि, नीके ए नैन।।८।।

शब्दार्थ– बर = बल पूर्वक, बरबस। सरमैन के = कामदेव के बाण, नीके = सुन्दर।

सन्दर्भ– सखी नायक से नायिका के नेत्रों की प्रशंसा करती है–

व्याख्या– हे हरि, ये नयन (इस नायिका के नयन) [तो] हरिणी के नयनों से [भी] अच्छे हैं। [इन्होंने तो] मदन के बाणों को [भी] बरबस जीत लिया है। मैंने [तो] ऐसे [नयन कभी] नहीं देखें।

विशेष– (१) नायिका परिकीया है। (२) अलंकार– यमक, काव्य लिंग, उपमान, व्यतिरेक।

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि।।९।।

शब्दार्थ– बिसराई = विस्मृत कर दी, भुला दी। बानि = आदत।

सन्दर्भ– कवि, इस दोहे में, श्रीकृष्णचंद को अपने पर न रीझने का उलाहना देता हुआ, बड़ी चातुरी से, अपने समय के दानियों की अगुणग्राहकता तथा अपना गुणाधिक्य व्यंजित करता है–

व्याख्या– हे श्रीकृष्ण, [पहिले तो तुम] थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे, [पर अब तुमने] वह बान (प्रकृति) बिसरा दी (भुला दी), मानो तुम [परम उदार होकर] भी आजकल के [कृपण] दानी हो गये हो।

'थोरे ही गुन रीझते' तथा 'भए आल काल्हि के दानि', इन खंड–वाक्यों से व्यंजित

जय माँ वैभव लक्ष्मी

होता है कि पहले तो तुम थोड़े ही गुण पर रीझ जाते थे, पर अब यद्यपि मुझमें बहुत गुण हैं, तथापि उस पर तुम नहीं रीझते, जैसे कि आजकल के दानी कितना ही गुण हो, पर उसका आदर नहीं करते।

विशेष– उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कवि ने सम्पूर्ण दोहे में की है।

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ।।१०।।

शब्दार्थ– जगबाइ = संसार की वायु, अर्थात् संसार का बुरा प्रभाव।

सन्दर्भ– इस दोहे में भी बिहारी ने श्री कृष्णचंद को उलाहना देते हुए जगत् के रंग ढंग पर कटाक्ष किया है।

व्याख्या– हे श्याम, [मैं] कब का (बहुत समय से) दीन रट (दीनता से भरी हुई रट) से [तुमको] टेर (पुकार) रहा हूँ, [पर तुम] सहाय नहीं होते। [ज्ञात होता है कि] तुमको भी, हे जगद्गुरु ! जगन्नायक ! जगत् की हवा (प्रभाव) लग गई है [अर्थात् निर्दय संसार निवासियों का प्रभाव तुम पर भी पड़ गया है, यद्यपि यह बात न होनी चाहिए थी। क्योंकि गुरु तथा नायक का प्रभाव शिष्यों तथा सामान्य जनों पर पड़ना चाहिए, पर यह उलटी बात हुई कि उनका प्रभाव तुम, जगद्गुरु तथा जगन्नायक, पर पड़ा।

विशेष– (१) जगत गुरु और जगनाइक शब्द बड़े ही विग्दधता पूर्ण हैं।

(२) संसार की हवा लगना, मुहावरे का काव्यात्म्क प्रयोग हुआ है।

(३) अलंकार– लोकोक्ति, गत्योत्प्रेक्षा।

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास।।११।।

शब्दार्थ–पत्रा = तिथि–पत्र चहुँ। पास = चारों ओर। पून्यौं = पूर्णिमा।

सन्दर्भ– नायिका के मुख की प्रशंसा सखी नायक से करती है, अथवा नायक स्वगत कहता है–

व्याख्या– [तिथि के जानने के दो साधन हैं– एक तो तिथि–पत्र और दूसरा चंद्रमा के उजास होने का समय।] पर उस [नायिका] के घर के आसपास [केवल] पत्रे ही से तिथि पाई (जानी) जाती है, [क्योंकि वहाँ तो] मुख की चमक के उजाले से नित्यप्रति पूर्णिमा ही रहती है (रात भर चाँदनी का सा प्रकाश रहता है,) [जिससे किस समय चाँदनी का उजाला आरम्भ हुआ, यह लक्षित नहीं होता]।

विशेष– (१) मुख सौन्दर्य का लोक सीमा से परे वर्णन होने के कारण अत्युक्ति अलंकार। (२) उक्ति द्वारा कथन का समर्थन होने से काव्यलिंग अलंकार। (३) उसके घर के चहुँवास पूर्णिमा की चांदनी रहने में परिसंख्या अलंकार है।

✓*कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।*
कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार।।१२।।

शब्दार्थ– मंजनु = स्नान। ब्यौरति = सुलझाती है। कच = बाल।

सन्दर्भ– नायिका की क्रिया–विदग्धता का वर्णन सखी सखी से करती है–

व्याख्या– [देखो, यह] कंज–नयनी स्नान किए, बैठी [अपने] बाल सुलझा रही है, [और इसी ब्याज से अपने] बालों तथा उँगलियों के बीच से दृष्टि दे (डाल) कर नंदकुमार को देख रही है।

विशेष– (१) नायिका क्रिया विदग्धा है। (२) भाव–साम्य देखते ही बनता है। (३) पर्यायोक्ति अलंकार है क्योंकि यहाँ पर छल के द्वारा कार्य साधा गया है।

तंत्री-नाद कबित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनुबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।।१३।।

शब्दार्थ– तंत्री–नाद = वीणा इत्यादि का मधुर स्वर। कबित्त–रस = काव्य का स्वाद। सरस राग = रसीला स्नेह अथवा रसीला गाना। रति–रंग = प्रीति का अथवा स्त्री–संग का आनंद। अनबूड़े = इस शब्द का यहाँ अधबूड़े है। 'बूड़े सब अंग' पद के विरोध से 'अनबूड़े' में 'अन' का प्रयोग ईषद् अर्थ में मानना चाहिए। विरोधाभास अलंकार के निमित्त बिहारी ने 'अधबूड़े बूड़े'न रखकर 'अनबूड़े बूड़े' रखा है।'अनबूड़े' का अर्थ होता है ऐसे लोग, जो कि तंत्री–नाद इत्यादि में हाथ तो डालते हैं, पर उनमें डूबे नहीं हैं। बूढ़े = डूबे, नष्ट हुए। तरे = बन गए, श्रेष्ठ हो गए। बूड़े = निमग्न हो गए, लिप्त हो गए। सब अंग = सर्वांग, पूर्ण रीति से।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है–

व्याख्या– तंत्री–नाद, कवित्त–रस, सरस राग तथा रति–रंग में [जो] अधबूड़े [हैं, वे तो] बूड़े (नष्ट हो गए), [पर] जो पूर्ण रीति से बूड़े (प्रविष्ट हुए), [वे] तरे (प्राप्ताभीष्ट हुए सुधर गए) [कवि का तात्पर्य यह है कि तंत्री–नाद इत्यादि पदार्थ ऐसे हैं, जिनमें बिना पूर्ण रीति से प्रविष्ट हुए कोई आनंद नहीं मिलता। यदि इनमें पड़ना हो, तो पूर्णतया पड़ो नहीं तो इनसे दूर ही रहो]।

विशेष– (१) यह दोहा स्पष्ट करता है कि बिहारी को संगीत शास्त्र की भी जानकारी थी तभी तो उन्होंने कवित्त रस के साथ तन्त्रीनाद और सरस राग की महत्ता का वर्णन किया। (२) अलंकार– विरोधाभाष, श्लेष।

केसरि कै सरि क्यों सकै, चंपकु कितकु अनूप।
गात-रूप लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु।।१४।।

शब्दार्थ– केसरि = कुंकुम। सरि = सादृश्य, बराबरी। कितकु = कितना। अनूपु = जलप्राय, जल वाला अर्थात् पानी वाला, आबदार। संस्कृत में इस शब्द का अर्थ जलप्राय है। बिहारी ने इसी से इसको यहाँ पानी वाला अर्थात् सुन्दर के अर्थ में प्रयुक्त किया है। भाषा में इसका प्रयोग सामान्यतः अनुपम के स्थान पर होता है। जातरूप = सुवर्ण। जातरूप का धात्वर्थ जन्म से सुन्दर होता है। यह शब्द यहाँ साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। इसका भाव यह है कि सुवर्ण भी, जो कि सहज सुन्दर है, उसके रूप के आगे फीका पड़ जाता है, तो फिर और की क्या बात है।

सन्दर्भ– नायिका की गुराई की प्रशंसा सखी नायक से करती है, अथवा नायक स्वगत कहता है–

व्याख्या– [उसके रूप की] बराबरी केसर क्योंकर कर सकती है, [और] चंपक कितना आबदार है [जो उसकी बराबरी कर सके] [उसके] शरीर का सौन्दर्य देखकर [तो] जातरूप (स्वर्ण, जो कि स्वभाव ही से सुन्दर है) का रूप [भी] छिप जाता (फीका पड़ जाता) है।

विशेष– (१) नायिका परकीया है। (२) नायिका की गोराई के आगे केसर और चम्पा के रंग जिनसे प्रायः शरीर की उपमा दी जाती है, निष्प्रभ प्रतीत होते हैं। (३) प्रतीप, उपमेय, उपमान, यमक और काकु–वक्रोक्ति अलंकारों का प्रयोग है।

नैंक न जानी परति, यौ पर्‍यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु।।१५।।

शब्दार्थ– छामु (छाम) = क्षीण। नाँदि = जब दिये में तेल इत्यादि कम हो जाता है और वह बुझने को होता है, तो पहले दो एक बार भभक कर जल उठता है। इसको दिए का नादना कहते हैं।

सन्दर्भ– सखी अथवा दूती नायक से नायिका का विरह निवेदन करती है–

व्याख्या– विरह से [उसका] तन ऐसा क्षीण पड़ गया है [कि वह] नैंक (किंचित्‌मात्र) [भी] जान नहीं पड़ती (देखने में नहीं आती)। [किंतु] हे हरि ! तुम्हारा नाम लेने से [वह] दिए की भाँति नाँद उठती है।

कभी–कभी, तेल इत्यादि रहने पर भी दिए की लौ मन्द पड़ने लगती है। उस समय लोग कहने लगते हैं कि दीपक किसी पाहुने का आगमन सूचित करता है और यदि वे दो चार ऐसे मनुष्यों के नाम लेते हैं, जिनके आने की संभावना होती है, तो उस व्यक्ति का नाम लेने पर, जो कि आने वाला है, दीपक भभक कर जल उठता है। उसको नाँदना कहते हैं।

जब मनुष्य मरने लगता है, तो बहुधा मरने के पूर्व एकाएक कुछ चैतन्य हो जाता है। उसको मरते समय का सँभाला कहते हैं। सखी दीपक का नाँदना कह कर सँभाले का ध्यान दिलाती है।

विशेष– (१) दूती यहाँ नायिका की मरणासन्न दशा का वर्णन करती है कि वह अब अपनी अन्तिम श्वाँसे भर रही है। (२) विरह वेदना में वह काँटे की तरह सूख गई है किन्तु नायक का नाम सुनते ही वह अन्तिम साँस में भी चैतन्य हो जाती है। (३) उपमा उन्मीलित अलंकार दोहे में विद्यमान हैं। (४) दोहे में मरणदशा होने से विप्रलम्भ श्रृंगार रस है।

सोवत सपनै स्यामघनु मिलिहिलि हरत वियोगु।
तब हीं टरि कित हूँ गई, नींदौ नींदनु जोगु।।१६।।

शब्दार्थ– मिलिहिलि = आलिंगनादि करके। नींदनु = निंदा करना।।

सन्दर्भ– नायिका ने नायक को स्वप्न में देखा, पर उसी समय उसकी नींद खुल गई। अतः वह नींद को निंदा करने के योग्य कहती है–

व्याख्या– [हे सखी,] सोते हुए (सोते समय) स्वप्न में घनश्याम हिलमिल कर

[मेरा] वियोग (वियोग--दु.ख) हर रहे थे। [पर] उसी समय [नींद] टल कर कहीं चली गई। [अतः अब] नींद को भी बुरा कहना (अहितकर समझना) उचित है। [निद्रा की चाह तो केवल इसी निमित्त थी कि स्वप्न में प्रियतम का संयोग प्राप्त हो, पर जब ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, तो निद्रा भी टल गई। अतः अब वह भी खान--पानादि की भाँति दुःखद ही है]।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूडै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ।।१७।।

शब्दार्थ– अनुरागी = प्रेमी, अनुराग--युक्त। अनुराग का रंग कवि--सभय के अनुसार लाल माना जाता है। अतः 'अनुरागी' का अर्थ लाल रंग वाला भी होता है। गति = चाल। यहाँ इसका अर्थ रीति, व्यवस्था है। श्याम रँग (श्याम रँग)-- यह पद यहाँ श्लिष्ट है। इसका एक अर्थ 'श्रीकृष्णचंद्र के अनुराग में' होता है, और दूसरा अर्थ 'काले रँग में'। उज्जलु (उज्ज्वल) = इस शब्द के भी यहाँ दो अर्थ हैं– (१) निर्मल, पवित्र। (२) श्वेत।

सन्दर्भ– किसी भक्त की उक्ति है -

व्याख्या-- इस अनुरागी (१. प्रेमी। २. लाल रंग वाले) चित्त की [विलक्षण] व्यवस्था कोई समझ नहीं सकता। ज्यों ज्यों यह श्याम रंग में डूबता है, त्यों त्यों उज्ज्वल होता है।

विलक्षणता यह है कि काले रंग में डूबने से वस्तु काली होती है, पर चित्त श्याम रंग में ज्यों--ज्यों डूबता है, त्यों--त्यों उज्ज्वल होता है।

विशेष– (१) यहाँ पर कार्य का संकेत है कि जब कोई वस्तु काले रंग में डुबोई जाती है तो वह काली हो जाती है और उस पर अन्य कोई भी रंग नहीं चढ़ सकता। जैसे– *"सूरदास प्रभु काली कामरी चढ़ै न दूजौ रंग"* –सूरदास।

(२) अलंकार– श्लेष, विषमद्वितीय, विरोधाभास सम्भावना। (३) शांत एवं अद्भुत रस से दोहे की सुन्दरता देखते ही बनती है।

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ खरौ पूस-दिन-मानु।।१८।।

शब्दार्थ– सियरानु = शीतल हो गया, ठंडा पड़ गया। घरहँ जँवाई = घर का जमाई अर्थात् वह जमाता, जो सुसराल में रहता हो। घरहँ में 'हँ' अपभ्रंश के संबंधकारक की विभक्तिं ज्ञात होती है। कदाचित् बिहारी के समय में इसका प्रयोग होता होगा। अब इस अर्थ में 'घर जमाई' प्रयुक्त होता है।

सन्दर्भ– पौष मास के दिनों के छोटे होने का वर्णन कवि, सुसराल में रहने वाले जामाता का परिहास करता हुआ, करता है–

व्याख्या– पूस के दिन का मान (१. प्रमाण। २. प्रतिष्ठा) घर–जमाई की भाँति भले प्रकार [ऐसा] घट गया है [कि अब वह] आता जाता जाना नहीं जाता, [और] तेज (१. उष्णता। २. स्वभाव की उग्रता) को छोड़कर ठंडा (१. शीतल। २. नम्र) हो गया है।

किसी किसी ने इस दोहे में मान सम्बन्धी अर्थ भी निकाला है : वह अर्थ भी इस प्रकार हो सकता है–

व्याख्या– घर के जमाई की भाँति पूस के दिन का भली-भाँति घटा हुआ मान [अपनी] उग्रता छोड़कर ठंडा हो गया है, [और] आते जाते जाना नहीं जाता।

विशेष– इस सम्पूर्ण दोहे में श्लेष से पुष्ट पूर्णोपमा अलंकार है।

जहाँ जहाँ ठाढौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरु।

बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु।।१६।।

शब्दार्थ– सुभग–सिरमौरु = भाग्यवानों का शिरोमणि। यहाँ इसका अर्थ स्वरूपवानों का शिरोमणि है। अजौं = अब भी, अर्थात् उनके बहुत दिनों से यहाँ न रहने पर भी। ठौर = स्थान। यह शब्द भाषा में प्रायः स्त्रीलिंग-वत् प्रयुक्त होता है, पर इस दोहे से विदित होता है कि बिहारी इसको पुल्लिग मानते थे। सतसई भर में यह शब्द ४ जगह और आया है, पर उन चारों जगह इसका प्रयोग ऐसी रीति से हुआ है कि इसका लिंग प्रतीत नहीं होता।

सन्दर्भ– श्रीकृष्णचंद्र के मथुरा चले जाने पर व्रज–वधूटियाँ आपस में कहती हैं कि जिन स्थानों पर श्यामसुंदर को खड़ा देखा था, उन स्थानों में उनके संसर्ग से कुछ ऐसी रमणीयता आ गई है और उन्हें देखकर उनका कुछ ऐसा स्वमरण हो जाता है कि अब तक वे स्थान, कृष्णचंद्र के वहाँ उपस्थित न रहने पर भी, आँखों को ऐसे प्रिय लगते हैं कि क्षण भर हम सब श्यामसुंदर के ध्यान में मग्न होकर उनमें लगी रह जाती हैं–

व्याख्या– जहाँ जहाँ सुन्दर पुरुषों के शिरोमणि श्याम (श्रीकृष्णचन्द्र) को खड़ा देखा था, वह ठौर जब तक उनकी अनुपस्थिति में भी दृगों को क्षण मात्र पकड़ रखता है।

विशेष– (१) 'स्याम सुभ्थग सिरुमौरु' में वृत्यानुप्रास अलंकार। (२) कृष्ण से सम्बन्धित स्थानों को देखकर गोपियों को कृष्ण की याद आ जाती है। अतः स्मरण अलंकार। (३) कृष्ण के न रहने पर भी नेत्र अटक जाते हैं। अतः विभावना अलंकार।

बड़े न हूजैं गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ।

कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ।।२०।।

शब्दार्थ– बिरद (विरुद) = प्रशंसात्मक नाम। कनकु = (१) सोना। (२) धतूरा।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है–

व्याख्या– [अपने में] बिना गुणों के [हुए केवल] प्रशंसासूचक नाम की बड़ाई पाकर [वस्तुतः] बड़ा नहीं हुआ जाता। [देखों, लोग यद्यपि] धतूरे को कनक [जो नाम सोने का भी होने के कारण बड़ा प्रशंसात्मक है] कहते हैं, [पर केवल इस नाम के पा लेने ही से धतूरे से, उसमें स्वर्ण के गुण न होने के कारण] गहना नहीं गढ़ा जाता।

विशेष– (१) इस दोहे में कविवर बिहारी जी ने उन दरवारियों पर व्यंग्य

किया है जो नाम मात्र की झूठी प्रशंसा करते हैं। (२) कवि के कहने का तत्पर्य यह है। (३) अलंकार– अर्थान्तरन्यास, वृत्यानुप्रास।

तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग पग पग होत प्रयागु।।२१।।

शब्दार्थ– तजि = छोड़कर। तनदुति = शरीर की कांति (आभा)। मग = मार्ग (रास्ता)। केलि = क्रीड़ा (खेल)। निकुन्ज = लतामण्डप। प्रयाग (प्र+याग) जहाँ बहुत से यज्ञ हुए हों।

सन्दर्भ– कवि की उक्ति अपने मन से अथवा किसी ब्रजवासी भक्त की उक्ति शिष्य से–

व्याख्या– [तू] तीर्थों को छोड़ [और] श्रीकृष्णचन्द्र [तथा] श्रीराधिकाजी की तन–द्युति (शरीर की कांति) मैं [अपना] अनुराग कर (लगा), जिससे (जिस अनुराग के लगाने से) ब्रज के बिहार–निकुंजों के मार्ग में पग पग पर प्रयाग (तीर्थराज) हो जाता है (प्रकट हो जाता है)।

भाव यह है कि श्रीकृष्णचंद्र तथा श्री राधिकाजी की श्याम तथा गौर छवियों से यमुना तथा गंगा तो वहाँ उपस्थित हैं ही, उनमें अनुराग के लगने से सरस्वती भी मिल जाती हैं। अतः यहाँ गंगा, यमुना तथा सरस्वती, तीनों का संगम हो जाता है और फिर इस संगम के कारण कुंजो के प्रति पग पर प्रयाग प्रकट होता है। तात्पर्य यह कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण के ध्यान में अनुराग करने से ब्रज के कुंजों के प्रति पग पर प्रयागराज का फल प्राप्त होता है, अतः तीर्थाटन का श्रम उठाना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त किसी तीर्थ में जाने से एक ही तीर्थ का फल मिल सकता है, पर उक्त विधि से, एक सामान्य तीर्थ की कौन कहे, अनंत तीर्थराजों के फल सुलभ हैं।

विशेष– (१) नंद–नन्दन, आनन्दकन्द, श्रीकृष्ण चन्द्र और साधिके–आराधिके अर्थात राधा जी के चरण कमलों के प्रभाव से ब्रजभूमि का त्रिवेणीवत तीर्थों का राजा प्रयाग हो जाना स्वाभाविक ही है। (२) अलंकार– उल्लास, छेकानुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, वृत्यानुप्रास, काव्य लिंग और तदगुण।

कीजै चित सोई, तरे जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु गनौ न, गोपीनाथ।।२२।।

शब्दार्थ– पतित = पापी। साथ = संघ, गगनु = समूह। गोपीनाथ = भगवान श्रीकृष्ण।

सन्दर्भ– कोई भक्त भगवान से अपने उद्धार हेतु कहता है–

व्याख्या– हे गोपीनाथ, मेरे गुणअवगुणों के गणों (समूहों) को मत गिनिए यह (हिसाब मत लगाइए कि मेरे गुण अधिक हैं अथवा अवगुण) [क्योंकि यदि आपने ऐसा किया, तब तो मैं तर चुका]। [बस अपने] चित्त में [आप] सोई [वही वस्तु अर्थात् दया) कीजिए (धारण कीजिए), जिससे (जिस दया से) पतितों के साथ (समूह) तरे हैं।

विशेष– (१) गुन औगुन गगनु में अनुप्रास अलंकार। (२) दोहे में कथन का युक्ति पूर्ण समर्थन किया गया है अतः काव्यालिंग अलंकार।

हौं हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं ससिहिं सीतकर-नाउँ।।२३।।

शब्दार्थ– बौरी = बावली, पगली। ससिहिं = चन्द्रमा। सीतकर (शीतकर) = शीतल किरणों वाला।

सन्दर्भ– पूर्वानुराग में नायिका को चंद्र की किरणें ताप देती हैं, अतः वह अपने में सोचती है कि लोगों ने चंद्रमा का नाम शीतकर क्या समझ कर रखा है–

व्याख्या– मैं ही विरह–वश (विरह के कारण) बौरी (बावली) हो रही हूँ [जिससे मुझे चन्द्रमा की शीतल किरणें तप्त ज्ञात होती हैं], अथवा सब ग्राम ही (ग्राम निवासी समूह ही) बौरा गया है, [जिससे उनको ताप देने वाले चंद्रमा की किरणें शीतल लगती हैं। ज्ञात नहीं होता कि] ये [लोग] शशि को [जो कि संतापित करता है] क्या जानकर (किस निमित्त) शीतकर नाम वाला कहते हैं।

विशेष– (१) यहाँ पर चन्द्रमा का वियोग के अन्तर्गत उद्दीपन रुप में वर्णन हुआ है। (२) पूर्व राग जनित वियोग श्रृंगार। (३) नायिका पुर्वानुरागिनी तथा प्रोषितपतिका है। (४) अलंकार– सन्देह, छेकानुप्रास।

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगंध।।२४।।

शब्दार्थ– धंध = झंझट। मेलि = मिलकर। सुमति = सुन्दरमति (अच्छी बुद्धि)।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है–

व्याख्या– कुमति के धंधे (झंझट) में पड़े हुए [लोग अच्छी] संगति से सुमति नहीं पाते। हींग को [कितना ही] कपूर में मिलाकर रखो, [पर वह] सुगन्ध (अच्छी गंध वाली) नहीं होती।

विशेष– इस सम्पूर्ण दोहे में दृष्टान्त तथा अतद्‌गुण अलंकारों का समावेश है।

तन भूषन, अंजन दृगनु, पगनु महावर-रंग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिबैं हीं कौं अंग८।।२५।।

शब्दार्थ– भूषन = आभूषण। अंजन = काजल। नहिं सोभा कौ साजियतु = शोभा को नहीं बढ़ाते।

सन्दर्भ– सखी नायक से नायिका की स्वाभाविक शोभा का वर्णन करती है–

व्याख्या– [वह स्वभावतः ऐसी सुन्दर है कि उसके] तन को भूषण से, आँखों को अंजन से, [तथा] पाँवों को महावर के रंग से शोभा के निमित्त नहीं साजा जाता, [प्रत्युत ये सब, अर्थात् भूषण, अंजन तथा महावर का रंग] कहने मात्र को [उसके] अंग में हैं। भावार्थ यह है कि ये सब उसके शरीर में ऐसे मिल जाते हैं कि उसी शोभा बढ़ाने में कुछ उपकारी नहीं होते, केवल कहने से उनकी उपस्थिति जानी जाती है, क्योंकि उसका तन तो भूषणों के बिना ही सुशोभित तथा कंचन–वर्ण आँखें अंजन के बिना ही आँजी हुई सी एवं पाँव महावर के बिना ही लाल हैं]।

विशेष– (१) कविवर बिहारी ने इस सोरठे में सहज सौन्दर्य को ही प्रधानता दी है। (२) सम्पूर्ण सोरठा में मीलित अलंकार विद्यमान है।

गिरि तें ऊँचे रसिक-मन बूढ़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु-नरनु कौ प्रेम-पयोधि पगारु।।२६।।

शब्दार्थ– रसिक = भगवत् लीला का स्वाद लेने वाले भक्त। स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय रसिक संप्रदाय कहलाता है, और उसके अनुयायी वैष्णव रसिक कहे जाते हैं। रसिक शब्द से यहाँ कवि का तात्पर्य भगवद् रस रसिक ही जान पाता है। जहाँ = जिसमें। हजारु = सहस्र, अनंत। पसु = पशुवृत्तधारी, अर्थात् भगवत् प्रेम के भावों से रहित, अरसिक। प्रेम = प्रेम से यहाँ कवि का तात्पर्य लौकिक प्रेम नहीं हैं, प्रत्युत भगवत् प्रेम है। पगारु = खाँई, गड़हा, अथवा पावों से हल कर पार उतर जाने के योग्य।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है–

व्याख्या– जहाँ [जिस प्रेम–रूपी पयोधि में] पहाड़ से [भी] ऊँचे रसिकजनों के हजार मन डूब गये [पर उसकी थाह न पा सके], वाही प्रेम–रूपी समुद्र नर पशुओं (अरसिकजनों, पशुवृत्तिधारी मनुष्यों) के निमित्त सदा [एक] खाई [मात्र है, अथवा सुगमता से हल कर पार उतर जाने योग्य है]।

भाव यह है कि प्रेम का स्वाद जानने वाले तो उसमें ऐसे मग्न हो जातें हैं कि उससे फिर न तो निकल ही संकते हैं, और न तृप्त ही होते हैं, परन्तु पशुवृत्ति मनुष्य समझते हैं कि प्रेम कोई गंभीर वस्तु नहीं है, अतएव हम उससे ही में तृप्त तथा उत्तीर्ण हो सकते हैं।

विशेष– इसमें रूपक अलंकार प्रयुक्त है।

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सुबीति बहार।
अब, अलि, रही गुलाब मैं अपत, कँटीली डार।।२७।।

शब्दार्थ– बहार = बसंत ऋतु । अपत = पत्र रहित। कँटीली डार = काँटों वाली डाली (टहनी)।

सन्दर्भ– किसी गलित–यौवना स्त्री, नष्ट–संपत्ति मनुष्य, विगत–सुख राज्यादि पर यह अन्योक्ति है–

व्याख्या– हे भ्रमर, जिन दिनों [तूने] वे [सुन्दर तथा सुगन्धित] पुष्प देखे थे, वह बहार (बसन्त ऋतु) [तो] बीत गई। अब [तो] गुलाब [के वृक्ष] में बिना पत्ते के [तथा] कंटकित डाल (शाखा) रह गई है [अब इससे दुःख छोड़ सुख की संभावना नहीं है]।

विशेष– (१) इसमें वियोगिना नायिका का कथन सखी के प्रति माना जा सकता है। (२) अन्योक्ति अलंकार अपनी छटा बिखेरे हुए है।

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा, देखि, बिहंग, बिचारि।
बाक, पराऐं पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि।।२८।।

शब्दार्थ– स्वारथु = अपना लाभ। सुकृतु = पुण्य। बिहंग = आकाशगामी

स्वच्छंद–बिहारी, दूरदर्शी। यह शब्द पक्षी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पच्छीनु = (१) पक्षियों को (२) अपने पक्षवर्तियों अर्थात् स्वजातियो को।

सन्दर्भ– किसी दुष्ट स्वामी के सेवक को, जो उस दुष्ट के निमित्त स्वजनों को कष्ट देता है, कोई बाज पर अन्योक्ति करके समझाता है–

व्याख्या– हे बाज ! दूसरे के हाथ में पड़कर (दूसरे के वश में होकर) तू पक्षियों (१. चिड़ियों, २. स्वजनों) को मत मार। हे विहंग (१. पक्षी, २. स्वच्छंद–बिहारी), [नैंक अपने मन में] विचार कर देख, [इस काम में तेरा न तो] स्वार्थ है, [और] न सुकृत, [केवल] वृथा (बिना लाभ का) श्रम है।

विशेष– (१) जयशाह (जयसिंह) मुसलमानों के साथ मिलकर हिन्दुओं से युद्ध करते थे। बिहारी को उनका यह कार्य अच्छा नहीं लगता था। शायद इसी भावना से ओत–प्रोत होकर उन्होंने इसे अन्योक्ति में व्यक्त किया। (२) इस दोहे से कवि में जातीयता की भावना का परिचय मिलता है। (३) इस कृत्य के लिए शिवाजी ने जयहि को बहुत धिक्कारा (फटकारा) था और एक पत्र भी लिखा था जिसका एक शेर यहाँ प्रस्तुत है–

अजीं तुर्कताजी चे अयद्तुरा। हवायत् सुराबे नुमायद्तुरा।।

इस वृथा की दौड़ धूप से तेरे हाथ क्या आता है ? तेरी यह तृष्णा तुझे मृग तृष्णा मात्र दिखा रही है। (४) अलंकार– श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो न सदा बसौ, बिहारी लाल।।२६।।

शब्दार्थ– बानक = बनाव। साज = वेष।

सन्दर्भ– कवि अपने उपास्य देव श्रीवृंदावनबिहारी कृष्णचंद्र से नित्य प्रति अपने हृदय में गोपाल रूप धारण किए हुए, बसने की प्रार्थना करता है–

व्याख्या– हे बिहारी लाल (आनन्द–क्रीड़ा करने वाले लाल), मेरे हृदय में [तुम] सदा इस (ऐसे) बानक से बसो, जिसमें सिर पर मोर–मुकुट, कटि में काछनी, कर में मुरली [एवं] उर पर वनमाला है।

विशेष– (१) इस दोहे में शान्त रस है। (२) अलंकार– स्वाभावोक्ति, छेकानुप्रास, श्लेष।

संगति-दोषु लगै सबनु, कहै ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भ्रुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति नैन।।३०।।

शब्दार्थ– कुटिल = टेढ़ी आकृति वाली। बंक (वक्र) = टेढ़े स्वभाव वाली, छली, निर्दय। भुव = भौंह।

सन्दर्भ– नायिका की तिरछी दृष्टि का घायल नायक सखी से कहता है, अथवा कवि की प्रास्ताविक उक्ति है–

व्याख्या– संगति का दोष सबको लगता है, [ये वचन जो सयानों ने] कहे हैं,

सो सच्चे वचन हैं। [देखो] कुटिल [तथा] कपटशील भ्रकुटी के संग से नयन [भी] कुटिल [तथा] वक्रगति वाले हो गये हैं।

विशेष– भौंह के संसर्ग से नेत्र भी कुटिल तथा बंक हो जाने से उल्लास से पुष्ट अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

कहत सबै, बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियैं अगिनितु बढ़तु उदोतु।।३१।।

शब्दार्थ– आँकु (अंक) = गिनती लिखने के निमित्त सांकेतिक अक्षर। उदोतु (उद्योत) = (१) प्रकाश शोभा, (२) अंक का अभिप्राय अर्थात् मूल्य।

सन्दर्भ– बेंदी देने से नायिका के मुख की शोभा अत्यंत बढ़ गई है। उसी विषय में नायक स्वगत कहता है–

व्याख्या– सभी [लोग] कहते हैं बेंदी देने से अंक [का मूल्य] दस गुना हो जाता है। [पर यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इस] स्त्री के ललाट पर बेंदी देने से उद्योत (१. कांति, २. अभिप्राय) अगणित [गुना] बढ़ जाता है।

विशेष– अलंकार– व्यतिरेक।

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत।।३२।।

शब्दार्थ– मोरचे = लोहे के किसी पदार्थ पर नमी पहुँचने से जो मैल सा जम जाता है, उसे मोरचा कहते हैं। प्राचीन काल में दर्पण लोहे पर जिला करके बनाया जाता था। अतः उसमें नमी से मोरचा लग जाता था। कभी कभी लोहे इत्यादि के संसर्ग से काँच के दर्पण पर भी मोरचा लग जाता है।

सन्दर्भ– दूती नायिका से शीघ्र अभिसार करना चाहती है, अतः बड़ी चुतराई से उसको भूषण सज्जित करने में देर लगाने से वारण करती है–

व्याख्या– [तू] कनक के भूषण मत पहन, [यह वाक्य] इस हेतु कहने में आता है [कि तेरे] शरीर में [सोने के गहने] दर्पण के मोरचे से दिखाई देते हैं [अर्थात् तेरे शरीर की कांति के सन्मुख कनक मलिन जान पड़ता है, अतः कनक के भूषण तेरे शरीर पर ऐसे ज्ञात होते हैं, जैसे दर्पण पर लगे हुए मोरचे]।

विशेष– (१) नायिका परकीया है। (२) अलंकार– पूर्णोपमा है।

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।।३३।।

शब्दार्थ– लिखन = चित्र बनाने के लिए। जाकी = जिसकी। सबी (अरबी शबीह) = यथार्थ चित्र। गरब गरूर = इस युग्म प्रयोग में टीकाकारों ने प्रायः अर्थ पुनरुक्ति समझकर कई युक्तियों से उसके परिहार की चेष्टा की है, पर हमारी समझ में उन युक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं। भाषा में एक ही, अथवा कुछ भिन्न अर्थ वाले दो शब्दों के एक साथ प्रयोग करने की प्रथा बहुत पुरानी है। इस समय भी ऐसे युग्मों का प्रयोग बहुतायत से होता है, जैसे राजा राव, इष्ट मित्र गाँव गिराँव,

भाई–बन्धु, हवा बयार, पान पत्ता, जान पहचान, काम काज इत्यादि। कभी–कभी ऐसे युग्मों में एक शब्द भारती भाषा का तथा दूसरा फारसी अथवा अरबी का होता है, जैसे राज रिसायत, धन दौलत, बाजार हाट, गली कूचा, राम रहीम, भाई बिरादर, गए गुजरे, हरबा हथियार इत्यादि। इसी प्रकार 'गरब' (गर्व) भारती तथा 'गरूर' (गुरूर) अरबी शब्दों का युग्म इस दोहे में प्रयुक्त किया गया है। इस प्रयोग में न तो पुनरुक्ति दूषण है और न 'गरूर' शब्द का अर्थ मगरूर (गुरूर वाला) करने की कोई आवश्यकता। क्रूर = भाषा में यह शब्द संस्कृत के दो भिन्न–भिन्न शब्दों से बनता है– एक तो क्रूर से, जिसका अर्थ निर्दयी होता है और दूसरे कुट्ट धातु से, जिसका अर्थ कुटी हुई, अर्थात् विदलित, बुद्धिवाला होता है। इस दोहे में 'क्रूर' का अर्थ है, विदलित अथवा विकृत बुद्धिवाले।

सन्दर्भ– अंकुरित यौवना नायिका की सखी नायक से उसके क्षण–क्षण पर बढ़ते हुए यौवन तथा शरीर कांति की प्रशंसा यह कहकर करती है कि बड़े–बड़े चतुर चितेरे भी इस समय उसका यथार्थ चित्र नहीं बना सकते, क्योंकि उसकी शोभा प्रतिक्षण ऐसी बढ़ती जाती है कि जब कोई चितेरा उसका चित्र बनाकर उससे मिलाता है, तो इतने समय में उसके शरीर में परिवर्तन हो जाने के कारण, वह चित्र उससे नहीं मिलता। अतः उसे चितेरे को मूढ़ बनना पड़ता है।

व्याख्या– [भला मैं बेचारी उसकी प्रतिक्षण बढ़ती हुई शोभा का वर्णन क्या कर सकती हूँ] जिसका यथार्थ चित्र लिखने के निमित्त घमंड [तथा] अभिमान से भर–भर कर बैठ जगत् के कितने चतुर चितेरे क्रूर (मूढ़–मति) नहीं हुए (ठहरे)।

विशेष– (१) नायिका परकीया और नायक पर पुरुष है।

(२) नायिका अंकुरित यौवना वयः सन्धि प्राप्त मुग्धा नायिका है।

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियै, दई, नई यह रीति।।३४।।

शब्दार्थ– उरझत = आपस में गुथते हैं, अर्थात् मिलते हैं। अटूत कुटुम = कुटुम्ब के सम्बन्ध टूट जाते हैं। जुरत = प्रेम से परस्पर संबद्ध हो जाते हैं। गाँठि = आँट, ईर्ष्या।

सन्दर्भ– परकीया नायिका अपने हृदय का तक–वितर्क अपनी अंतरंगिनी सखी से कहती है–

व्याख्या– प्रीति [के व्यवहार] में उलझते [तो] दृग हैं, [पर] टूटते कुटुम्ब [के सम्बन्ध] हैं, [टूटते तो कुटुम्ब के सम्बन्ध हैं, पर] जुड़ते (मिलते) चतुरों के चित्त हैं, [और जुड़ते तो चतुरों के चित्त हैं, पर] गाँठ दुर्जनों (चवाइयों) के हृदयों में पड़ती है। हे दई, यह नई (विलक्षण) रीति है।

सामान्यतः तो जो वस्तु उलझती है, वहीं टूटती तथा जोड़ी जाती है और फिर गाँठ भी उसी में पड़ती है, पर प्रीति–व्यवहार में विलक्षणता यह है कि उलझती और वस्तु है, टूटती और है, जुड़ती और एवं गाँठ और में पड़ती है।

विशेष– (१) कारण कहीं और कार्य का होना अन्यत्र वर्णित होने से असंगति अलंकार है। (२) अनुप्रास। (३) दई–दई में वीटसा अलंकार है।

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौं, सो तैं भज्यौ, गँवार।।३५।।

सन्दर्भ– कोई सज्जन भक्त अपने मन को धिक्कारता है–

व्याख्या– अरे गँवार, [वेद–शास्त्रों ने जिसको] भजने को कहा (बतलाया) उससे [तो तू] भागा, [और उसको तूने] एक बार भी नहीं भजा (स्मरण किया), [पर] जिससे (जिस विषय–भोग से) दूर भागने को कहा, उसको तूने भजा [फिर भला तेरा निस्तार क्यों कर संभव है]।

विशेष– यमक अलंकार का समावेश दृष्टिगत है।

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु।।३६।।

शब्दार्थ– जासु तन = जिसके शरीर में। सनमानु = सम्मान (आदर) खोटैं = दुष्ट।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि जिससे बुराई, अर्थात् हानि, पहुँचने की आशंका होती है, उसी का संसार में आदर होता है, पर सीधे, साधु–स्वभाव सज्जनों को कोई नहीं पूछता–

व्याख्या– जिसके तन में बुराई बसती है, उसी का [इस बुरे संसार में] सम्मान होता है। [देखो,] भला [ग्रह] तो भला कहकर (समझकर) छोड़ दिया जाता है, [पर] खोटे ग्रह [के आने] में जप, दान, [इत्यादि होते हैं]।

विशेष– (१) सूक्ति कथन (२) दृष्टान्त अलंकार।

मानहु बिधि तन–अच्छछबि स्वच्छ राखिबैं काज।
दृग–पग–पोंछन कौं करे भूषन पायंदान।।३७।।

शब्दार्थ– अच्छछबि = सुन्दर, शोभा। राखिबै काज = रखने के लायक। पायंदाज (फा०) = पावदान, वह टाट जो स्वच्छ बिछौने के पास बिछा दिया जाता है, जिस पर पैर पोंछकर लोक बिछौने पर जाते हैं, जिसे बिछौना मैला न हो।

सन्दर्भ– नायिका के शरीर की गुराई की प्रशंसा सखी नायक से करती है–

व्याख्या– [उसके शरीर की शोभा ऐसी उज्जवल है कि उसके आगे कनक के भूषण ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे स्वच्छ बिछौने के आगे पायंदाज, अतः यह जान पड़ता है कि] मानो बिधाता ने [उसके] तन की 'अच्छ' (उज्जवल) छवि को स्वच्छ (विमल) रखने के निमित्त आँखों के पाँवों को पोंछने के लिए भूषण पायंदान (पाँव–पुछने) के लिए (बनाए हैं)।

विशेष– (१) नायिका परकीया और नायक उपपति है। (२) नायिका की छवि की प्रशंसा दूती सखी करके संघटन था प्रयास करती है। (३) अलंकार– हेतूत्प्रेक्षा, रुपक।

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल।।३८।।

शब्दार्थ– कुबत = बुरी बात, बुराई, निन्दा। कुटिलता = (१) बुराई,

(२) टेढ़ाई। सरल = (१) शुद्ध कपटहीन, (२) सीधे। त्रिभंगी = तीन जगह से टेढ़े।

सन्दर्भ– नायिका के शरीर की गुराई की प्रशंसा सखी नायक से करती है–

व्याख्या– हे दीनदयालु, [मैं आपको अपने हृदय में बसाने के निमित्त ऐसा दीन और आतुर हो रहा हूँ कि यद्यपि] जगत् [मेरी] निन्दा किया करे (करता रहे), [तथापि मैं अपनी] कुटिलता न तजूँगा। [क्योंकि यदि मैं कुटिलता छोड़ दूँगा, तो मेरा हृदय सरल हो जायेगा और फिर] हे त्रिभंगी लाल, [तुम] सरल (सीधे) हृदय में बसते हुए दुखी होगे (कष्ट पाओगे) [क्योंकि टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तु के भीतर नहीं रह सकती। कहावत भी है कि *सीधी मियान में, टेढ़ी तलवार नहीं रहती*]।

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।

तीन दबावत निसकहीं पातक, राजा, रोग।।३६।।

शब्दार्थ– श्रुति = वेद। सुम्रत्यौ = स्मृति भी। सयाने = सज्ञान। निसकहीं = शक्तिहीन ही को, निर्बल ही को। पातक = पाप।क

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि पातक, राजा तथा रोग, ये तीनों निर्बल ही को दबाते हैं। अपनी इस उक्ति के विषय में कवि कहता है कि यही बात श्रुति, स्मृति तथा ज्ञानवान् पुरुष भी कहते हैं–

व्याख्या– यही [बात] श्रुति [और] स्मृति भी कहती हैं, [और] यही ज्ञानी लोग [भी कि संसार में ये] तीन, [अर्थात्] पातक, राजा [और] रोग, निर्बल ही को दबाते हैं (दुःख देते हैं)।

विशेष– प्रमाण अलंकार का प्रभाव है।

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।

मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचित होई।।४०।।

शब्दार्थ– समै समै = अपने–अपने अवसर पर। रुप = सुन्दर। कुरुप = असुन्दर। जेती = जितनी। रुचि = शोभा।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि मनुष्य को संसार की सब वस्तुएँ समय समय पर अपनी रुचि के अनुसार सुन्दर लगती हैं, वास्तव में दैव–सृष्टि की कोई वस्तु कुरूप नहीं है–

व्याख्या– [उस परम सौन्दर्यमय सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता की सृष्टि में] कोई रूप कुरूप नहीं है, समय समय [अपने अपने अवसर] पर सब ही सुन्दर [लगते] हैं। [मनुष्य के] मन की रुचि (प्रीति, चाह) [जिस समय] जिस ओर जितनी [होती है, उस समय] उस ओर (उस वस्तु के पक्ष में) उतनी रुचि (शोभा) हो जाती है (जान पड़ने लगती है)।

विशेष– (१) बिहारी के लिए समस्त सृष्टि ही सौन्दर्यमयी है, कुछ भी सुन्दर और असुन्दर नहीं है। अपने–अपने मन की इच्छा के अनुसार वस्तु में सौन्दर्य दिखाई देता है। (२) अलंकार– अन्योक्ति, अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश।

दिन दस आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग ! सराधपखु, तौ लगि तौ सनमानु।।४१।।

शब्दार्थ– बखान = प्रशंसा (तारीफ)। सराधपखु (श्राद्धपक्ष) = पितृपक्ष। पितृपक्ष में जब लोग पितरों का श्राद्ध करते हैं, तो कुछ अन्न कौए के लिए भी निकाल कर उसको पुकार कर खिला देते हैं।

सन्दर्भ– किसी नीच मनुष्य के किसी विशेष अवसर पर सम्मानित होकर गर्व करने पर कोई यह दोहा, काक पर अन्योक्ति करके, कहता है–

व्याख्या– हे काक ! [तू] दस दिन (थोड़े दिन) आदर पा कर [भले ही] अपना बखान (आत्मश्लाघा) कर ले। [पर यह समझ रख कि] तेरा [यह] सम्मान तभी तक है, जब तक श्राद्ध पक्ष (अर्थात् यह अवसर विशेष) है [अभिप्राय यह है कि तुममें वास्तव में कोई सम्मान के योग्य गुण नहीं है, पर इस समय ऐसा अवसर ही उपस्थित है कि तेरा आदर करना पड़ता है, अतः तुझे इस आदर पर गर्व न करना चाहिए]।

विशेष– यहाँ पर अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग कवि ने किया है।

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ।।४२।।

शब्दार्थ– बतरस– लालच = बातचीत करने के आनंद के लालच से। लुकाई = छिपाकर। सौंह = शपथ (कसम)। नांटि जाइ = नांही करना (मना करना)।

सन्दर्भ– श्रीराधिकाजी ने वार्तालाप के आनंद लोभ से श्रीकृष्णचंद्र की मुरली कहीं छिपा कर रख दी है। इस पर दोनों में जो वचन–विनोद हो रहे हैं, उसका वर्णन सखी सखी से करती है–

व्याख्या– [श्रीराधिकाजी ने] वाक्य–विनोद के लालच से लाल (श्रीकृष्णचन्द्र) की मुरली [कहीं] लुकाकर (छिपाकर) धर दी है। [सो देखो, अब कैसा विनोद हो रहा है कि श्रीकृष्णचन्द्र के] सौंह (शरण) [कि 'बाबा की सौंह ! जो मेरी मुरली खोज देगी, उसका मैं सदा ऋणी रहूँगा' अथवा 'भैया की सौंह ! मुझे यह हँसी अच्छी नहीं लगती' इत्यादि] करने पर [श्रीराधिकाजी] भौंहों में (किचिंत्मात्र) हँस देती हैं, जिसमें श्रीकृष्णचन्द्र को उन पर संदेह हो जाये और वे निराश होकर अन्यत्र न चले जायें, पर] देने को कहने पर (माँगने पर) नट जाती हैं (मुकर जाती हैं, अर्थात् यह कह देती हैं कि मैं नहीं जानती मैंने नहीं छिपाई)।

विशेष– (१) प्रस्तुत दोहे में कवि ने राधा जी द्वारा मुरली छिपाना और कृष्ण के मांगने पर मना कर देना, फिर भौंहों में हँस देना बड़ा ही भावपूर्ण और मार्मिक है। यहाँ पर विलास एवं लीला भाव की सुन्दर योजना है। (२) अनेक क्रियाओं का कर्त्ता एक होने के कारण यहाँ कारक दीपक अलंकार है।

अरुनसरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख-चंद।
समै आइ सुंदरि सरद काहि न कराति अनंद।।४३।।

शब्दार्थ– अरुन सरोरुह = लाल कमल। दृग खंजन = जिसके नेत्र खंजन

है। समै आई = अपने समय पर आकर। काहि न = किसको नहीं।

सन्दर्भ– उकवि शरद ऋतु का वर्णन, सुंदरी स्त्री से रूपक कर के, करता है--

व्याख्या– अरुनसरोरुह–कर–चरन (जिसके हाथ पाँव लाल कमल हैं), दृग–खंजन (जिसके दृग खंजन हैं), [एवं] मुख–चन्द (जिसका मुख चन्द है), [ऐसी] शरद्–रूपी सुन्दरी [अपने] समय पर (अधिकार पर) आकर किसको आनंदित नहीं करती है।

विशेष– (१) इस दोहे में कवि ने प्रकृति का आलंकारिक वर्णन किया है। (२) अलंकार– सांगरुपक है। क्यों ? (अ) शरद् में सुन्दरी का आरोप। (ब) अरुनस सरोंरुह में कर चरण का आरोप। (स) खंजन में दृग का आरोप। (द) चन्द में मुख का आरोप।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ।।४४।।

शब्दार्थ– तपोवन = तपस्वियों का वन। तपोवन में तपस्वियों के प्रभाव से जीव जन्तु परस्पर का बैर छोड़कर बसते हैं। दीरघ–दाघ = दीर्घ अर्थात् प्रचंड ताप वाली। निदाघ = ग्रीष्म ऋतु।

सन्दर्भ– वन के जीवों का, ग्रीष्म के प्रचंड प्रभाव से कातर होकर, परस्पर का बैर–भाव भूल कर, एकत्र रहना कवि वर्णित करता है–

व्याख्या– अहि (सर्प) [तथा] मयूर [एवं] मृग [तथा] बाघ [मारे गर्मी के] कहलाने (कातर हुए, व्याकुल हुए) एकत्र [ही] बसते हैं। प्रचंड ताप वाली ग्रीष्म ऋतु ने [अपने प्रभाव से] जगत् को तपोवन सा कर दिया है (बना रखा है)।

उधर मयूर तथा बाघ को मारे गरमी के इस बात का ध्यान नहीं है कि सर्प तथा मृग हमारे आहार है; और न उन पर झपटने की शक्ति ही है। इधर सर्प तथा मृग को भी इस बात की सुधि नहीं है कि हम मयूर तथा बाघ के आहार हैं और न उनको भागने की शक्ति ही है। ग्रीष्म की प्रचंडता ऐसी व्याप्त हो रही है।

विशेष– (१) प्रस्तुत दोहे के माध्यम से कवि ने ग्रीष्म की भीषणता का वास्तविक चित्रांकन किया है। (२) अलंकार– उपमा, काव्यालिंग।

छिप्यौ छबीलौ मुँहु लसै नीलैं अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी कैं नीर।।४५।।

शब्दार्थ– छबीलौ = छबिमान। लसै = शोभा देता है। कलानिधि = चन्द्रमा। कालिंदी = यमुना।

सन्दर्भ– सखी नायक से नायिका की शोभा का वर्णन करके उसकी रुचि उपजाती है–

व्याख्या– [उसका] छबीला मुख नीले अंचल पट में छिपा हुआ [ऐसा] लसता (शोभा देता) हैं, मानो कलानिधि (चंद्रमा) कालिंदी के [नीले] नीर में झलमलाता (प्रतिबिंबित होकर मंद लहरियों के कारण हिलती हुई आभा दे) रहा है।

विशेष– (१) इस दोहे में कवि ने नायिका के मुख की उपमा चन्द्रमा से और उस पर नीली साड़ी का अंचल की यमुना से उपमा देकर बड़ी ही सूक्ष्म–निरीक्षण पूर्ण उत्प्रेक्षा की है। (२) उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास।

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न सरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान।।४६।।

शब्दार्थ– अनियारे = नुकीले कोरदार। दीरघ दृगनु = बड़े–बड़े नेत्रों वाली। औरै कछू = और प्रकार की अर्थात् विलक्षण।

सन्दर्भ– कवि की प्रास्ताविक उक्ति है कि बाह्य सौन्दर्य में तो संसार की अनेक वस्तुएँ एक ही सी ज्ञात होती हैं, पर सुजान लोग जिसमें कोई विशेष आंतरिक भाव होता है, उसी से अनुरक्त होते हैं। जैसे कि बडे तथा कोरदार दृगों वाली अनेक स्त्रियाँ संसार में होती हैं, पर सुजान लोग सभी से अनुरक्त नहीं होते। उन्हें तो अनुरक्त करने वाली एक विशेष प्रकार की चितवन होती है, जो किसी ही किसी की आँखों में होती है। यह दोहा ऐसे स्थान पर पढ़ने के योग्य है कि जब कोई राजा अथवा धनी यह सोचे कि हम धन देकर अमुक गुणी को वश में कर लेंगे, पर वह गुणी उसके स्वभाव से प्रसन्न न होकर उसके यहाँ न रहे, प्रत्युत किसी और के स्वभाव तथा सम्मान से संतुष्ट होकर उसके यहाँ निवास करे–

व्याख्या– अनियारे (कोरदार) [तथा] दीर्घ दृगों में (के कारण) [संसार में] कितनी तरुणियाँ एक ही सी नहीं हैं ! [परन्तु सबकी चितवनें एक सी नहीं होती] वह चितवन कुछ और ही (किसी विशेष प्रकार की और किसी ही किसी में) होती है, जिससे सुजान (गुणीजन) वशीभूत होते हैं।

विशेष– (१) इस दोहे में बिहारी ने नायिका के नेत्रों और नुकीले और सुदीर्घ कहकर उनके सौन्दर्य को उदघाटित किया है। (२) रत्नाकर ने इस दोहे को कवि की प्रास्ताविक उक्ति माना है। (३) इसकी नायिका परकीया है। (४) अलंकार– काकुवक्रोक्ति, व्यतिरेक, भेदकातिशयोक्ति।

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट-पटु ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कैं गई झरोखा झाँकि।।।।

शब्दार्थ– सैं = यह शब्द 'सी ही' अथवा 'से ही' का लघु रूप बन गया है। 'सी ही' अथवा 'से हो' से 'सीयै' अथवा 'सेयै' और सीयै' अथवा 'सेयै' से 'स्यै' बना है। 'स्यै' के यकार के लोप तथा अर्द्धचंद्र के आगम से उसी का 'सैं' रूप हो गया है। काव्य भाषा में बहुधा निरनुनासिक शब्दों का उच्चारण सानुनासिक किया जाता है।

सन्दर्भ– नायक को खिड़की में से देखकर जिस मनोमोहिनी चेष्टा से नायिका हट गई है, उसका वर्णन नायक उसकी सखी से अथवा स्वगत करता है–

व्याख्या– [वह] शशिमुखी सटपटाती हुई सी ही (भय, अभिलाषा तथा संकोच से यह संशय करती हुई सी ही कि झाँकूँ या न झाँकूँ, अर्थात् यद्यपि उसके हृदय में झाँकने के विषय में हिचक थी, तथापि) [अपने] मुख पर घूँघट का पट ढाँपकर, [और] पावक की झर (लपट) से झमककर (शीघ्रतापूर्वक लपलपाकर) झरोखे में से झाँक गई।

विशेष– (१) कवि विरह अवस्था का वर्णन कर कहता है कि विरह में छाया और सुगन्धित वायु भी कष्टदायी लगती है, परन्तु श्री कृष्ण के स्मरण मात्र से ही ये दोनो शीतल और सुहावने लगते हैं जैसे श्री कृष्ण उसी क्षण वहाँ आ गये हों। (२) अलंकार– स्मरण, वृत्यानुप्रास।

सघनकुंज-छाया सुखद सीतल सुरभि-समीर।

मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर।।४८।।

शब्दार्थ– समीर = पवन। मनु = मन। वहै वैसा ही। तीर = किनारे।

सन्दर्भ– श्रीकृष्णचंद्र के मथुरा चले जाने पर उनके विरह में कातर कुछ गोपियाँ बैठी आपस में बातचीत करती हैं। उनमें से कोई कहती है–

व्याख्या– [हे सखी !] श्रीयमुनाजी के उस तीर पर [जहाँ श्रीकृष्णचंद्र के साथ विविध विहार किए गए थे] अब भी (उनके उपस्थित न रहने पर भी) मन [उनके स्मरण में निमग्न होकर] वही (जैसा उनकी उपस्थिति में रहता था, वैसा ही) हो जाता है, [अतः] सघन कुंज की छाया [तथा] सुरभि–समीर [जो विरह में दुःखद तथा तापकर होते हैं] सुखद [तथा] शीतल [हो जाते हैं]।

सोहत ओढ़ैं पीतु पटु स्याम, सलौनैं गात।

मनौ नीलमनि-सैल पर आतपु पर्‌यौ प्रभात।।४६।।

शब्दार्थ– सोहत = शोभा दे रहे हैं। पीत पटु = पीताम्बर। सैल = पर्वत। आतप = धूप, सूर्य का प्रकाश।

सन्दर्भ– सखी अथवा दूती नायक की नील छवि पर पीत पट की शोभा का वर्णन करके नायिका के चित्त में अनुराग उत्पन्न करना चाहती है–

व्याख्या–[नायक के] श्याम [तथा] सलोने (सुंदर, चमकीले) गात्र पर ओढने से पीत पट [ऐसा] शोभित होता है, मानो नीलमणि के पर्वत पर प्रातः काल आतप (घाम) पड़ा हुआ है।

विशेष– (१) अलंकार– वृत्यानुप्रास। (२) उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा (मनौ)।

बरन, बास, सुकुमारता, सब बिधि रही समाइ।

पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ।।५०।।

शब्दार्थ– बरन = वर्ण, रंग। बास = सुगंध। रही समाइ = मिल रही है। गात = शरीर।

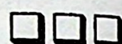
सन्दर्भ– सखी नायक से नायिका के शरीर की हलकी ललाई, सुगंधि तथा कोमलता का वर्णन करती है–

व्याख्या–[उसके] गात्र में गुलाब की 'पँखुड़ी' (पंखड़ी) लगी हुई (चिपकी हुई) जानी नहीं जाती (लक्षित नहीं होती)–[वह] 'बरन' (वर्ण, रंग), वास (सुगंधि) [तथा] सुकुमारता (कोमलता), [इन] सब [ही] विधियों (व्यवस्थाओं) से [उसके गात्र में] समा रही है (मिल रही है)।

विशेष– (१) कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि गुलाब की पंखुड़ी और नायिका के गालों में कोई अन्तर नहीं है फलतः वे बहुत आर्कषक हैं।

(२) नायिका परकीया है।

(३) इस दोहे में मीलित अलंकार की आभा विद्यमान है।



6

भूषण

पावक-तूल अमित्रन के भयौ मित्रन के भयौ धाम सुधा के।
आनँद भौ बहुरौ पहिलैं कुमुदावलि चक्कनि के असु धाके।
तेगहीं त्याग-बली सिवराज भौ भूषन भाषत बंधु सुधा के।
बंदन तेज औ चंदन कीरति साजे सिँगार बधू बसुधा के।।१।।

शब्दार्थ—पावक = अग्नि। अमित्रन – जो मित्र न हो अर्थात् शत्रु। मित्रन = मित्र। कुमुदावलि = कुमुदों का समूह। चक्कनि = चक्रवाक्। असु = प्राण। धाके = आतंकित होना, डर जाना। बंधु = भाई, आत्मीय। सुधा = अमृत। बंदन = वंदना, आराधना।

सन्दर्भ— प्रस्तुत पद्यांश अलंकार शिरोमणि, वीरता के संगायक कवि 'भूषण' द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' से उद्धृत है, जो हमारी पाठ्य पुस्तक में संकलित है। प्रस्तुत पद्य में कवि ने शिवाजी की कीर्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है—

व्याख्या— शिवाजी अपने शत्रुओं को अग्नि के समान जलाने वाले हैं और मित्रों को चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाले हैं। उन्होंने अपनी प्रजा को इस तरह आनन्दित किया, जैसे चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर कुमुदिनी प्रफुल्लित हो जाती है, और उनके शत्रु अपने प्राण बचाने के लिए इस तरह आतंकित हो गये जैसे चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर चक्रवाहक विह्वल हो जाता है। तलवार के प्रभाव से ही शिवराज त्यागी और बलशाली राजा के रूप में अवतीर्ण हुए जो अपने बंधु रूपी प्रजा को अमृत के सदृश पेय पिलाने वाले बन गये। भूषण जी कहते हैं— कि शिवाजी पृथ्वी रूपी वधू के ऐसे पति बन गये, जो पृथ्वी को समस्त श्रृंगार से आपूरित किये हों, चन्दन के समान उनकी कीर्ति सभी प्राणियों को शीतलता प्रदान करने वाली और उनके तेज का प्रताप सबके लिए वन्दनीय हो गया।

विशेष— (१) उपमा और रूपक अलंकारों का प्रयोग है। (२) छन्द में माधुर्य गुण की प्रधानता है। (३) गेय पद शैली में यह छन्द अभिव्यंजित है।

चंदन में नाग मदभर्‌यौ इंद्र-नाग
विषधर्‌यौ सेषनाग कहै उपमा अबस कौ।
चौंर थहरात न कपूर ठहरात मेघ
सरद उड़ात बात लागें दिस दस कौ।
संभु नीलग्रीव भौंर पुड़रीक ही बसनि
सरजा सिवाजी बोल भूषन सरस कौ।

छीरधि में पंक कलानिधि में कलंक

यातें रूप एक टंक ये लहैं न तेरे जस कौ।।२।।

शब्दार्थ–नीलग्रीव = नीली ग्रीवा, गर्दन वाले। पुंडरीक = सर्प। छीरधि = पय सागर। कलानिधि = चन्द्रमा।

सन्दर्भ– इस छन्द में भूषण ने विभिन्न उपमानों को सामने लाते हुए शिवाजी के यश का वर्णन किया है –

व्याख्या– शिवाजी का प्रशस्तिगान करते हुए कवि भूषण कहते हैं कि चन्दन जैसे सुगन्धित वृक्षों में भी विषैले नाग का निवास रहता है। इन्द्र नाग भी मद–भरा रहता है तथा शेषनाग जिस पर पृथ्वी का भार है उसमें भी विष मौजूद है। कपूर कितना अच्छा पदार्थ है किन्तु वह भी सुबह तक नहीं ठहरता उड़ जाता है। शरद दसों दिशाओं में मंडराते बादलों को उड़ा देता है। शम्भु भगवान शंकर भी विषपान के कारण नीली ग्रीवा वाले बन गये। उनके पास सर्प निवास करते हैं, क्षीर सागर में भी कीचड़ रहता है तथा सुन्दर कलापूर्ण होते हुए भी चन्द्रमा में कलंक होने से उसकी शोभा में कमी आ जाती है। भूषण कवि सरस शूरवीर शिवाजी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे यश और कीर्ति के समक्ष इनके किसी भी रूप से समानता नहीं हो सकती।

विशेष– (१) शिवाजी के प्रताप अर्थात वीरता का बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है कवि ने। (२) वीर रस का वर्चस्व है।

चमकति चपला न फेरत फिरंगैं भट

इंद्र की न चाप रूप बैरख समाज कौ।।

धाए धुरवा न छाए धूंरि के पटल मेघ

गाजिबौ न साजिबौ है दुंदुभी-अवाज कौ।

भ्वैसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं

पिय भजौ देखि उदौ पावस की साज कौ।

घन की घटा न गजघटनि सनाह साज

भूषण भनत आयौ सैन सिवराज कौ।।३।।

शब्दार्थ– चपला = बिजली। फेरत = घुमाते हैं। फिरंगैं = तलवारें। भट = योद्धा। बैरख = झण्डा। धुरवा = बादल। पटल = आवरण, परदा, समूह। व्योम = आकाश। गाजिबो = गरजना। दुंदुभि = नगाड़ा। डरानी = डरी हुई। उदौ = उदित हुआ था। पावस = वर्ष। गजघटनि = हाथियों के झुण्ड। सनाइ = कवच। भनत = कहते हैं।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में मुसलमान सरदारों और सेनापतियों की स्त्रियों में शिवाजी के आतंक और भय का वर्णन किया गया है। वर्षा के आगमन में वे शिवाजी की सेना का अनुमान करके भयभीत हो जाती हैं और पतियों से कहती हैं–

व्याख्या– शिवाजी के भय से भयभीत बनी हुई शत्रुओं की स्त्रियाँ कहती हैं कि हे स्वामी ! तुम इस भ्रम में मत पड़ो कि यह वर्षा सजकर आ रही है। यह तो शिवाजी की सेना आ गई है। यह वर्षा के उदय के रूप में शिवाजी की सेना ही है, इसलिए यहाँ से भाग चलो। जिसे तुम बिजली का चमकना कहते हो, यह बिजली नहीं चमक रही है,

अपितु शिवाजी के योद्धा तलवारें घुमा रहे हैं। उन्हीं से बिजली कौंध रही है। यह वर्षा ऋतु में उदित होने वाला इन्द्रधनुष नहीं है। यह तो शिवाजी की सेना का झण्डा है। आकाश में ये बादल छाये हुये नहीं हैं, अपितु सेना के चलने से उठी हुई धूल के आवरण में छा गये है। यह बादलों की गर्जना नहीं है। यह तो शिवाजी की सेना के युद्ध के नगाड़ों का घोर शब्द हो रहा है जिसे बादलों की घटा समझते हो, वह तो कवच धारण किए हुए हाथियों का झुण्ड है।

विशेष– (१) यहाँ शिवाजी के आतंक का सजीव वर्णन हुआ है। (२) अलंकार–उपमेय को उपमान कहकर छिपाना वर्णना होने से अपहुति अलंकार है। (३) यंत्र–तत्र अनुप्रास है।

कामिनी कंत सों जामिनि चंद सों दामिनि पावस-मेघ-घटा सों।
कीरति दान सों सूरति ज्ञान सों प्रीति बढ़ी सनमान महा सों।
भूषन भूषन सों तन ही नलिनी नव-पूषनदेव-प्रभा सो।
जाहिर चारिहुँ ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवा सों।।४।।

शब्दार्थ– पावस = वर्षा ऋतु। नलिनी = कमलिनी। भूषण = सूर्य।

सन्दर्भ– शिवाजी के हिन्दू धर्मरक्षक रूप का वर्णन यहाँ किया गया है।

व्याख्या– अपने पति से स्त्री, चन्द्रमा से रात तथा वर्षाकालीन बादलों की घटा से बिजली शोभापाती है। दान देने से यश, ज्ञान से रूप, अत्यधिक सम्मान से प्रेम एवं आभूषणों से यौवन तथा प्रभातकालीन सूर्य से कमलिनी सुन्दर लगती है, उसी प्रकार एकमात्र शिवाजी के कार्यों से सम्पूर्ण हिन्दू जाति शोभा पाते हैं और यह बात सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध है।

विशेष– कवि भूषण ने शिवाजी के हिन्दुओं के धर्म करने का बड़ा मनोहारी चित्रण किया है।

देव तुरीगन गीत सुने बिन देत करीगन गीत सुनाएँ।
भूषन भावत भूप न आन जहान खुमान की कीरति गाएँ।
देत घने नृप मंगन कौं पै निहाल करैं सिवराज रिझाएँ।
आन रितैं सरसैं बरसैं पै बढ़ैं नदियाँ नद पावस आएँ।।५।।

शब्दार्थ– तुरीगन = घोड़े का समूह। करीगन = हाथियों का समूह। खुमान = चिरंजीवी, शिवाजी की उपाधि। मंगन = माँगने वाला। निहाल = पूरी तरह प्रसन्न। नद–पावस = नालों का वर्षा जल।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में महाकवि भूषण ने शिवाजी की वीरता का यशगान किया है।

व्याख्या– कवि भूषण जी अन्यान्य राजाओं का तुलनात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अन्य राजा तो घोड़ों के समूह को अपने प्रशस्त्रि गायन सुनने के बाद देते हुए कहते हैं किन्तु शिवाजी तो बिना गीत सुने ही हाथियों के समूह को दान दे देते हैं। अतः शिवाजी के समान पूरे संसार में कोई राजा सुशोभित नहीं होता जिसकी यशस्वी कीर्ति इतनी फैली हुई हो, अर्थात् शिवाजी की कीर्ति निरंतर चिरंजीवी है। कवि भूषण आगे कहते हैं– अन्य राजा तो याचक को ढेर–सारा धन देते हैं पर, शिवाजी तो अपने याचक

को पूरी तरह तृप्त ही कर देते हैं। यह अनुभावना ठीक इस तरह है कि अन्य ऋतुएँ तो केवल वर्षा आने पर सरसित होती है लेकिन नदियाँ वर्षा ऋतु में छोटे--छोटे नालों के जल प्लावन के कारण ही आगे बढ़ती हैं।

विशेष– (१) उपर्युक्त छन्द में कवि ने वीर शिवाजी का यश–गायन किया है। (२) कवि ने अन्य राजाओं की तुलना में शिवाजी को अत्यधिक कीर्तिमान माना है। (३) कवि ने शिवाजी को विशिष्ट दानी राजा स्वीकार किया है।

पूरब के उत्तर के प्रबल पछाँहहू के
सब पातसाहन के गढ़-कोट हरते।
भूषन कहैं यो अवरंग सों उजीर जीति
लेबे कौं पुरतगाल सागर उतरते।
सरजा सिवा पर पठावत मुहीम-काज
हजरत हम मरिबे कौं नाहिं डरते।
चाकर ह्वै उजर कियौ न जाय नेक पै
कछू दिन उबरते तौ घने काम करते।।६।।

शब्दार्थ– उजीर = वजीर, पातसाहन = बादशाहों, गढ़ = कीट, दुर्ग, मुहीम काज = आक्रमण करने के लिये, हजरत = श्रीमन (सम्बोधन), उजर = उज्र, प्रतिवाद।

व्याख्या– प्रस्तुत छन्द में शिवाजी के प्रबल शौर्य तथा मुस्लिम सरदारों के भय का विनोदपूर्ण चित्रण कवि भूषन ने किया। भूषण कवि कहते हैं– औरंगजेब के वजीर उससे इस प्रकार निवेदन करते हैं– पूर्व और उत्तर तथा अत्यंत बलशाली पश्चिम दिशा के निवासी, कितने ही बादशाहों को परास्त करके हम उनके दुर्ग छीन लेते हैं। पुर्तगाल विजन करने के लिये हम सागर भी पार कर जाते हैं। आप हमको महाराज शिवाजी पर आक्रमण करने के लिये दक्षिण भेजते हैं तो हे श्रीमन हम मरने से भयभीत नहीं होते। भले ही शिवाजी के सम्मुख हमारे प्राण न बचे। हम तो सेवक हैं, आज्ञा का रंचमात्र भी प्रतिवाद न करेंगे। बस इतना ही अनुरोध है कि कुछ दिन हमारे प्राण और और बचे रहते तो हम आपके बहुत से कार्य करते।

विशेष– उपर्युक्त छन्द में औरंगजेब के वजीरों (मंत्री) की छींग तथा प्राण रक्षा के बहाने बनाने का उपहासात्मक वर्णन कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सम्राट को प्रलोभन देकर अपने प्राणों की रक्षा करने के प्रयत्न में मनोवैज्ञानिकता है।

भाषाः सुगठित प्रवाहपूर्ण मुहावरेदार है। ब्रजभाषा के साथ ही विदेशी प्रचलित शब्दों (हजरत आदि) का प्रयोग भाषा में स्वाभाविकता उत्पन्न करता है।

साहितनै सरजा की कीरति सों चारों ओर
चाँदनी बितान छिति-छोर छाइयतु है।
भूषन भनत ऐसो भूमिपति भ्वैंसिला है
जाके द्वार भिच्छुक सदा ही भाइयतु है।
महादानी सिवाजू खुमान या जहान पर

दान के बखान जाके यौं गनाइंयतु है।

रजत की हौंस किये हेम पाइयतु जासों

हयन की हौंस कियें हाथी पाइयतु है।।७।।

शब्दार्थ– कीरति = कीर्ति। वितान = चंदोवा। छितिछोर = पृथ्वी के अंत तक। रजत = चांदी। हेम = स्वर्ण। हयन = थोड़े। हौंस = इच्छा।

सन्दर्भ– इस सम्पूर्ण पद्य में शिवाजी की दानशीलता और धैय का वर्णन किया गया है।

व्याख्या– कवि कहता है– शाह जी के पुत्र शिवाजी की कीर्ति पृथ्वी की अंतिम सीमा तक चतुर्दिक श्वेत चांदनी के चंदोवे के समान तनी हुई है। वह भोंसले वंश के ऐसे भूपति हैं, जिनका द्वार भिक्षुकों को सदैव प्रिय रहता है। इस संसार में महाराज आयुष्मान शिवाजी महादानी हैं, उनकी दान गाथा का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि उनसे चांदी की इच्छा रखने पर सोना प्राप्त होते हैं। अर्थात् याचक अभिशिप्त वस्तु से अधिक प्राप्त करते हैं।

विशेष– शिवा जी दान वीरता का प्रशंसात्मक चित्रण है। दान विषयक उत्साह–स्थायी भाव है, याचक आलम्बन है। भिक्षुकों की भीड़ यश विस्तार आदि उद्दीपन है। **अलंकार**–अनुप्रास का स्वाभाविक प्रयोग है। भाषा प्रवाहमयी प्रसाद तथा माधुर्य गुण युक्त ब्रज भाषा है।

तो कर सों छिति छाजत दानहि दानहु सों अति तो कर छाजै।

तूँ ही गुनी की बड़ाई सजै अरु तेरी बड़ाई गुनी सब साजै।

भूषन तोहि सों राज बिराजत राज सों तूँ सिवराज बिराजै।

तो बल सो गढ़-कोट हैं गाजत तूँ गढ़–कोटनि के बल गाजै।।८।।

शब्दार्थ– छिति = पृथ्वी। छाजत = राजती है, सुशोभित होती है। गुनी = गुणी। गाजत् = परिपूर्ण होना।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कवि ने वीर शिवाजी की वीरता का वर्णन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण कहते हैं– हे शिवाजी तुम्हारे हाथों दिये गये दान से सम्पूर्ण पृथ्वी सुशोभित होती है, और तुम्हारे हाथों से दान दिये जाने पर तुम्हारा हाथ अत्यधिक सुशोभित होता है, जो गुणवान व्यक्ति हैं वे तुम्हारी बड़ाई करने पर सुशोभित होते हैं, और तुम्हारा यशगान करने पर वह गुण अत्यधिक सुन्दर हो जाता है। तुम्हारे सिंहासन पर बैठने से राज सुन्दर लगने लगता है, और तुम्हारे ही कारण वह राजसिंहासन भी सुशोभित होता है। तुंम्हारे बल–प्रताप पर जितने गढ़–कोट हैं वे सभी प्रभावित होते हैं, और तुम्हारे बल के कारण ही उन गढ़–कोटों की मर्यादा बनी हुई है।

विशेष– (१) प्रस्तुत पद्य में कवि ने वीर शिवाजी की वीरता का गायन किया है। (२) कवि ने अतिशयोक्ति वर्णन किया है। (३) यमक अलंकार भी द्रष्टव्य हैं।

ब्रह्म रचै पुरुषोत्तम पोषत संकर सृष्टि-सँहारनहारे।

तू हरि को अवतार सिवा नृप-काज सँवारे सबै हरिवारे।

भूषन यौं अवनी जवनी कहैं कोउ कहै सरजा सों हहा रे।

तूँ सबको प्रतिपालनहार बिचारे भतार न मार हमारे।।६।।

शब्दार्थ– हरिवारे = विष्णुवाले। अवनी = जवनी = मुसलमान स्त्रियाँ। प्रतिपालन हार = दूसरे का पालन करने वाला। भतार = पति।

सन्दर्भ– इस छन्द में भूषण ने शिवाजी की दानशीलता और धैर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण कहते हैं कि ब्रह्मा सृष्टि की रचना करने वाले हैं, भगवान विष्णु सृष्टि के पालनकर्त्ता हैं, और भगवान शंकर समस्त सृष्टि का संहार करने वाले हैं। कवि भूषण, शिवाजी के विषय में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे राजा शिवाजी ! तुम भगवान विष्णु के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए राजा के कर्म का निर्वहन कर रहे हो अर्थात् सबका पालन कर रहे हो। कवि आगे कहता है कि समस्त पृथ्वी की मुसलमान स्त्रियाँ ऐसा कहती हैं कि हे शिवाजी हाय ! तुम ऐसा न करो, मेरे प्रियतम का संहार न करो, क्योंकि तुम तो सबका पालन करने वाले हो।

विशेष– (१) कवि ने शिवाजी को प्रजापालक बताया है। (२) शिवाजी की तुलना भगवान् विष्णु से की गयी है। (३) अतिशयोक्ति वर्णन द्रष्टव्य है।

आदि बड़ी रचना है बिरंचि की जामें रह्यो रचि जीव जड़ो है।
ता रचना महिं जीव बड़ी अति काहे तें ता उर ज्ञान गड़ो है।
जीवन में नर लोक बड़ी कवि भूषन भाषत पैज अड़ो है।
है नर लोक में राज बड़ो सब राजन में सिवराज बड़ो है।।१०।।

शब्दार्थ– आदि = प्रारम्भ, प्राचीन। बिरंचि = ब्रह्मा। उर = हृदय। पैज = प्रतिज्ञा।

सन्दर्भ– इस छन्द में भूषण ने शिवाजी की दानशीलता और धैर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण कहते हैं कि– प्रारम्भकाल से ही ब्रह्मा ने इस तरह की रचना की है प्रत्येक व्यक्तित्व या संसार में जड़ और जीव दोनों का समन्वय स्थापित किया है। इस रचना या सृष्टि में जीव अत्यधिक बड़ा है, क्योंकि उसके हृदय में ज्ञान का व्यापक भण्डार है। भूषण जी आगे कहते हैं– इस सम्पूर्ण सांसारिक जीव में मानव लोक या मानवीय व्यक्तित्व सबसे बड़ा है क्योंकि यह मानव अपने प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाला है। और इस नर लोक या मानवीय लोक में राज सबसे बड़ा है, और सभी राजाओं में वीर शिवाजी राजा के रूप में सबसे बड़े हैं।

विशेष– (१) कवि भूषण ने प्रस्तुत पद्य में वीर शिवाजी का प्रशस्ति गायन किया है। (२) शिवाजी को उत्तरोत्तर सांसारिक सृष्टि में सबसे उच्च स्थान कवि ने दिया है।

अति मतवारे जहाँ दुरदै निहारे जहाँ
तुरगन ही में चंचलाई-परकीति है।
भूषन कहत जहाँ पर लगैं बानन कों
कोक पच्छिनहिं माहिं विछुरन-रीति है।
गुनि गन चोर जहाँ एक चित्त ही के लोग
बाँधे जहाँ एक सरजा की गुन-प्रीति है।

कंप कदली में बैर बृच्छ बदरी में सिव-
राज अदली के राज में यौं राजनीति है।११।।

शब्दार्थ– मदवारे = मतमस्त वाले। दुरदै = हाथी। तुरगन = घोड़े। पर = पंख। बनान–बाण को = चक्रवाक। कदली = केला। बदरी = बेर का पेड़। अदली = न्यायशील।

सन्दर्भ– इस छन्द में भूषण ने शिवाजी की दानशीलता और धैर्य का वर्णन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण जी कहते हैं कि शिवाजी के राज में यदि कहीं कोई मदमस्त होने वाला है तो वह केवल हाथी ही है, और यदि किसी में चंचलता परिलक्षित होती है तो केवल घोड़ो में दिखायी पड़ती है। भूषण जी कहते हैं कि यदि कहीं पंख लगे हैं तो यहाँ के बाणों में ही लगे हैं, और यदि कहीं कोई विछोह वियोग है तो केवल चक्रवाक पक्षियों में ही है। अगर कहीं कोई चोर है तो वह गुणों को चुराने वाला है, भावतः राज्य के सभी लोग एक ही भाव–गुण वाले हैं और यदि कहीं कोई बंधन या बंधाव है तो केवल शिवाजी के गुणों और प्रीति से लोग बँधे हैं। यदि कहीं कम्पन है तो केले के वृक्ष में है, और यदि कहीं बैर है तो केवल नामानुरूप बैर का वृक्ष है। कवि कहता है कि राजा शिवाजी के राज में इस तरह की राजनीति भावित है।

विशेष– (१) प्रस्तुत छंद में शिवाजी के राज–व्यवस्था का चित्रण कवि ने किया है। (२) परिसंख्या अलंकार द्रष्टव्य है।

साहितनै सरजा समरथ्थ करी करनी धरनी पर नीकी।
भूलिगे भोज-से-बिक्रम-से और भई-बेनु की कीरति फीकी।
भूषन भिच्छुक भूप भलि भीख लै केवल भ्वैसिला ही की।
नेक की रीझि धनेस करै लखि ऐसियै रीति सदा सिवजीवी।।१२।।

शब्दार्थ– साहि तनै = शाह जी के पुत्र। धरनी = पृथ्वी। धनेस = धन से परिपूर्ण, कुबेर।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कवि भूषण ने वीर शिवाजी का यश गायन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण वीर शिवाजी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि–शाह जी के पुत्र शिवाजी ने अपनी सामर्थ्य शक्ति सम्पूर्ण पृथ्वी पर अच्छी तरह से बढ़ा ली है। उनके इस प्रभु–प्रताप से लोग राजा भोज, विक्रमादित्य, बलि और राजा वेणु तक को भूल गये हैं, इन राजाओं का प्रताप शिवाजी के आगे फीका पड़ गया है। राजा शिवाजी भ्वैसिला की उपाधि धारण करते हुए भले ही भिक्षु के रूप में राजा हुए किन्तु वे अपने प्रजा के सद्व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे सदैव कुबेर जैसा धन प्राप्त कराते रहे, ऐसी ही रीति, सदा राजा शिवाजी की थी।

विशेष– (१) प्रस्तुत पद्य में कवि ने शिवाजी का कीर्तिवर्धन किया है। (२) अन्य प्रतापी राजाओं– भोज, विक्रमादित्य, बलि, वेणु आदि से शिवाजी को श्रेष्ठ बताया है।

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम जुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु ब्यास के संग सुहानी।

बिक्रम भोजहु के गुन कै भूषन पावनता जग जानी।

पुन्य पवित्र सिवा सरजै बरम्हाय पवित्र भई बर बानी।।१३।।

शब्दार्थ– आनन = मुख। मानी = सम्मानित हुई। सोहानी = शोभित हुई।

सन्दर्भ– प्रस्तुत छन्द में शिवाजी के चरित्र की निर्मलता पर महाकवि भूषण प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

व्याख्या– जो वाणी (सरस्वती) श्री ब्रह्मा जी के मुख से निकलने के कारण तीनों लोकों में अत्यन्त पवित्र मानी गई, फिर (मर्यादा पुरुषोत्तम) श्री रामचन्द्रजी और (धर्मराज) युधिष्ठिर के चरित्र वर्णन करने में जो वाल्मीकि और महर्षि व्यास के अंगों (मुखों) से सुशोभित हुई, भूषण कहते हैं कि उस पवित्र सरस्वती को कलियुग के कवियों ने (विषयी) राजाओं का यश वर्णन करके नष्ट एवं अपवित्र कर दिया था। वहाँ अब वीर–केसरी शिवाजी के पुण्य चरित्र रूपी सरोवर में स्नान करनके फिर पवित्र हो गई।

विशेष– अत्यन्त पवित्र सरस्वती को कलियुग के कवियों ने विषयों राजाओं के गुणगान का साधन बनाकर कलुहित और नष्ट कर दिया था। वही अब शिवाजी के यश–रूपी तालाब में स्नानकर पुनः पवित्र हो गई, अतः पूर्णरूप अलंकार है।

इंद्र निज हेरत फिरत गजइंद्र अरु

इन्द्र को अनुज हेरै दुगधनदीस कों।

भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरैं।

बिधि हेरैं हंस कों चकोर राजनीस कों।

साहितनै सरजा यों करनी करी है तैं वै

होतु है अचंभो देव कोटियौ तैंतीस कों।

पावत न हैरैं तेरे जस में हिराने निज

गिरि को गिरीस हेरैं गिरजा गिरीस कों।।१४।।

शब्दार्थ– सुर सरिता = गंगा नदी। विधि = ब्रह्मा। गिरि = पर्वत।

सन्दर्भ– उपरोक्त पद्यानुसार।

व्याख्या– भूषण कवि कहते हैं कि महाराज शिवाजी ने ऐसा कार्य किया है जिसका वर्णन अति विचित्र है। जिस प्रकार इन्द्र अपने गज को ढूढ़ते हैं, भगवान् विष्णु अपने क्षीर सागर को ढूढ़ते हैं और ब्रह्मा जी अपने हंस को तथा चकोर चन्द्रमा को ढूढ़ता है। उसी समय शिवाजी ने ऐसी कीर्ति करी है जिससे तैंतीस कोटि देवताओं को आश्चर्य हो रहा है। कवि कहता है कि शिवाजी के यश में अपने लोग ऐसा खो गये हैं जैसे भगवान शंकर अपने कैलास पर्वत को और पार्वती जी अपने शिव को ढूढ़ रही हैं।

विशेष– (१) यहाँ पर शिवाजी कि शौर्य का वर्णन किया गया है। (२) यहाँ पर अनुप्रास अलंकार है।

एक कहैं कलपद्रुम है इमि पूरत है सबकी चितचाहै।

एक कहैं अवतार मनोज को यौं तन में अति सुन्दरता है।

भूषन एक कहैं महिइंदु यौं राज बिराजत बाढ्यौ महा है।

एक कहैं नरसिंह हैं संगर एक कहैं नरसिंह सिवा है।।१५।।

शब्दार्थ– कलपद्रुम = कल्पवृक्ष। मनोज = कामदेव। महि इन्दु = पृथ्वी की चन्द्रमा। संगर = शंकर। नर सिंह = मानवों में श्रेष्ठ, नृसिंह भगवान।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कवि ने शिवाजी का तुलनात्मक यशोगायन किया है।

व्याख्या– कवि भूषण कहते हैं कि–वीर शिवाजी के विषय में कोई कहता है कि ये कल्पवृक्ष के समान हैं, अर्थात् सब कुछ प्रदान करने वाले है, सबकी अन्तरात्मा के भाव को स्वीकारने वाले हैं। कोई कहता है कि कामदेव के अवतार हैं, इसलिए इनका शरीर अत्यधिक सुन्दरता से आपूरित है। कवि भूषण आगे कहते हैं– कि कोई कहता है कि ये पृथ्वी के चन्द्रमा हैं अर्थात् चन्द्रमा की तरह सबको शीतलता प्रदान करने वाले हैं, इसलिए इनका राज बढ़ रहा है और उस राज की शोभा शिवाजी बढ़ा रहे हैं। और कोई कहता है कि समस्त मानवों में अत्यधिक वीरता से शिवाजी परिपूर्ण हैं, और कोई कहता है कि ये साक्षात् नृसिंह भगवान के स्वरूप हैं जिनमें अपने भक्त के प्रति प्रियता और शत्रु के प्रति विद्वेष विद्यमान है।

विशेष– (१) प्रस्तुत पद में शिवाजी का यश गायन किया गया है। (२) शिवाजी को–कल्पवृक्ष, कामदेव, नरसिंह, और चन्द्रमा या पर्याय बताया है। (३) यमक अलंकार द्रष्टव्य है।

सुंदरता गुरुता प्रभुता भनि भूषन होत है आदर जामें।

सज्जनता औ दयालुता दीनता कोमलता झलकै परजा में।

दान कृपानहु को करिबो करिबो अभै दीनन को बर जामें।

साहस सों रनटेक बिबेक इते गुन एक सिवा सरजा में।।१६।।

शब्दार्थ– गुरुता = महत्ता, बड़प्पन। भनि = प्रभासमान, भरा हुआ। परजा = प्रजा। कृपानहु = तलवार। बर = बल। रनटेक = युद्ध प्रतिज्ञा।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में वीर शिवाजी का कीर्ति वर्णन कवि भूषण ने किया है–

व्याख्या– कवि भूषण, वीर शिवाजी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सुन्दरता, बड़प्पन (महत्ता और कृपालुता और आदर भावना यह सभी राजा शिवराज में एक साथ प्रभासित है, और अपनी प्रजा के प्रति सदैव उनमें सज्जनता, दया की भावना, दीनों की सहायता करना और कोमलता, झलकती है, संदर्भित होती है। वे अपनी प्रजा को सदैव तलवार का दान देते हैं जिससे उनकी प्रजा भय से रहित हो जाय तथा उसमें बल की जागृति हो, अर्थात् अपनी तलवार से वे सदैव प्रजा की रक्षा करते हैं। युद्ध के क्षेत्र में दृढ़प्रतिज्ञा और विचारशील होकर वे धैर्यपूर्वक रहते हैं, कवि भूषण कहते हैं कि इतने ढेर–सारे गुण शिवाजी में एक साथ विद्यमान हैं।

विशेष– (१) शिवाजी का कीर्तिगायन कवि ने किया है (२) शत्रु और मित्र के प्रति यथेष्ट व्यवहार का स्मरण कवि ने कराया है।

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के

नाहीं ठहराने रावराने देसदेस के।

नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के।।१७।।

शब्दार्थ– बाने = भाले के आकार का हथियार जिसमें झंडा बंधा होता है। घहराने = आवाज करने लगे। गजन = हाथी। रावराने = राजा। नग = पर्वत। पराने = भाग गये। निसाने = नगाड़ा। उकसाने = हिलने लगे। कुंभ = हाथी का मस्तक। कुंजर = हाथी। अलि = भौंरा। दरार = रंगड़। कमठ = कच्छप। सेस = शेषनाग।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कवि भूषण ने वीर शिवाजी की सेना का प्रभावात्मक वर्णन किया है।

व्याख्या– भूषण जी कहते हैं कि वीर शिवाजी की सेना के बाने फहराने और उनकी हाथियों के गले के घंटों की आवाजों से देश–देश के राजा लोग उनके मार्ग से हट गये या सामने रुक नहीं सके। सेनाओं के इस समूह से नगाड़ो की ध्वनि के कारण पर्वत गिरने लगे, और ग्राम और नगर के सभी लोग भाग गये। कवि आगे कहता है कि सेनाओं के हाथियों के पीठ पर रखा जाने वाला आसन हिलने लगा, जिससे हाथी के मस्तक पर मँडराने वाले भौंरे अपने–अपने घरों को भाग गये और उनके केसों की लटें खुल गयीं। शिवाजी की सेना के रगड़ के कारण जो पृथ्वी धारण करने वाला कठोर कच्छप है, उसमें भी दरार पड़ गयी, और पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग के फण भी केले के पत्ते की तरह अलग हो गये, फट गये।

विशेष– (१) कवि ने शिवाजी की सेना का अतिशयोक्ति वर्णन किया है।

(२) हेतूत्प्रेक्षा अलंकार

राखी हिंदुवानी हिंदुवान को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे बेद बिधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की
धरा मैं धरम राख्यौं गुन राख्यौ गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्दय मरहट्ठन की
देस–देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली–दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं।।१८।।

सन्दर्भ– हिन्दुवानी = हिन्दुत्व, अस्मृति पुरान = स्मृति पुराण ग्रन्थ, ह् = सीमा, मरहढ्ढन, मराठा, समसेर–शमशेर, वीर।

व्याख्या– प्रस्तुत कवित्त में कविवर भूषण ने महाराज शिवाजी को धर्म रूप में प्रस्तुत किया है। जिन्होंने इस्लाम धर्म का नाश तथा हिन्दू धर्म की रक्षा की है।

कवि कहता है कि धर्मवीर शिवाजी ने अपने शौर्य एवं पराक्रम से भारत भूमि में उनके हिन्दुत्व की (भारतीयता) तथा हिन्दुस्तान के सम्मान की रक्षा की है। स्मृति पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थों तथा वैदिक रीति की सुरक्षा की हे। इतना ही नहीं राजपूतों का मान तथा राजाओं की राजधानी का मान एवं सुरक्षा बनाये रखा है। शिवाजी ने इस पृथ्वी पर धर्म की रक्षा की है तथा गुणियों का गुण बनाये रखा है। सुकवि भूषण कहते हैं कि मराठों की राज्य सीमा को जीत कर देश देशान्तर में अपनी कीर्ति को प्रसारित किया जिसे सुनकर मैंने उसी का वर्णन किया है।

हे शाह के सुपुत्र शिवाजी तुम्हारी शूरवीरता ने दिल्ली दल (मुस्लिम शासक, विदेशी शासक) का दमन कर अपनी मर्यादा की रक्षा की हैं।

विशेष– सम्पूर्ण छन्द में भूषण की राष्ट्रीय भावना का प्रस्फुटन हुआ है। भाषा– सुगठित, प्रवाह पूर्ण प्रसाद गुण सम्पन्न ब्रजभाषा है। "तिलक राख्यो" "दवाल राखौ" लाक्षणिक प्रयोग है। **अलंकार–** पद की तीसरी, सातवीं, आठवीं पंक्ति में वृत्यानुप्रास है। "देस देस" से पुनरुक्ति, तथा पद की अन्य पंक्तियों में छेकानुप्रास है।

बन उपबन फूले अंबनि के झौर झूले
अवनि सोहात सोभा और सरसाई है।
अलि मदमत्त भए केतकी बसंती फूली
भूषन बखानै सोभा सबै सुखदाई है।
विषम बिडारिवे कों बहत समीर मंद
कोकिला की कूक कान कानन सुनाई है।
इतनों सँदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ
कहो जाय कंत सों बसंतरितु आई है।।१६।।

शब्दार्थ– अंबनि = आमों के, झौरे = गुच्छे, अवनि = पृथ्वी, सरसाई = सरसता है, अलि = भ्रमर, विषय = प्रतिकूल = कष्टप्रद, बिडारिबे कौ = नष्ट करने को, समीर = वायु, कानन = वन, कंत = स्वामी, पति।

सन्दर्भ– बसन्त ऋतु आकर वियोग को उद्दीप्त कर रही है। वियोगिनी नायिका पथिक को प्रियतम के लिए सन्देश देती हुई कहती है :

व्याख्या– प्रस्तुत छन्द में वसन्त ऋतु का चित्रण भूषण कवि उद्दीपन के रूप में कर रहे हैं। वियोगिनी नायिका एक पथिक से संदेश अपने पति के पास कहलाती है। विरहिणी नायिका पथिक से कहती है कि वसन्त ऋतु के आगमन पर वन–उपवन प्रफुल्लित हो उठे हैं। आम्र मंजरियाँ गुच्छों के रूप में वायु के संसर्ग से झूले झूल रही है। फूले फले बाग बगीचों के साथ पृथ्वी शोभायमान हो रही है तथा शोभा का और भी अधिक सरसता के साथ संचार हो गया है। भ्रमर मदमस्त हो गये हैं। केतकी और वासन्ती फूलने लगी है। भूषण कवि वर्णन करते हुए कहते हैं। यह वसन्त की शोभा सभी को सुख (आनन्द) देने वाली है।

विशेष– (१) विप्रलम्भ श्रृंगार (२) बसन्त की प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कारो जल जमुना को काल सो लगत आली
छाइ रह्यौ मानो यह विष काली नाग को।
बैरनि भई है कारी कोयल निगोड़ी यह
तैसो ही भँवर कारो बासी बन बाग को।
भूषन भनत कारे कान्ह को बियोग हिये
सबै दुखदायी जो करैया अनुराग को।
कारो घन घेरि घेरि मार्‌यौ अब चाहत है
एते पर करति भरोसौ कारे काग को।।२०।।

शब्दार्थ– कारो = काला। नाग = सर्प। वैरन = दुश्मन। भंवर = भँवरा। भनत = कहना। कान्ह = श्रीकृष्ण। करैया = करना। अनुराग = प्रेम। घन = बादल। काग = कौआ।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्यांश कवि भूषण द्वारा रचित है इसमें कवि ने श्रीकृष्ण के वियोग में दुखदायी सखियों का वर्णन किया है।

व्याख्या– कवि कहता है कि यमुना नदी का काला जल काल के समान दिखाई देता है और इस पर आकाश में जो काले बादल छा गए हैं और उनकी परछाईं यमुना जल में पड़ रही है जैसे काले नाग का विष यमुना जल में घोल दिया हो। कृष्ण के वियोग में कोयल की मधुर आवाज भी कटु लगती है और ऐसा ही यह वन उपवन में रहने वाला काला भँवरा है जिसकी गुंजार अब अच्छी नहीं लगती। कवि भूषण कहते हैं कि ऐसे ही ये काले श्रीकृष्ण हैं जिनके प्रति सभी अपना अनुराग रखते हैं और अब उन्हीं के वियोग में सारी सखियाँ और सम्पूर्ण ब्रज व्यथित हैं। कृष्ण के वियोग में दुखी व्यथित सखियों को आकाश में छाये हुए ये काले घन घिर–घिर कर मारना चाहते हैं अर्थात् विरह की अग्नि को और अधिक भड़का देते हैं। इतना सब होने पर भी सखियाँ उस काले कौए पर भरोसा करती हैं कि वह कृष्ण की कुछ खबर लाकर देगा।

विशेष– अनुप्रास तथा यमक अलंकार है विरह की दशा का सुन्दर चित्रण प्ररतुत किया गया है।



घनानन्द

7

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लाल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै।।१।।

शब्दार्थ— छके = (यौवन के मद से) मस्त। काननि = कानों को छूकर, कानों तक फैलकर। कपोल = कपोलों पर। कलोल = हिलती है। कल = सुन्दर ग्रीवा पर। जलजावलि = (जलज = जल से उत्पन्न मोती + अवलि = समूह, लर)। दो–दो लड़ की मोतियों की माला। रूप = सौन्दर्य, रूपा, चाँदी भी संकेतित। धर = धरा पर, पृथ्वी पर।

सन्दर्भ— यह रूप छटा का वर्णन अंगदीप्ति का वर्णन है। इसमें मुख, नेत्र, वाणी के साथ ही लट, मुक्तामाला का वर्णन है। रूपवर्णन में भी कवि आन्तर–पक्ष–प्रधान है। रूप का हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव ध्यान में रखकर वह अभिव्यक्ति करता है। इसमें विषय–पक्ष–प्रमुख न होकर विषयी–पक्ष प्रमुख है।

व्याख्या— उसके गोरे मुख की एक झलक में ही अत्यन्त सौन्दर्य है। उसकी कानों को छूने वाली बड़ी–बड़ी आँखें किसको नहीं छकातीं (वे प्रेम के मद से मस्त हैं)? उसके हँसकर बोल देने मात्र से हृदय पर फूलों की वर्षा होने लगती है (अर्थात् हृदय का प्रेमावेग उमड़ने लगता है) गालों पर छितराई हुई उसकी टेढ़ी लटें, उसके सौन्दर्य से मानो खिलवाड़ करती हैं। उसके गले में दो लर वाली सुन्दर मोतियों की माला है। उसके अंग–प्रत्यंग से कान्ति की तरंगें उठती हैं, मानो उसका रूप अभी धरती पर चू पड़ेगा।

विशेष–(१) अलंकार– प्रमुख अलंकार उत्प्रेक्षा है। उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

(२) छन्द– सुमुखी सवैया, प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।ऽ) चौबीस वर्ण होते हैं।

भोर ते साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति।
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन–सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति।।२।।

शब्दार्थ— भोर = सबेरा। न हारति = थकती नहीं। तारनि = तारों को देखना। तारनि सों = पुतलियों से, आँखों से। इकतार = लगातार, एकरस। न टारति = छोड़ती नहीं। भावतो = भानेवाला, प्रिय। आँसुनि = आँसुओं से अक्सर गार (खो) देती है। सोंहन = सामने। जोहन = देखने की। आरति (आर्ति) = लालसा।

संदर्भ– अनुरागवती नायिका दिन–रात किस प्रकार विरह में पड़ी रहती है इसी का वर्णन है। सबेरे से साँझ और साँझ से सबेरे तक वह प्रिय की प्रतीक्षा करती है पर उनके दिखाई पड़ने पर भी उन्हें देख नहीं पाती। इससे उसके नेत्रों की लालसा तृप्त नहीं हो पाती।

व्याख्या– विरह में बावली वह प्रातःकाल से संध्या समय तक बगीचे की ओर लगातार देखती रहती है, जरा देर के लिए भी हार नहीं मानती अर्थात् सारे दिन उसे प्रिय के आगमन की सम्भावना बनी रहती है। अतः वह बाहर उपवन की ओर ही देखा करती है। संध्या के बाद प्रातःकाल तक वह अपने नेत्रों की पुतलियों से एकटक तारों को देखती रहती है, तारों से अपने नेत्रों को हटाती ही नहीं। तात्पर्य यह है कि उसकी सारी रात तारे गिनते–गिनते कट जाती है, उसे चैन नहीं पड़ता, नींद नहीं आती। इस प्रकार सम्पूर्ण दिन और सारी रात वह अन्य सांसारिक कामों से विरक्त हो, आत्मलीन रहती है। यदि कभी मनभावन प्रियतम दृष्टि–पथ में आ जाते हैं अर्थात् दिखायी पड़ जाते हैं तो वह अपने आँसुओं में इस दर्शन पाने के सुअवसर को गला डालती है। तात्पर्य यह है कि यदि कभी प्रियतम दिखाई भी पड़ गये तो आनन्द के अतिरेक से उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं और आँखों में आँसू भर जाने के कारण वह प्रियतम को ठीक–ठीक देख भी नहीं पाती। ऐसी विरह–दग्धा नायिका की आँखों के हृदय में मनमोहन को सामने देखने की लालसा बनी ही रहती है अर्थात् नायिका की आँखें प्रियतम के दर्शनों के लिए सर्वदा लालायित रहती हैं।

विशेष– छंद– अरसात सवैया, प्रत्येक चरण में आठ भगण (ऽ।।), अर्थात् २४ वर्ण होते हैं।

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समाने।
नीर सनेही को लाय अलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रमानै।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझै जड़ मीत के पानि परें कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै।।३।।

शब्दार्थ– हीन = जल से हीन होने पर, जल से वियुक्त होकर। मीन = मछली अधीन या विवश हो जाती है, व्याकुल होती है। कहा = क्या। कछु = थोड़ा भी। हीन समानै = जल से वियुक्त होने पर विवश मीन क्या मेरी आकुलता की कुछ भी समता कर सकती है। नीर = प्रियजल की। लाय = कलंक लगाकर। निरास = निराश होकर, आशा को त्यागकर, भरोसा छोड़कर। कायर = डरपोक। जड़ = अचेतन।मीत = मित्र प्रिय। पानि = हाथों में। प्रमानै = प्रमाणित करता है, सिद्ध करता है। जड़ प्रमाने = अपने प्रिय अचेतन जल के हाथों में पड़ने को प्रमाणित करता है, जड़ जल के वश में पड़ने से (प्रेमी के प्रति उसकी अचेतनसामान्य असहृदयता से) तड़पता हुआ मर जाता है। जू = जो। जीवन की जीवनि = जी को जलाने वाली। जान = सुजान, प्रेयसी।

सन्दर्भ– रीतिकाल में प्रेमियों के लिए दो उपमान आते थे। उनके वियोग और संयोग के लिए 'दो अप्रस्तुतों की चर्चा होती थी। 'बिछरनि मीन की और मिलनि पतंग की।' – मीन का बिछुड़ना और पतिंगे का मिलना। मीन पानी से वियुक्त होकर मर जाती है। पतिंगा दीपक से मिलने के प्रयत्न में जल मरता है। इसमें से मीन बिछुड़ने की चर्चा करते हुए कवि कहता है कि मानव की प्रेम–साधना को मीन की प्रेम–साधना के समान कहना उसको घटाना है। प्रेम में विरह न सहकर मर मिटना ऊँची बात नहीं। इससे प्रिय

को कलंक लगता है। मानव विरह में 'मरता' नहीं, कष्ट सहता है। मछली और पानी में मछली मानव के समान वेदना सहने की क्षमता नहीं रखती, पानी जड़ है। मानव का प्रिय चेतन है किसी जड़ को प्रभावित करना सम्भव नहीं, पर चेतन को प्रभावित करना संभव है, कम से कम प्रेमी के हृदय में ऐसी सम्भावना रहती है। इसलिए मानव और मीन को एक करना ठीक नहीं।

व्याख्या– मछली जल से अलग होने पर मरने के लिए विवश हो जाती है। इसी कारण वह मेरी समानता किसी प्रकार भी नहीं कर सकती। वह तो प्रेमी जल को कलंक लगाकर तथा निराश होकर कायरता के साथ प्राण छोड़ देती है। मछली प्रीति की रीति को क्या समझती है? वह जड़ मित्र के हाथ में पड़ने को ही सिद्ध करती है, वियोग में मेरे मन की जो दशा है, उसे तो मेरे प्राणों की प्राण सुजान ही जान सकती है।

व्याकरण– 'मीन' शब्द पुंलिंग है। 'समानै' क्रिया है 'समानता करे' यदि इसे संज्ञा मानें तो 'समान ही' अर्थ करना पड़ेगा और क्रिया ऊपर से जोड़ने पड़ेगी। के–अनुनासिकता से स्पष्ट है कि 'पानी में' अभिप्रेत है।

तब तो छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महा दुख दोष भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे।।४।।

शब्दार्थ– तब = संयोगावस्था में। छवि पीवत = शोभा (के अमृत) का पान करते हुए, सौन्दर्य निरखते हुए। जीवन = जीते। हे = थे। अब = वियोगावस्था में। हित = प्रेम। पोष = पोषण। तोष = तुष्टि। सु = भली–भाँति (अथवा सो = वह, या सु = सुन्दर, पोष की प्राप्ति करने के कारण, प्राण का विशेषण)। बिललात = व्याकुल हो रहे हैं। दोष = क्लेश। साज = विधि–विधान, साज–सज्जा। समाज = समूह। टरे = हट गये, दूर हो गये। हार = माला (मोतियों की)। बीच = प्रिय और मुझ बिरही के मध्य।

सन्दर्भ– विरही संयोग और वियोग का अंतर स्पष्ट कर रहा है। दोनों स्थितियों की तुलना कर रहा है। पहले (संयोगावस्था में) छवि का (अमृत) पान करके नेत्र जीते थे अब वियोगावस्था में वे ही (विष–ज्वाल) से जल रहे हैं। प्राण पहले प्रेम के पोषण से पुष्ट हो रहे थे, अब दुःख से गल रहे हैं। सब प्रकार के सुख वियोग में तिरोहित हो गये हैं। संयोग में नैकट्य इतना था कि आलिंगन में हार पहाड़ की भाँति बाधक होते थे, उनका व्यवधान हटाकर आलिंगन होता था, पर अब हार के व्यवधान की चर्चा ही व्यर्थ है, पहाड़ों का अंतर है। प्रवास–विरह का वर्णन है।

व्याख्या– पीवत = पीते थे से स्पष्ट है कि छवि पेय पदार्थ के रूप में कल्पित है। वह छवि–सुधा है, छवि–दुग्ध है। छोटे बच्चे केवल दूध पीकर जीते हैं। जो रोगी होता है वह और कुछ न पाये पर पानी उसे देते ही हैं, पानी से वह जीता रहता है। जो उपवास करते हैं अधिक दिनों का उपवास करते हैं, वे निर्बल अधिक दिनों नहीं रह सकते, पानी पाकर वे बहुत दिनों तब बिना और कुछ पाये जी सकते हैं। जीते हैं। यदि और कुछ न होता सौन्दर्य की सरसता से भी नेत्र आप्यायित होते रहते तो जीते रहते। सोचना = चिन्ताएँ, चिन्ता की कल्पना प्राय, ज्वाला के रूप में की गयी हैं– *चिंता ज्वाल सरीर बन दहा लगि लगि जाइ*–गिरधर कविराय। उन्हीं नेत्रों को जो छवि की सुधा से जी रहे थे अब एक नहीं अनेक चिन्ताएँ ज्वालामालकरालिनी होकर उन्हें जला रही हैं। सरसता का

इतना अभाव है कि इस ज्वाला को किसी प्रकार शान्त नहीं किया जा सकता। आग पानी से दब भी सकती है, पर पानी कहीं मिले तब न! इसलिए नेत्र जल रहे हैं। लोचन = लोचन शब्द का अर्थ ही देखनेवाले, विचारनेवाले, चिन्तन करनेवाले। इसीलिए सोचने के साथ लोचन शब्द का प्रयोग प्रसंग में माधुर्य उत्पन्न करता है। जात जरे = अब जलकर समाप्त ही होने होते हैं। 'छवि पीवत जीवत' नैश्चिन्त्य है धीरे--धीरे पी रहे थे, कोई खटका नहीं था, जीने की क्रिया धीरे--धीरे हो रही थी, पर जलने की क्रिया तीव्र है। जीवन अधिक समय लेकर प्राप्त हुआ, पर जलने में उतना समय अपेक्षित नहीं। हित = हित वह होता है जो अनुकूल हो, हितकारी पोषण, प्राणों के लिए प्रेम हितकारी पोषण है, पोषण भी ऐसा जो तोष की सीमा तक जाने वाला, परिपूर्ण पोषण। पले = पुष्ट हुए। प्राण हित-- पोष के तोष से परिपुष्ट हुए। प्रिय को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा वे आप से आप पल रहे थे, पाले नहीं जा रहे थे। बिललात = बिललाते हैं अर्थात् कोई उन्हें पूछनेवाला नहीं है। महादुःख का हेतु यही है कि कहाँ तो सुख अनायास मिलता था और कहाँ प्रयास करने पर, चाहने पर, भी दुःख दूर नहीं होता। केवल दोष (बाह्य कष्ट) ही नहीं, दुःख भी है। जैसे पोष (बाह्य सुख) और तोष (आभ्यन्तर सुख) संयोग में था वैसे दुःख और दोष वियोग में भी है। 'महा' का अन्वय बिललात से भी हो सकता है, जैसे 'सु' का अन्वय 'पले' से है। वैसे ही विशेषण के बदले क्रियाविशेषण भी हो सकता है। सुख = आनन्दघन के वियोग में सुख, मीत के साहचर्याभाव में साज और सुजान के पार्थक्य से समाज दूर हो गया। आनन्द देनेवाला नहीं तो सुख कहाँ, मित्र नहीं तो साज--समाज कैसे हो और सुजान नहीं तो समाज से संयोजन सम्भव नहीं। सुख प्राप्ति की सम्भावना तीन प्रकार से हो सकती है। सुख देने वाला स्वयम् सुख देता है, उसमें सुखदायकता स्वरूपनिष्ठ रहती है। दूसरा सुखदायक वह होता है जो साहचर्य आदि के कारण किसी के प्रति प्रेम हो जाने से उसे सुख देता है, उसकी सुखदायकता साहचर्य--सापेक्ष होती है। तीसरे वे होते हैं जो सामाजिक प्राणी होते हैं किसी को सुख देने के लिए बिना किसी पूर्ण परिचय के तत्पर रहते हैं। पहले की सुखदायकता स्वनिष्ठ, दूसरे की सम्बन्धनिष्ठ और तीसरे की समाज--निष्ठ या परनार्थ--निष्ठ होती है। यहाँ तीन शब्दों में सुखदायकता के ये तीन स्वरूप सामने किये गये हैं। इसी से सब ही अर्थात् 'सभी प्रकार के 'विशेषण लगाया गया है। पहार से = पहाड़ से लगने में अन्तराधिक्य, भारगौरव और कठोरता तीनों की ओर ध्यान रखा गया है। अनेक पहाड़ ही बीच में आ जाने से दूरी की अतिशयता और अधिक व्यंजित हो गयी। भार--गुरुता, और कठिनाई का क्या कहना।

विशेष-- शैली-- 'हार पहार' में यमक है, पर यह यमक पृथक् प्रयत्न कृत नहीं है। बाहर से बैठाया नहीं गया है। 'पहार से' में 'से' उपमावाचक न होकर उत्प्रेक्षावाचक है। विषम अलंकार, कहाँ वह स्थिति कहाँ यह स्थिति 'अन्तर महदन्तरम्'।

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो-नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि कनोखी, अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीवन हुतौ सु तो वार्यो, सुजान सँकोच और सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनंद बावरी रीझि के हाथन हारियै।।५।।

शब्दार्थ-- रूप = सौन्दर्य। अनूप = अनुपम, पानी से रहित (अन् + ऊप = जल)। बानि = टवे, सहज वृत्ति, कभी नहीं, किसी प्रकार नहीं। आनि = शपथ। हुतौ = था। सु = सो, वह। वार्यौ = निछावर कर दिया। सोच = चिंता। सहारियै = सहारा दीजिए। रोकी रहै न = मेरे रोके नही रुकती। दहै = जलाती है। बावरी = पगली।

सन्दर्भ– प्रिय के रूप की विशेषता और प्रेम के श्रेष्ठों की प्रकृति, स्वयं प्रेमी की वृत्ति वर्णन की गयी है। रूप की विशेषता यह है कि ज्यों–ज्यों उसे देखा जाता है वह नया–नया दिखता है। नेत्रों की प्रवृत्ति यह है कि उन्हें अन्यत्र तृप्ति नहीं, इसी रूप को देखते रहना चाहते हैं। प्रेमी की वृत्ति यह है कि उस रूप पर वह रीझ गया है, रीझ ऐसी जिसने और तो और प्राणों तक को निछावर कर दिया। शरीर की चिन्ता कौन करे। सिवा प्रिय के तन मन की चिन्ता करने वाला कोई नहीं। प्रेमी सर्वात्मना प्रिय के भरोसे हैं। यही चाहे स्याह करे चाहे सफेद।

व्याख्या– रूप = सौन्दर्य की चाँदनी दोनो को कहते हैं। सौंदर्य का पर्याय आग या पानी है। पर इस रूप की रीति यह है कि यह 'अनूप' पानी रहित है (अन् + ऊप = जल)। नयो–नयो = केवल नवीनता नहीं, उत्तरोत्तर उत्कर्ष भी व्यंजित है। निहारना = बहुत ध्यान से देखने को कहते हैं, ध्यान से देखने का तात्पर्य है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों का अवलोकन किया गया, सर्वत्र नवीनता, उत्कृष्ट नवीनता मिली। बानि = सौन्दर्य की रीति (नूतन उन्मेष) सहज है। नेत्रों की वृत्ति सहज है। अनोखी = सौन्दर्य नया है तो आँखों की वृत्ति भी नवीन है। जैसी रूप की स्थिति वैसी ही आँखो की स्थिति। अघानि = तृप्ति इसी से होती है, अन्यत्र नहीं। यह भी नेत्रों को अनोखापन है। एक = दो स्थितियाँ इस एक शब्द से व्यंजित है। तन–धन तो सब निछावर हो ही चुके थे केवल मन (जीव) बचा था, वह भी निछावर हो गया। एक का दूसरा अर्थ अद्वितीय या अनुपम अनूप भी होता है। आपके रूप की रीति अनूप तो उस पर अनूप जीव भी निछावर। सुजान = जब जीवन भी निछावर हो गया तो अध्याय कहाँ रहा, ज्ञानवृत्ति रही ही नहीं, अज्ञान की स्थिति। कोई सुजान ही अब स्थिति सँभाल सकता है। संकोच = संकोच लोक का, सोच अपना। लौकिक लज्जा का बचाव और अपनी चिन्ता का निवारण। लज्जा का धारण और चिन्ता का निवारण घनआनँद– जो आनन्द का बादल है उस पर हुई रीझ जलाती है, किसी प्रकार रोकने से नहीं रुकती। हाथन = हाथों से ही वह परत्त कर देती है अन्य किसी अस्त्र–शस्त्र की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रीझ की शक्ति और प्रेम की आसक्ति का संकेत (सुजान की यह बावरी रीझ कैसी विलक्षण है, पगली भी रोने से कभी मान जाती पर यह मानने का नाम नहीं लेती। जलाती है फिर भी घनआनन्द–दायिनी है)।

विशेष– अघानि = इसके दो खण्ड हो सकते हैं। अघ + आनि। आन आपकी तो अघ (पाप) मेरा। अलंकार – विरोधाभास (अनेकत्र)। प्रयोग– आँखों की बानि–अघानि, रीझ के साथ–नराकृति कल्पना।

घनआनँद जीवनमूल सुजान की कौंधनहूँ न कहूँ दरसै।
सु न जानिये धौं कित छाय रहे दृग चातिग प्रान तपे तरसैं।
बिन पावस तौं इन थ्यावस हो न सु क्यौं करि ये अब सो परसैं।
बदरा बरसै रितु मैं घिरिकै नितही अँखिया उघरी बरसैं।।६।।

शब्दार्थ– घनआनँद = आनन्द के बादल। जीवनमूल = जल धारण करनेवाला (बादल), प्राणों के मूल (प्रिय)। कौंधा = बिजली की चमक (प्रिय की) झलक। तपे = प्यास से व्याकुल होकर (चातक), विरह से तपकर (नेत्र)। पावस = (प्रावृष्) वर्षा। थ्यावस = स्थिरता, धैर्य, शान्ति। हो = था। बदरा = बादल। रितु = वर्षा की ऋतु। घिरिकै = छाकर। उघरी = खुली हुई।

संदर्भ– प्रिय कहीं ऐसे स्थान पर परदेश में रह रहा है जहाँ से उसका कोई समाचार नहीं मिलता। कहाँ हैं, कैसे हैं, इसका पता नहीं। प्रिय ने परदेश जाकर कोई संदेश नहीं दिया। यदि पता होता तो किसी को भेजा जाता। पर किसी को पता नहीं कि वे कहाँ हैं। यह तो प्रियपक्ष की स्थिति। प्रेमी की स्थिति यह कि नेत्रों से जब तक प्रिय के दर्शन न मिलें तब तक उन्हें चैन नहीं। केवल दर्शन ही मिलें, प्रेम की दृष्टि भी हो तब तृष्टि हो। वर्षा करने वाला पास ही नहीं है। इसलिए वर्षा बनाये रखने के लिए वे नेत्र निरन्तर बरसते रहते हैं।

व्याख्या– घनआनँद बरस = घनआनन्द जीवनमूल और सुजान तीनो विशेषण सार्थक है, जानबूझकर दिये गये हैं। घनआनन्द से यह व्यंजित करना है कि वे आनन्द के बादल हैं तो केवल अपने ही आनन्द के लिए नहीं, सबके, सारे जगत् के आनन्द के लिए हैं। जो सबके आनन्द के लिए हैं उनका इस प्रकार अज्ञात रहना बनता नहीं यदि यह धारणा हो कि इसमें उसका दोष नहीं तो भी ठीक नहीं। जिसमें आनन्द का घनत्व है उसके उस स्वरूप की झलक तो अवश्य मिलनी चाहिए। वह जीवनमूल भी तो है। वही जीवन में सर्वत्र व्याप्त है। यदि कहा जाये कि इसमें ज्ञाता का ही दोष है तो ठीक नहीं। क्योंकि जो जीवन का मूल है उसको स्वयं अपने अस्तित्व का संकेत करना चाहिए। वह स्वयं दिखाई न दे पर उसका आभास तो मिलना चाहिए ही। जीवन के आदिस्रोत का पता–ठिकाना कोई लगाना चाहे तो न लगे, पर यह तो आवश्यक है कि उसका स्रोत कहीं है इसका पता चलता रहे। यदि यह शंका हो कि वह स्वयम् प्रकाशित नहीं है तो भी ठीक नहीं। वह सद्ज्ञानरूप है, सुजान है। ज्ञान स्वयम् प्रकाशित है, स्वयम् प्रकाश है। उसका संबंध सर्वत्र से है, किसी एक दिशा से नहीं। वह सर्वदिक् है। फिर भी किसी दिशा में उसका आभास नहीं मिलता। इसमें रहस्यात्मक संकेत हैं।

सु न तरसैं– यदि वह सर्वव्यापक है तो उसे यहाँ भी होना चाहिए। पर यहाँ न रहकर कहीं वह है। पर कहाँ वह है। पर कहाँ छाया है, राम जाने। पहली पंक्तियाँ ब्रह्म के विषय पक्ष की विशेषताओं को लेकर उसका आभास न मिलने पर असंतोष प्रकट किया गया है। दूसरी पंक्ति में विषयिपक्ष से ज्ञाता की ओर से त्रुटि दिखाई जा रही है। इसमें प्रिय का ही दोष नहीं। मेरा भी दोष है। मैंने भी जानने का प्रयत्न किया कि वह कहाँ हैं। यहाँ रहना उसे पसंद नहीं, पर कहीं छाना उसे पसंद है। इसमें अपना भी दोष है। प्रिय को क्या पसंद है इसकी खोज नहीं की प्रेमी ने, अन्यथा वह अन्यत्र न जाता। फल यह है कि नेत्र तरस रहे हैं। सन्ताप और लालसा के कारण भी ज्ञानोपलब्धि में बाधा है। बुद्धि ठिकाने रहे तब खोज हो। फिर कोई सहायक हो तो सन्ताप हलका करने या व्याकुलता कम करने का कुछ प्रयास करे, पर यहाँ नेत्रों के प्राण अकेले हैं। नेत्र जब तक प्रिय के दर्शन करते नहीं तब तक उनको किसी की सहायता नहीं प्रतीत होती। किसी के अस्तित्व का ही ज्ञान नहीं रहता, सहायता कैसी। इसलिए तरस रहे हैं। सारे उपचार बेकार हैं। बिन............ परसै– अन्य ऋतुओं से इन्हें प्रयोजन नहीं। बसंत ऋतुराज है, उस तक से इन्हें प्रयोजन नहीं। इनके लिए पावस चाहिए। पावस का इतना अधिक आग्रह है इन्हें कि ये चाहते हैं कि सदा पावस ही रहे। पर प्रकृति पर कोई वश नहीं चलता, इससे इन्होंने स्वयं नित्य पावस बनाये रखने का प्रबन्ध कर रखा है।

विशेष– अलंकार– (१) 'उधरी बरसै' में विरोधाभास, दृग–चातिक 'रूपक', घनआनन्द आदि में श्लेष। (२) पाठांतर– दृग = इस (सुजानहित)।

अन्तर आँच उसास तचै अति अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊमस क्यौं हूँ कहूँ सु धरे नहिं थ्यावस।

नैनउ धारि दिये बरसैं घनआनँद छाई अनोखिये पावस।
जीवन मरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस।।7।।

शब्दार्थ– अन्तर–आँच = हृदय के भीतर की तपन से। उसीजै = उबल जाता है। उदेग = उद्वेग (व्याकुलता) की औंस (भाप) से। ज्यौं = जी, जीव, कहलाय = (गरमी से) व्याकुल होता है, शिथिल पड़ जाता है। मसोसनि = मसोसने की उमस से। क्यों हूँ = किसी प्रकार भी। कहूँ = कहीं भी। सु = सो, वह। थ्यावस = स्थिरता, शांति। नैन = नेत्र भी आँसू की धारा बरसते हैं। जीवनि–मूरति = जीवन का दान देनेवाली मूर्ति। जान = सुजान, प्रेय। आनन = मुख (चन्द्रवत्) सदाई = सदा, सब स्थितियों में निरन्तर। अमावस = अमावस्या, घोर अन्धकार।

संदर्भ– प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है उसका पावस के अप्रस्तुत व्यापार द्वारा वर्णन कर रहे हैं। वर्षा होने के पूर्व की स्थिति जिसमें गरमी, औंस और उमस होती है, फिर वृष्टि होती है तो अन्धकार और अमावस्या को वृष्टि हो तो और भी अन्धकार। चन्द्रमा दिखता रहे तो कुछ धैर्य रहता है, घनघोर वृष्टि हो और चन्द्रदर्शन का भी दिन हो तो और भी कठिनाई। प्रिय के दर्शन नहीं और नेत्रों से निरन्तर वृष्टि। प्रतिदिन अमावस्या का दृश्य।

व्याख्या– कवि कहता है कि भीतर की आँच से भीतरी सभी अंग तप्त हो गये हैं उनके तपने का पता भीतर से आने वाली उसाँस से चलता है जो बाहर अत्यंत तप्त होकर निकलती है। अंग = बाहरी अंग पसीने से और भीतरी आँच से उसी प्रकार हो रहे हैं जैसे किसी पात्र में पानी देकर आलू, अरवी आदि को उबालते हैं। उद्वेग की औंस भीतर से होती है जिसका पता पसीने से चलता है। गरमी है ही। इस प्रकार भीतर और बाहर दोनों ओर तपन है। ज्यौं कहलाय० = कहलाना वह व्याकुलता है जिसके कारण कोई अपने सहज अभ्यास को भी भूल जाता है--

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सों कियो दीरघ दाघ निदाघ।।

मसोसना वह विवशता की स्थिति होती है जिसमें अभीप्सित की प्राप्ति न होने से कोई पीड़ित रहता है। प्रिय की अप्राप्ति के कारण जो मसोसना हो रहा है वह वर्षा आने के पूर्व की उमस की भाँति कष्ट दे रहा है। क्यों हूँ = किसी प्रकार भी खड़े, बैठे, लेटे, चलते आदि स्थितियों में। कहीं भी नहीं अर्थात् न घर में, न घर के बाहर, न ऊपर, न नीचे के निकट आदि आदि। क्यौं हूँ से तात्पर्य उन उपायों से है जो शरीर को विभिन्न स्थितियों में करने या शरीर पर विभिन्न प्रकार के उपचारों के करने से संबंध रखते हैं। इसके लिए शरीर को स्थानांतरित करने की आवश्यकता नहीं पर 'कहीं' से तात्पर्य देशांतर में शरीर को ले जाने से है। धरै० = शरीर में उमस (ऊष्मा) के आधिक्य के कारण धैर्य भी नहीं टिकता। जी धैर्य को रखना चाहता है पर उसमें इतना बल नहीं कि उसे रोक सके। धैर्य भी सारे गरमी के इतनी शीघ्रता से निकलता है कि पकड़ में नहीं आता, जी में मसोसना ही इतना छा गया है कि धैर्य के लिए स्थान नहीं रह गया हे। वह कहाँ रखे उस धैर्य को। नैनउ = नेत्र की धारा देकर, निरन्तर धारा बनाये रखकर बरसते हैं, केवल बादल ही नहीं बरसते। बूँद–बूँद हलकी वर्षा भी करते हैं और धारासंपात वृष्टि भी करते हैं। नेत्र जो सामान्यतया धाराप्रवाह नहीं बरसते, वे भी वैसे बरस रहे हैं। पर नेत्र बरसते हैं तो उनमें रुकने का नाम नहीं बादल धारा बाँधकर बरसते हैं तो कुछ समय बरसते हैं, वर्षा के दिनों में चौमासे में भी प्रतिदिन मूसलाधार वृष्टि करते रहते हैं। ऐसी

अनोखी पावस कहीं कभी दिखाई नहीं पड़ी। क्या तो कभी आनंद के घन ही छाये रहते थे और क्या अब यह अनोखी, रुकने का नाम लेनेवाली पावस ऋतु ही छायी हुई है। जीवनि मूरति = संजीवनी मूर्ति जो मूर्ति मरे को भी अपने दर्शन आदि के प्रभाव से जिला दे ऐसी संजीवनी मूर्ति का मुख सुधाधर ही हो सकता है-- सुधा को (अमृत को) धारण करने वाला। वह सदा अमृतवृष्टि से दर्शक को जिलाता रहने वाला सुधाकर।

लै ही रहे हो सदा मन और को दैबो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपनेहूँ कहूँ, त्यागे सँकोच और सोच सुवारे।
कैसौ सँयोग वियोग धौं आहि फिरौ घन आनँद है मतवारे।
मो गति बूझि परै तबही जब होहु घरीकहूँ आप ते न्यारे।।८।।

शब्दार्थ– और = (अपर) अन्य प्रेमी। जान = सुजान। त्यागे = छोड़े हुए। सुखारे = सुखी (हो)। धौं = न जाने। आहि = है। मो = मेरी। गति = दशा, स्थिति। बूझि परै = समझ में आये।

सन्दर्भ– प्रिय की सुखात्मा और अपनी दुःखात्मा परिस्थिति की विषमता को सामने रखकर उसे उलाहना दिया जा रहा है। यह कहा जा रहा है कि उस व्यक्ति ने जिसने कभी किसी दुःख का अनुभव ही न किया हो वह दूसरे के दुःख को कथमपि नहीं समझ सकता। संकोच और सोच भी नहीं जानता। संयोग और वियोग सापेक्ष स्थिति है। जिसने वियोग ही नहीं जाना वह संयोग को भी क्या जाने। जिसे केवल पाना है, देना या खोना नहीं है उसके लिए उसके कष्ट का अनुभव कठिन है जिसने कुछ खोया है प्रिय पक्ष और प्रेमीपक्ष की विषमता इससे प्रदर्शित है।

व्याख्या– लै ही रहे हो = आप केवल प्राप्ति का सुख जातने हैं। 'ही' से केवल अर्थ लेने का संकेत है। लेना 'सदा'। 'सदा' से नैरंतर्य का संकेत है। आपका लेना ऐसा है कि वह भी नहीं रुकता। यदि किसी सदा प्राप्त करने वाले को कभी प्राप्त होने वाली वस्तु का मिलना न हो तो भी अप्राप्ति का कष्ट हो सकता है। आपको यह कष्ट भी नहीं। दैबो ने जानत = कभी न देने का परिणाम यह है कि देना तो दूर आप देने की क्रिया भी नहीं जानते। यदि किसी को देने का ज्ञान हो तो सम्भावना हो सकती है कि वह कभी दान में प्रवृत्त हो जाये, वह सम्भावना भी नहीं रही। सुजान = सुजान, सुज्ञान, ज्ञानी होकर भी नहीं जानते। दुलारे = दुर्लालित 'जिसका कभी सामना न करना पड़ा हो। जिसे मनमानी करने दिया गया हो। आपका अभ्यास मनमानी करने का है। देख्यौ न है = स्वप्न में भी दुःख नहीं देखा, प्रत्यक्ष का फिर कहना ही क्या। दुःख को देखा ही नहीं तो उसकी अनुभूति का प्रश्न ही कहाँ उठता है। कहीं भी दुःख नहीं देखा। जहाँ दुःख देखने की सम्भावना भी थी वहाँ भी नहीं। 'दुःख देखना' = कष्ट उठाना, इस मुहावरे का प्रयोग केशवदास ने अपनी रचना में बहुत किया है। त्यागे० = संकोच और सोच को कभी ग्रहण ही नहीं किया, त्यागे ही रह गये। संकोच किसी पराये का होता है और सोच अपने से सम्बन्ध रखता है। यदि किसी का संकोच होता तो लेते ही न रहते, कभी संकोच में कुछ देते भी। जब अपनी गाँठ का कुछ जाता तो उस जाने की सोच या चिन्ता होती। इसलिए आप सुखारे हैं, दुखारे तो कभी हुए ही नहीं। 'रिन कै चिन्त्र न धन कै चोट'– ऋण देने की चिन्ता और धन जाने की पीड़ा सबसे परे परम निश्ंचित। कैसो = संयोग भी नहीं जानते, वियोग का तो कहना ही क्या। बिना वियोग के संयोग की प्रकृत अनुभूति नहीं होती। आप संयोग और वियोग कैसा होता है यह भी नहीं जानते। फिर वियोग की उस चरम सीमा का अनुभव जैसा मुझे होता है अर्थात् संयोग में भी वियोग, इसे भला आप क्या

जान सकेंगे। जब जानते ही नहीं तब फिर उसमें होने वाली अनुभूति से आपका परिचय किस बात का। इसलिए घने आनंद में केवल मतवाले घूमते रहते हैं। मतवाला केवल अपने आनन्द में डूबा रहता है, उसे दूसरे के विषाद की छोड़िए, आनन्द का भी ध्यान नहीं रहता। मो गति० = मेरी स्थिति जानने के लिए अपने को थोड़ी देर के ही लिए सही, भूलना आवश्यक हैं सहृदयता उसे कहते हैं जो दूसरे के साथ समान हृदय कर सके, दूसरे के हृदय से अपने हृदय को मिला सके, दूसरे के हृदय में अपने हृदय को लीन कर सके। जिसकी अर्हता प्रबल होगी वह पराये के हृदय में लीन न हो सकेगा, अपनी सत्ता को दूसरे की सत्ता में मिलाये बिना, लीन किये बिना दूसरे की वास्तविक अनुभूति का अनुभव नहीं हो सकता। किसी अनुभूति को स्वयं करने की आवश्यकता होती है, यदि उसे स्वयं न किया हो तो दूसरे को करते देखा हो, ऐसा न हो तो सुना हो, कुछ भी न किया हो तो दूसरे को करते देखा हो, ऐसा न हो तो सुना हो, कुछ भी न किया हो तो कम से कम अनुभूति करने की प्रकृति तो हो। आपने देने के दुःख का अनुभव नहीं किया, दुःख देखा भी नहीं, सुना भी नहीं कि संयोग–वियोग क्या है और आपमें उस अनुभूति के लिए प्रवृत्ति भी नहीं है, अपनी अर्हता का त्याग आप कर ही कहाँ सकते हैं। परार्थ के लिए स्वार्थ का त्याग आवश्यक है, वह आपमें नहीं। प्रिय की हृदयहीनता का अंकन है।

विशेष – औ सोच = असोच। संकोच को त्यागे हुए सोच से रहित रहकर। यहाँ संकोच का परित्याग ही सोच से रहित होने का हेतु है। 'असोच' को 'सुखारे' का विशेषण भी कर सकते हैं। इतने सुखी कि उसका चिन्तन में आना कठिन है।

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों
सूरे पनपूरे जिन्हें विष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंजपुञ्ज
ता विन बिचारनि हीं जोति–जालतमी है।
चाहौ अनचाहौं जान प्यारे पै अनन्दघन
प्रीतिरीति विषम सु रोम रोम रमी है।
मोहिं तुम एक तुम्हैं मो सम अनैक आहिं
कहा कछु चन्दहि चकोरन की कमी है।।६।।

शब्दार्थ– चुहल = विनोद। चहुँ ओर = सर्वत्र। अमी = अमृत। भान = भानु (सुर्य) के उदित होने से। कंज = कमल। ता बिन = बिना सूर्य के। बिचारनि हीं = उन बेचारों के लिए। जोति–जाल = कोई ज्योति का समूह, ज्योतिष्क पिंड मात्र। तमी = तमिस्र, रात्रि अथवा तम ही अंधकार ही। रमी = समायी हुई, छायी हुई, बसी हुई।

सन्दर्भ– प्रिय चाहे प्रेमी की ओर प्रवृत्ति हो चाहे न हो, पर प्रेमी उसके विपरीत आचरण पर भी उससे प्रेम करना किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसके लिए प्रिय एक ही है, भले प्रिय के लिए प्रेमी अनेक हों, इसमें प्रेमी ने अपने व्रत की दृढ़ता का आख्यान किया है वह 'प्रियव्रत' है और 'दृढ़व्रत' है। इसके लिए उसने चातक का, कमल का और चकोर का उदाहरण दिया है।

व्याख्या– कवि कहता है चहुँ ओर = चारों ओर स्वाती से बढ़कर मीठा

निर्मल, पोषक जल देने वाले (और भी) मिल सकते हैं, पर उसे केवल वही रुचता है। चाहै = देखता है, खोजता है दूसरों में भी स्वाती ही देखता है, उसे चारों ओर अपनी अनन्यता के कारण यदि दिखता है तो केवल स्वाती ही दिखता है। सूरे = 'शूर' उस वीर को कहते हैं जो युद्ध में आगे ही बढ़ना जानता हो, पीछे पैर रखना न जानता हो। यह भी वैसा ही है। पनपूरे = अपने पन (प्रतिज्ञा, को पूर्ण करने में ही दत्तचित्त)। जिसमें उनकी प्रतिज्ञा ही भरी पूरी है, अन्य किसी की समाई जिनके अन्तःकरण में नहीं है। विष० = जल के पर्याय विष और अमृत भी है। पोषक संजीवनी शक्ति अमृत की और मारक शक्ति विष की इन्हीं की दृष्टि से जल के दो नाम हैं। करने वाला है, इससे सर्वोत्तम पेय है। अमृत विष है, ऐसा नहीं विषतुल्य है। अमृत्व का निषेध प्रेमी चातक नहीं करता, उसमें विष का आरोप कर लेता है। अन्य के लिए अमृत हो, पर उसे विष और उससे पार्थक्य नहीं लगता। अन्य विष का परित्याग करते हैं, वह दोनों का परित्याग करता है। उसके लिए स्वाती का जल ही अमृत है। वह स्वाती का जल विष सम भी हो तो अमृत है। प्रभात होने पर सूर्य न निकले तो कमल फूलता है, प्रफुल्ल तभी होता है जब सूर्य भी दिखाई दे। भान० = सूर्य के उदय से उसके उत्थान से। प्रिय के उत्थान में उसकी प्रसन्नता है। कंज = एक कमल नहीं अनेक कमल, अनेक प्रेमी। अनेकत्व का संकेत सर्वत्र है। चातक के प्रसंग में 'सूरे पनपूरे जिन्हैं' बहु वचनांत प्रयोग है। 'चकोरन' आगे बहुवचन प्रत्यक्ष है। चाहौ० = आपकी ओर से चाहे दोनों में से कोई वृत्ति दिखाई पड़े। एकांगी प्रेम की साधना मेरी नहीं छूट सकती। आपके चाहने पर भी मेरी ओर से किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं हो सकता, मैं प्रिय की कोटि में आने के लिए तत्पर नहीं, प्रेमी ही बना रहूँगा। आनँदघन = कवि का नाम भी और प्रीतिरीति का विशेषण भी हो सकता है। अति आनन्ददायिनी प्रीति की रीति। प्रीतिरीति = प्रीति भी और उसकी रीति, प्रतिज्ञा के निबाहने का व्रत भी। विषम = प्रीति तो विषम है पर रोम में विषमता नहीं हैं, प्रत्येक रोम उसे समभाव से ग्रहण किये हुए हैं। रोम = शरीर का कोई अंश प्रेमरहित नहीं है। चातक के द्वारा प्रतिज्ञा—पूर्ति की ओर संकेत है, कमल के द्वारा प्रियदर्शन से प्रफुल्लता की ओर तथा चकोर से प्रिय—प्रेम से कष्ट सहन की ओर संकेत है।

विशेष— 'पन' संस्कृत शब्द में 'पा' ही है, हिन्दी में 'र्' का आगम है 'प्रण' की ही भाँति अन्यत्र भी 'र्' का आगम हिन्दी में होता है। शोणित का श्रोणित, शाप का श्राप और धूम का धूम्र।

पाती-मधि छाती-छत लिखि न लिखाए जाहिं
काती लै बिरह घाती कीने जैसे हाल हैं।
आँगूरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल-माल हैं।
जान प्यारे जौब कहूँ दीजिए सँदेसो तौब
आँवाँ सम कीजियै जु कान तिहि काल हैं।
नेह भीजी बातैं रसना पै उर-आँच लागैं
जागैं घनआनँद ज्यों पुंजनि मसाल है।।१०।।

शब्दार्थ— पाती = पत्रिका में। छाती—छत = हृदय में लगे हुए विरह के घाव। काती = घातक छुरी। बिरह घाती = इस घातक विरह ने। बहकि = लिखना

छोड़कर। तहीं = त्यों ही। पाँगुरी = पंगुल पंगु। किलकि = चिल्लाकर। आँगुरी = यदि पत्र लिखने का उपक्रम किया जाता है तो (विरह दशा के ताप से) उँगली लिखना छोड़कर कहीं की कहीं जा पड़ती है और चिल्लाकर लँगड़ी हो जाती है चलती ही नहीं। तोती = तप्त, गरम। राती = लाल, अनुरागमय। दसा = अवस्था (विरह की)। जौब = पत्र लिखने में तो ऐसी दुर्गति है। यदि कहो कि (पत्र मत लिखो) संदेश ही भेज दो, तो सुननेवाला संदेश सुनते समय यदि अपने कानों को आँवाँ की भाँति बना ले तब कहीं सुन सकता है। **नेह** = प्रेम, चिकना, तेल। **बातें** = (संदेश की वार्ता) वचन। **रसना** = जीभ। **उर आँच** = अन्तःकरण में छिपी विरह की आग की आँच। **जागैं** = जल उठती है।

सन्दर्भ– विरहिणी अपने विरह का निवेदन कर रही है और बता रही है कि विरह की यह वेदना पत्रिका में लिखकर नहीं बतायी जा सकती, स्वयं लिखी नहीं जा सकती, लिखायी भी नहीं जा सकती। विरह की चोटें बहुत हैं, कहाँ तव लिखा–लिखाया जाय। लिखने में उस विरह वेदना को जब उँगली तक पहुँचाते। लिखने के लिए तो वही पंगु हो जाती है, विरह की दशा में बहुत ज्वाला है सन्देश भी नहीं दिया जा सकता। जब आँवाँ के समान काम कोई करे तो उस ज्वाला को धारण करे। जीभ पर ही बातें जल उठती हैं, मशालों की भाँति।

व्याख्या– मेरे हृदय में विरह के कारण जो घाव हो रहे हैं, वह न तो पत्री में लिखे जा सकते हैं और न असंख्य एवं अकथनीय होने के कारण दूसरे से भी नहीं लिखाये जा सकते। इस घातक विरह ने छुरी लेकर मेरा जो हाल कर दिया है, वर्णन से परे है। यदि पत्र लिखने का उपक्रम किया जाता है, तो विरह–दशाओं के साप से अँगुली लिखना छोड़कर कहीं की कहीं जा पड़ती हैं और चिल्ला कर लंगड़ी हो जाती हैं, वे चलती ही नहीं। सन्तप्त विरह–दशा के समूह को ज्वाला का समूह ही समझना चाहिए। पत्र लिखने में तो इस प्रकार विवशता है। यदि पत्र न लिखकर सन्देश ही भेजा जाय तो सुनते समय यदि अपने कानों को आवा की भाँति बना ले, तब कहीं सुन सकता है। सन्देश सुनने वाले की यह दशा है अब सन्देश सुनाने वाले की भी दशा सुनिये। स्नेह (तेल, प्रेम) से भीगी हुई बत्तियाँ रूपी बातें ज्यों ही जिह्वा पर लाई जाती हैं, हृदय के भीतर से विरहाग्नि की ऐसी लपट उनमें लगता है कि वे मशालों की भाँति जल उठती हैं।

विशेष– लिखाय = लिखाए। बहकि = चहकि (कदाचित् लिखावट से 'ब' का 'च' हो गया है। कहूँ = काहू (किसी व्यक्ति को जो उसे सुनने को प्रस्तुत हो)।

कंत रमैं उर अन्तर में सु लहै नहीं क्यौं सुखरासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आँगुरी ते जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैन-दिना बिना जान सुतंतर।
जानैं वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन राति को अंतर।।११।।

शब्दार्थ– कंत = कांत, प्रिय। कंत रमैं = यदि कहा जाये कि प्रिय तो हृदय के भीतर ही बसा है फिर भी तू सतत सुख की राशि क्यों नहीं पाती। दंत = दाँतों तले अंगुली दबाये रहते हैं, अचरज करते हैं। ते = वे (लोग)। जु = जो (लोग)। तेह = आँच। तचे = पके। परतंतर = परतंत्र (होकर)। दंत रहैं = वे लोग भी जो प्रेम की बश्यता स्वीकार कर वियोग की आँच में पक चुके हैं (मेरी भाषण विरह

ज्वाला देखकर अचरज से) दाँतो तले अँगुली दबाते हैं। रैनि = (रजनी) रात। दिना = दिन। सुतंतर = स्वतंत्र, स्वच्छंद मनोवृत्ति वाले। ('जान' का विशेषण), जान० = जैसा दुःख मैं दिन–रात सह रही हूँ उसे वे दिन–रात ही समझ सकते हैं (अन्य कोई नहीं)। जाय परै = जा पड़ता है, हो जाता है। बखानें वे = यदि उस दुःख को कहूँ तो दिन रात का सा अंतर पड़ जाता है। विरह वेदना अनुभवगम्य ही है, वह कही नहीं जा सकती।

सन्दर्भ– इस जिज्ञासा पर कि जब अंतःकरण में ही प्रिय बसे हैं तो विरही को सुख की प्राप्ति क्यों नहीं होती, विरही उसका उत्तर दे रहा है कि जिस वियोगाग्नि में मैं जल रहा हूँ वह इतनी प्रचंड है कि जो वियोग सह चुके हैं वे भी इसकी भीषणता पर अचरज करते हैं। मेरी वेदना ऐसी है कि जिस समय उसका अनुभव किया गया उस समय के अतिरिक्त फिर ज्यों का त्यों उसका अनुभव हो ही नहीं सकता, कहने की क्या कथा।

व्याख्या– कवि अपनी प्रेयसी को 'केत' कहकर अपनी स्थिति का बोध कराता है कि हृदय में ही विद्यमान रहती है, तब वह (कवि) क्यों निरन्तर सुख--राशि क्यों नहीं प्राप्त करता। घनानन्द की ऐसी आनन्दावस्था को देखकर वे आश्चर्यचकित होकर दाँतों तले अँगुली दबाकर रह जाते थे, जो परतन्त्र के समान (विवश होकर, किसी और के वश में रहकर) वियोग की आग में जलते रहते हैं। यही घनानन्द अपनी प्रेयसी स्वछन्द रहने वाली सुजान के बिना रात–दिन दुःख में काटता है और उसकी इतनी दारुण स्थिति हो गयी है कि दिन और रात ही उसके दुःख के साक्षी हैं, वही भली–भाँति जानते हैं कि घनानन्द कितना दुःखी रहता है (सुजान के अभाव में)। यदि इस विरहानुभूतिजनित वेदना की कहना भी चाहे तो दिन और रात जैसा अन्तर होगा। अर्थात् अनुभूति की वास्तविकता को कह पाना सम्भव नहीं होगा। यदि उसकी अभिव्यक्ति की भी जाये तो अनुभूति और अभिव्यक्ति में दिन–रात जैसा अन्तर रहेगा।

विशेष– (१) मुहावरों की विशेषता प्रत्येक चरण में– हृदय में रमना, सुखराशि लहना, दाँतों अँगुली पकड़े रहना, वियोग के तेह में तवना, दुःख देखना, दिन रात का अंतर पड़ना। (२) दुःखानुभूति के साथ रैनि दिना ('रात–दिन') का व्यवहार पर 'जाने वेई दिन–रात' में क्रम पलट गया। विषमता को शब्दों द्वारा भी संकेतित किया है। (३) अलंकार – विरोधाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, यमक।

बधिकौ सुधि लेत सुन्यौ हति कै गति रावरी क्यौंहूँ न बूझि परै।
मति आवरी बावरी है जकि जाय उपाय कहूँ किन सूझि परै।
घनआनँद यौं अपनाय तजी इन सोचनि ही मन मूझि परै।
दिनरैन सुजान वियोग के बान सहै जिय पापी न जूझि परै।।१२।।

शब्दार्थ– बधिकौ = बधिक (व्याध) गति = चाल। आवरी = व्याकुल। मन मूझि परै = मन मुरझा जाता है। न जूझि परै = जूझ नहीं जाता, मर नहीं जाता।

सन्दर्भ– विरहिणी वियोग का कष्ट झेल रही है और प्रिय से निवेदन कर रही है कि आपने पहले मुझे अपनाया और अब परित्यक्त कर दिया इसी सोच में मैं मर

रही हूँ। बधिक भी मारने पर कम से कम विद्ध जीव के शव की खोज भी करता है। पर आपने वह भी नहीं किया। मुझे इस कष्ट से उबरने का मार्ग नहीं सूझता। मेरे पापी प्राण भी वियोग के बाण सहते रहते हैं निकलते नहीं।

व्याख्या– हे प्रिय, बधिक भी शिकार करने के बाद उसकी खोज करता है। शर आदि से बिद्ध होकर जब शिकार (पक्षी) आहत हो गिरते हैं तो बधिक उन्हें खोजता हुआ उनके पास पहुँचता है। किन्तु आपने अपने नेत्र–शरों से आहत करने के बाद भी मेरी किसी प्रकार की सुधि नहीं ली। आपका व्यवहार समझ में नहीं आता। क्या आप बधिक से भी गये–बीते हैं। आपके ऐसे कार्यकलापों पर विचार करते हुए बेचारी बुद्धि पहले तो व्याकुल होती है और फिर बाद में बावली हो जाती है। पागल होने के कारण उसमें विचार–शैथिल्य भी आ जाता है। फिर वह बुद्धि चकपकाकर साधन–खोज करती है, लेकिन कहीं साधन या उपाय नहीं सूझता। हे आनंदघन, आपने मुझे अपनाया है और अब इस तरह उदासीन हो गये हैं मेरे प्रति। इन बातों की चिन्ताओं से मन मूर्च्छित हो जाता है, बुद्धि और मन दोनों ठीक स्थिति में नहीं हैं। ऐसी दशा में इन पापी प्राणों के विषय में क्या कहा जाये। ये तो बराबर (दिन–रात) सुजान की विरह–बाण सहते रहते हैं लेकिन निकलने का नाम नहीं लेते। निकल जाने के बाद ये वेदना से छुट्टी पा जाते। समझ में नहीं आता कि जब किसी प्रकार से भी प्रिय अनुकूल ही नहीं होगा तो प्राण–पीड़ा का यह प्रभार क्यों उठाय हुए हैं?

ए रे वीर पौन, तेरो सबै ओर गौन, बोरी
तो सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे
अब है अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथाहि मूरि आँखिन मैं राखौ पूरि
धूरि तिन पायन की हाहा! नेकु आनि दै।१३।।

शब्दार्थ– बीर = भाई। पौन = पवन। गौन = गमन। बार = बीड़ा उठानेवाला कार्य परिपूर्ण करने में उत्साह दिखानेवाला। सुखदान = दुखियों को सुख दे, उन्हें सुखी कर। जान = सुजान। उजियारे = दीप्तिमान, यशस्वी।

सन्दर्भ– विरही पवन–दूत प्रिय के निकट भेजना चाहता है। इसलिए वह पवन की प्रशस्ति करके पास जाने और वहाँ से उनके चरणों की धूलि ले आने की प्रार्थना करता है। पवन को दूत बनाने का कारण यह है कि वह सर्वत्र जा सकता है, प्रिय जहाँ भी हो उन्हें वहाँ ढूँढ़कर उनसे जा मिल सकता है। उसमें सम बुद्धि है, सबको समान समझता और वैसा ही आचरण करता है। उनके चरणों की धूलि लाने में वह समर्थ है।

व्याख्या– हे भाई पवन! तुम तो सब जगह ही बेरोक–टोक जाते हो, क्योंकि तुम्हारे समान तो परोपकार का बीड़ा उठाने वाला कोई है ही नहीं। अतः मुझ पर भी तनिक कृपा करो। तुम संसार के ही प्राण हो और फिर तुम्हारे लिए सभी समान हैं।

अतः हे आनन्द के निधान! तुम दुःखियों को सुख दो। मेरे प्रिय सुजान अत्यन्त उज्जवल चरित्र वाले हैं, बड़े गुणी हैं और अब तक मुझसे प्रेम करते रहे हैं, किन्तु अब पिछली पहचान को बिल्कुल भुलाकर निर्दयी होकर बैठ गये हैं। अब तू इतनी कृपा कर तू मेरे प्रियतम के चरणों की धूलि ला दे जो विरह–व्यथा को दूर करने के लिए संजीवनी बूटी के समान है और जिसे मैं आँखों में पूरी तरह लगाकर अपनी विरह–वेदना को शान्त कर लूँ।

विशेष– इस छंद में भी तबले की ठनक सुनाई पड़ती है, विशेषतया द्वितीय चरण में।

सोंधे की बास उसासहि रोकति चंदन दाहक गाहक जी को।
नैनन बैरी सो है री गुलाल अबीर उड़ावत धीरज ही को।
राग विराग धमार त्यों धार सी लौटि पर्‌यौ ढ़ँग यौं सबही को।
रंग रचावन जान बिना घनआनँद लागत फागुन फीको।।१४।।

शब्दार्थ– सोंधे = सुगंधित पदार्थों की गंध, इत्र आदि की सुवास। उसास = उच्छ्‌वास, साँस। सोंधे = सुगंध से तो साँस ही रुक जाती है। गाहक = ग्राहक, लेने वाला। अबीर = अबीर को उड़ते देखकर हृदय में धैर्य उड़ जाता है, दूर हो जाता है। धमार = होली के गीत। धार = तलवार की धार (के समान कष्टप्रद)। लौटि = सबका रंग–ढंग ही बदल गया है। रंग = आनंद, रंग। रंग = रंग से रँगनेवाले।

सन्दर्भ– प्रिय के वियोग में पहले–पहल फागुन का समय आया है। उस समय संयोग के अनुभव से विपरीत स्थिति का अनुभव हो रहा है। इसी का वर्णन है। सुगंध से साँस रुकती है। चंदन जलाता है। नेत्रों को दिखाई पड़कर गुलाल उनकी देखने की शक्ति ही हर लेता है और अबीर के उड़ने से धैर्य उड़ जाता है। राग से वैराग्य धमार से धार की चोट हो रही है। एक 'रंग' (आनन्द) की सृष्टि करने वाले श्रीकृष्ण के न रहने से आज फागुन की सरसता फीकी हो गयी है।

व्याख्या– हे सखी ! सुगंधित पदार्थों की गंध आकर साँसों ही को रोक देती है और चन्दन जलाने वाला तथा प्राणों का लेने वाला बन गया हैं। नेत्रों को गुलाल शत्रु के समान लगता है और अबीर को उड़ता हुआ देखकर हृदय का धीरज जाता रहता है। राग विरक्ति उत्पन्न करते हैं और होली के धमार गीत तलवार की धार के समान काट देते हैं। इस प्रकार घना आनन्द मचाने वाले सुजान के बिना मुझे यह फागुन और उसकी रंगमय एवं उल्लासमय धूम फीकी लगती है।

विशेष– (१) विप्रलंभ श्रृंगार। (२) फागुन की रंगमय प्रकृति को उद्दीपन के रूप में उपस्थित किया गया है। (३) मुहावरों का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग हुआ है।

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ झझकै कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरी आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।१५।।

शब्दार्थ– सूधो = सीधा, सरल, ऋजु। सयानपं = चतुरता। बाँक = (बंक)

टेढ़ा। जहाँ इसमें टेढ़ा चातुर्य थोड़ा भी नहीं, इसमें कुटिलता का नाम नहीं। निसांक = निःशंक। एक तें = प्रिय के प्रेम की ही रेखा खिंच गयी उसके अतिरिक्त दूसरी कोई रेखा नहीं खिंच सकती। प्रिय के प्रेम का जो निश्चय हो गया है, फिर दूसरा निर्णय कभी नहीं होता। पाटी = पट्टी। पट्टी पढ़ना = ज्ञान या शिक्षा प्राप्त करना। छटाँक = थोड़ा, सेर का सोलहवाँ भाग। 'मन' को उलटने से। 'नम' = नमस्कार, झुकाव, प्रवृत्ति और छँटाक को उलटने से कटाँछ (कटाक्ष) भी होता है (अथवा छटा + अंक = शोभा की झलक)।

सन्दर्भ– प्रिय के समक्ष प्रेममार्ग की विशेषता का वर्णन कर प्रेमी यह दिखा रहा है कि आप इसकी विशेषता का पालन नहीं कर रहे हैं। उसकी स्थापना है कि यह मार्ग सीधा है। इसमें सरलता है। चतुरता यहाँ कुछ भी नहीं बाँकपन यहाँ कुछ भी नहीं यहाँ अपनत्व का दान कर देना पड़ता है यहाँ निष्कपट व्यवहार होता है। कपटी यहाँ हिचकते हैं। इस मार्ग में केवल एक चिन्ह, एक ही निश्चय, रहता है, प्रिय से प्रेम करना। दूसरी कोई बात इसमें नहीं आती, पर आपने न जाने क्या पट्टी पढ़ रखी है कि मन लेकर भी कुछ देते नहीं।

व्याख्या– प्रेम का मार्ग अत्यन्त सीधा और सरल है और इसमें चतुराई तथा कुटिलता के लिए थोड़ी सी भी गुंजाइश नहीं है। प्रेम को वे ही निभा सकते हैं, जिनके हृदय में कुटिलता अथवा छल–छिद्र नहीं होता है। हृदय की शुद्धि रखने वाले वे लोग ही प्रेम का निर्वाह कर सकते हैं जिनके हृदय में अभिमान तथा ऐंठ नहीं होती है। जो कपटी लोग इसका निर्वाह करने में झिझकते हैं, वे एक–दूसरे के प्रति शंका रहित नहीं रहते हैं। घनानन्द सुजान को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे प्यारे सुजान! सुनो, मेरे हृदय में तो केवल तुम्हारे ही प्रेम की एकमात्र छाप है। इसमें और किसी के प्रति प्रेम नहीं है, किन्तु तुम्हारी ओर से मुझे प्रेम की एकमात्र छाप है। इसमें और किसी के प्रति प्रेम नहीं है, किन्तु तुम्हारी ओर से मुझे प्रेम प्राप्त नहीं होता है। पता नहीं तुमने कैसी शिक्षा पाई है या किन लोगों के बहकावे में आ गये हो कि तुम मेरा मन तो ले लेते हो किन्तु बदले में अपनी छटा (शोभा) मधुर मूर्ति के दर्शन भी नहीं कराते हो।

विशेष– यहाँ 'परिवृत्ति' अलंकार है। 'परिवृत्ति' शब्द का अर्थ है परिवर्तन, लेन–देन। तीन प्रकार की परिवृत्ति मानी जाती है– अधिक लेकर थोड़ा देना, थोड़ा लेकर अधिक देना, सम लेकर सम देना। लेकर कुछ न देने में परिवृत्ति नहीं मानते अथवा ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। अब यहाँ विचारणीय है कि चमत्कार इसमें लेन–देन का है या नहीं। यहाँ भले ही कुछ दिया न गया हो, पर चमत्कार लेन–देन का ही है। परिवृत्ति अलंकार का मेरे विचार से एक चौथा भेद भी मानना चाहिए जहाँ कुछ या अधिक लेकर कुछ भी न देने की चर्चा की गयी हो।

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैडें परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौं ही,
चातक घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै।
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,

जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै।
जौ लौं करै आवन बिनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बज्रमारे घन घोरि लै।।१६।।

शब्दार्थ– बैर काढ़ति = बदला निकलती है। पैंडें = पीछे पड़े हैं। कलापी = (कलाप = मयूर की पूँछ, कलापिन्) मयूर। घेरौ = घेरनेवाला। दल = सेना। बिनोद = विनोद अर्थात् आनन्द की वृष्टि करने वाले, सुखदायी। डरारे = डरावने, भयंकर। बज्रमारै = वज्र मारने वाला, वज्र का मारा हुआ, जो वज्र के मारने पर भी न मरे (स्त्रियों की गाली), परम दुष्ट। घोरि= गर्जन कर ले।

सन्दर्भ– वियोग में सभी सुखद वस्तुएँ दुःखद हो जाती हैं। सबने अधिक कष्ट देनेवाली दो ऋतुएँ कवि–परम्परा में मानी जाती है– बसंत और वर्षा। वर्षा में बादल गर्जन करते हैं उनसे तो कष्ट होता ही है, कोयल, मोर और चातक की बोली भी कष्ट देती है। इसमें प्रत्येक कष्टदायक को विरहिणी सम्बोधित करके खीझकर उनसे अपने शक्ति भर अधिक से अधिक वेदना दे लेने को कहती है।

व्याख्या– आनंदवर्षी मेघ और प्राणों के जीवन सुजान प्रिय के विरह में काली क्रूर कोयला तू मुझसे कब का बैर चुका रही है। यदि तुझे कूकना ही है तो इतना अधिक कूक कि मेरा कलेजा ही निकल जाये। तू अपनी कूक से मेरा कलेजा कुरेद कर क्यों नहीं निकाल डालती। यदि कोयल बैर निकाल रही है तो मोर भी पीछे पड़ गये हैं। ये पापी रातों–दिन बराबर बोलकर पीड़ित करते रहते हैं। इसी प्रकार, चातक तू भी मेरे लिए घातक सिद्ध हो रहा है। तू भी इतना बोल कि मेरे कान फटे जायें। कानों के फट जाने के बाद तुम्हारी ध्वनि भी सुनाई न पड़ेगी। ऐ वज्राहत डराने वाले बादल, मुझे अकेली समझकर तू भी अपनी सारी सेना एकत्र कर जब तक आनंद की वर्षा करने वाले प्रिय के दर्शन नहीं होते तब तक तू भी सामर्थ्य भर गर्जन–तर्जन कर ले, पीड़ा की वर्षा करने वाले प्रिय के दर्शन नहीं होते तब तक तू भी सामर्थ्य भर गर्जन–तर्जन कर ले, पीड़ा की वर्षा कर मुझे यथासम्भव दुःख दे।

विशेष– कोयल यद्यपि वर्षा में बोलती है, पर उतना नहीं जितना बसंत में। इसी से शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार कोयल का कंठ बसंत में ही खोलना चाहिए। पर भक्त कवियों ने और स्वच्छंद कवियों ने शास्त्रीय व्यवस्था की चिंता उतनी नहीं की। उन्होंने अपने कान खुले रखे और अनुभव पर विश्वास किया। इसी से वर्षा में कोयल की वाणी तुलसीदास के काव्य में सुनाई पड़ती है तथा घनआनँद की कविता में भी।

बैरी बियोग की हूकनि जारत कूकि उठै अचकाँ अधरातक।
बेधत प्रान बिना ही कमान सुबान से बोल सों कान है घातक।
सोचनि ही पचियै बचियै कित डोलत मो तन लाएँ महा तक।
वे घनआनँद जाए छए उत पैंड़ें परचो इत पातकी चातक।।१७।।

शब्दार्थ– बैरी = यह बैरी चातक। कूकि = 'पी कहाँ' की ध्वनि करने लगता है। हूकनि = पीड़ा से। अचकाँ = अचानक। अधरातक = आधी रात के समय। कमान = धनुष। सु = सो। से = समान। कान है = कानों की ओर से (कानों को

अपनी कूक सुनाकर)। पचियै = परेशान होती हूँ। बचियै = बचूँ तो कैसे बचूँ। मो तन = मेरी ओर। तक = टक, टकटकी। लाएँ = एकदम टकटकी लगाये हुए। पैंडें = पीछे पड़ गया है।

सन्दर्भ– प्रिय के वियोग में चातक की वाणी विशेष कष्टकारक होती है विशेष रूप से जब वह अचानक आधी रात के समय बोल उठता है। इसी पर विरहिणी कहती है। संबोध्य सखी को समझ लिया जा सकता है।

व्याख्या– यह बैरी चातक जब आधी रात को पी–पी करके कूक उठता है, तब वियोग की हूक से मुझे जला देता है। इसके बोल कानों के पथ से आकर मेरे हृदय पर घाव करते हैं। इस प्रकार यह बिना धनुष के ही अपने बाण रूपी बोलों से मेरे प्राणों को वेध देता है। मैं सोच में पड़ी हुई हैरान होती हूँ। मैं बचूँ भी तो कैसे बचूँ, यह तो मेरी ओर एकदम टकटकी लगाये रहता है। वे घनानन्द देने वाले प्रिय अन्यत्र बसकर आनन्द मनाते रहते हैं और इधर यह पापी चातक मेरे पीछे पड़ गया है।

विशेष– (१) चातक की पुकार वियोगिनी के वियोग को उद्दीप्त कर देती है।

(२) मुहावरों के प्रयोग से भाषा में प्रवाह और व्यंजकता आ गई है।

कित को ढरिगौ वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सो आनि निहोरत हे।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ तब यौं सब भाँतिन भोरत हे।
मन माहिं जौ तोरन ही तो कहौ बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे।१८।।

शब्दार्थ– ढरि = ढलना, ढलाव, द्रुति, द्रवीभूत होने की वृत्ति, द्रवण शीलता। कित = आपका यह ढलना (झुकाव) कहाँ जा ढला, मेरी ओर तो नहीं आया। जिहि = जिससे प्रेरित होकर मेरी ओर अपनी आँखें ढुलकाते थे, मुझ पर प्रेमदृष्टि डालते थे। हे = थे। अरसानि = आलस्य। अरसानि = आपकी उस वृत्ति ने आलस्य क्यों ग्रहण कर लिया। आप उस प्रकार मेरी ओर क्यों नहीं झुकते। सरसानि = सरसतापूर्वक। आनि = आकर। निहोरत हे = अनुरोध करते थे, अनुनय–विनय–आग्रह करते थे। सरसान = जिस वृत्ति के कारण सरसतापूर्वक आकर आप विनती करते थे। भोरत हे = भुलावा देते थे, ठगते थे। तोरन ही = (प्रेमसूत्र) तोड़ने की ही इच्छा थी। बिसवासी = विश्वघाती। सनेह = तो तब प्रेम का सम्बन्ध क्यों जोड़ रहे थे।

सन्दर्भ– वियोगी विरह के समय प्रिय के इस प्रकार प्रेम सम्बन्ध तोड़ लेने पर उलाहना दे रहा है। उसका कहना है कि आरम्भ में प्रिय ने अपनी आँखों को मेरी ओर प्रवृत्त किया, पर आज उसमें वह वृत्ति नहीं रही। प्रिय पहले अत्यन्त रसमय वचनों और मुद्राओं से अपनी लालसा निवेदित करता था, पर अब उसमें वह टेव नहीं रही। पहले सब प्रकार से वह भुलावा देता था। यदि इसी प्रकार प्रेमसूत्र तोड़ देना था तो फिर उस प्रकार समय और ध्यान देकर जोड़ा ही क्यों।

व्याख्या– हे घने आनंद के प्रदाता सुजान प्रिय, आप जिस प्रेम–दृष्टि से प्रेरित होकर मेरी ओर देखा करते थे, अब वह (कृपा–दृष्टि) कहाँ विलीन हो गयी, किधर चली गयी, अपनी जिस प्रवृत्ति के कारण आप स्वयं मेरे सन्निकट आकर अत्यन्त सरस ढंग से विनय–अभियाचन करते थे, अब वह कुछ अलसा–सी क्यों गई?

अब भी आप उसी तरह से पेश क्यों नही आते? तब तो सभी तरह से सुजान होकर आप मुझे (अजान जानकर) भुलावा दिया करते थे। यदि आपके मन में इस प्रेम--सूत्र को तोड़ने का इरादा था तो हे विश्वासघाती, इसे जोड़ा ही क्यों था?

विशेष– (१) पूर्वरागजन्य विप्रलम्भ श्रृंगार। (२) 'घनआनंद' में श्लेष।

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र बिचित्रनि यौ पचिकै राचे राखि बिसेख्यौ।
ऐसो हियो हितपत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनँद वान अजान लौं टूट कियौं पर बाँचि न देख्यौ।।१६।।

शब्दार्थ– पन = प्रतिज्ञा, संकल्प। जा मधि = जिस हृदयरूपी पत्र में। सोधि = शुद्ध करके। सुधारि = अच्छी विधि से। है लेख्यौ = लिखा है। पचि कै = परेशान होकर, विशेष कष्ट सहकर। ताही = उसी प्रिय के सुन्दर और पवित्र चरित्रों से ही बड़े परिश्रम से यह निर्मित किया गया है। हियो = हृदयरूपी प्रेमपत्र। आन = अन्य, और।

सन्दर्भ– प्रिय के निकट अपना हृदय उपस्थित किया प्रेमिका ने। वह हृदय क्या था मानो प्रेमपत्र ही था। पर उसने पत्र को पढ़ा तक नहीं। उसमें जो कुछ लिखा था उस पर विचार करना तो दूर रहा, प्रत्युत उसे फाड़कर टुकड़े–टुकड़े कर डाला। इस प्रेमपत्र का विवरण इसमें किया गया है। इसमें प्रेम का मंत्र लिखा है, मंत्र में प्रिय के ही विचित्र चरित्र लिखे गये हैं। उसे बड़ी पवित्रता से प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या– हे प्रियतम ! जिस हृदय रूपी पत्र में मैंने सब प्रकार से शुद्ध करने के विचार पूर्ण प्रेम की महान् प्रतिज्ञा को भली भाँति लिखा है और उसमें बड़े परिश्रम से तुम्हारे सुन्दर और विचित्र चरित्रों को अंकित किया है, ऐसा हृदय रूपी पत्र, जिसमें अन्य कथा भी अंकित नहीं की गयी है, उस प्रेम--पत्र को हे प्रियतम ! तुमने कभी भी नहीं पढ़ा ? अर्थात् मेरे हृदयगत भावों को तुमने कभी भी नहीं पहचाना और टुकड़े–टुकड़े करके पृथ्वी पर फेंक दिया।

विशेष– (१) उक्ति का अर्थगर्भत्व घनानन्द का स्वतन्त्र और स्वावलम्बी है। बिहारी के दोहों के समान प्रचलित रूढ़ियों पर आश्रित नहीं। इस सवैया में उनकी सांगोपांग योजना या अन्विति बड़ी ही निराली है। (२) 'बाँचि.........देख्यौ' में 'अजान' शब्द का प्रयोग अति सुन्दर है। अजान--जिसे कोई जान न सके, (मूर्ख) अब तक कोई प्रेमी तुम्हारे तत्व को नहीं जान सका। पर ध्वनि से यह भी अर्थ निकलता है कि तुम मूर्ख हो, तुम प्रेम–तत्त्व को जानते ही नहीं। यही कारण है कि तुमने हमारे हृदय–पत्र को नहीं पढ़ा और फाड़ दिया। साथ ही प्रेमी का उपालम्भ हृदय में चुभता हुआ भी है। (३) मुहावरों का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग हुआ।

पर-काजहि देह को धारि फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन दायक हौ, कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो असुवानहिं लै बरसौ।।२०।।

शब्दार्थ– पर = दूसरे। काजहि = काम के लिए, दूसरों का उपकार करने

हेतु। धारै = धारण करके। परजन्य = (पर + जन्य) दूसरों को सुखी करने के लिए उत्पन्न हुआ हो, बादल। जथारथ = यथार्थ सच्चे, यथायोग्य (अपना नाम सार्थक करो)। दरसौ = दर्शन देना, दिखाई देना। निधि–नीर = सागर का जल, समुद्र का खारा जल। सुधा = अमृत के समान (मीठा) कर देती है। सरसौ = करते हो, फैलाते हो। जीवन–दायक = जीवन प्रदान करने वाले। मेरियो = मेरी भी। पीर = दुःख, पीड़ा, कष्ट। हियें परसी = हृदय में धारण करो, हृदय में स्पर्श कराओ। बिसासी = विश्वासघाती। मो = मेरे। लै = लेकर। अँसुबानहिं = मेरे (खारे) आँसुओं को लेकर (और उन्हें मीठा बनाकर) बरसो।

सन्दर्भ– यहाँ वियोगिनी अपने आँसुओं से विश्वासघाती प्रियतम के आँगन में बरसने को कहती है। उसे आशा है कि उसके आँसुओं से शायद निष्ठुर प्रियतम द्रवित हो जाय।

व्याख्या– हे मेघ! दूसरों का उपकार करने हेतु ही तुम यह शरीर धारण करके इधर–उधर फिरा करते हो, तो अपना पर्जन्य (पर + जन्यः)–दूसरों के उपकार के लिए जो जन्मा हो। नाम भी सिद्ध करो (सच्चे होकर दिखाई दो) तुम समुद्र के खारी जल को अमृत के समान बना देते हो। वह अमृत–सा जल समस्त विश्व को बड़ी उदारता के साथ देकर सज्जनता का परिचय देते हो घनानन्द कहते हैं कि तुम प्राणों को प्रदान करने वाले हो (जल = जीवन) कुछ मेरे हृदय की पीड़ा का भी अनुभव करो। कभी उस विश्वासघाती सुजान के आँगन में मेरे आँसुओं को ले जाकर बरसा दो। इसका प्रभाव यह होगा कि मेरे प्रिय इस प्रकार मेरे आँसुओं को बरसते देखेंगे तो सम्भव है कि उनके हृदय में निष्ठुरता के स्थान पर कुछ कोमल भावनाओं का उदय हो जाये, जिससे मुझे उनके दर्शनों का लाभ प्राप्त हो जायेगा।

विशेष– (१) प्रस्तुत छन्द में घनानन्द की बहुविज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। इस छन्द में कवि ने **'दूत काव्य परम्परा'** का निरूपण किया है। सम्भवतः कवि ने यह कल्पना 'मेघदूत' से ग्रहण की हो। (२) इस छन्द में यह बात स्पष्ट की गई है कि जो बात शब्द नहीं कह सकते, आँसू उसी बात को अच्छी प्रकार व्यक्त करते हैं। इसी कारण कवि ने मेघ को सन्देश भेजकर आँसू ले जाकर बरसाने के लिए प्रेरित किया है। (३) अलंकार– 'घन आनन्द', 'जीवन दायक' में श्लेष, वृत्यानुप्रास।

कान्ह परे बहुतायत मैं, अकलैन की बेदन जानौ कहा तुम।
हौ मनमोहन मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम।
बौरे बियोगिनी आप सुजान ह्वै, हाय कछू उर आनौ कहा तुम।
आरतिवंत पपीहन कों घनआनँद जू पहचानौ कहा तुम।।२१।।

शब्दार्थ– कान्ह = कृष्ण। बहुतायत = बहुतों के बीच में या अनेकों के बीच में। अकलैन = अकेलों की। मनमोहन = मन को मोहने वाले (कृष्ण)। विधा = व्यथा। बिमनैन = परवश दूसरे के वश में। बौरे = पागल। सुजान = सब कुछ जानने वाले। उर = हृदय। आरतिवंत = व्याकुलता से भरे।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अंश में गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी विरह–व्यथा का आकलन प्रस्तुत करती हैं–

व्याख्या— गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण ! आप तो बहुतों के बीच में रह हैं, आप अकेले रहने वाले की वेदना को कहाँ जान सकते हैं। आप स्वयं दूसरे मन को मोहने वाले हैं स्वयं कहीं मोहे नहीं गये हैं इसलिए दूसरे के वश में रह वालों की व्यथा को कैसे समझ सकोगे। हम सभी तो पागल हैं और आप सब कु जानने वाले हैं, कुछ तो अपने हृदय में हमारी सुधि लीजिए। घनानन्द जी कहते कि जो व्याकुलता से भरे पपीहे हैं और सबको आनन्द देने वाला बादल उन्हें सु नहीं दे पाता। वैसी ही दशा हमारी है फिर भी आप मेरी वेदना को नहीं समझ पा रहे हैं।

विशेष— (१) कवि ने विरह की तीव्र वेदना व्यक्त की है। (२) कृष्ण के प्रति गोपियों का अनुराग व्यक्त हुआ है।

मग हेरत दीठि हिराय गयी, जब तें तुम आवनि-औधि बदी।
बरसौ कितहूँ घनआनँद प्यारे पैं बाढ़ति है इत सोच-नदी।
हियरा अति औटि उदेग की आँचनि, च्वावत आँसुनि मैन मदी।
कब आयहौ औसर जानि सुजान, बहीर लौं बैस तौ जाति लदी।।२२।।

शब्दार्थ— हेरत = देखते हुए। हिराय गई = खो गई। औधि = अवधि। बदी = कही। कितहूँ = कहीं दूसरे स्थान पर। इत = मेरे यहाँ। उदेग = उद्वेग, आकुलता। च्वावत = टपक रहा है। मैन = कामदेव। मदी = मदिरा। औसर = अवसर। बहीर लौं = सेना का सामान। बैस तो जाति लदी = उम्र तो सेना के सामान की तरह लदी जा रही है अर्थात् ढलती जा रही है।

सन्दर्भ— वियोगिनी प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई आकुल हो चुकी है, वह कातर होकर कहती है :

व्याख्या— आपका मार्ग देखते–देखते मेरी दृष्टि खो गई। जब से तुमने आने की अवधि लिख भेजी है तभी से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। तुम कहीं दूसरे स्थान पर वर्षा करते रहो, परन्तु मेरे यहाँ तो सोच की नदी बढ़ती जा रही है। हृदय की व्याकुलता को आँच में औटाकर काम आँसुओं के रूप में मदिरा टपक रहा है। हे सुजान ! तुम्हारे लौटकर आने का अवसर कब आयेगा ? मेरी उम्र इस प्रकार लदती अर्थात् ढलती जा रही है, जिस प्रकार सेना के कूँच करने पर उसके साथ सामान लदकर चलने लगता है।

विशेष— (१) विप्रलम्भ श्रृंगार–विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति है। (२) अभिलाषा विरह–दशा का चित्रण है। (३) 'बहीर लौ .... लदी' में लोकोक्ति का सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग हुआ है। 'लद जाना' का अर्थ है बीत जाना। जैसे 'जमाना लद गया', 'दिन लद गये' आदि।

अंतर हौ किधौं अंत रहौं, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं, अब कैसी करौं, हिय का बिधि धीरौं।
जो घनआनँद ऐसी रुची, तौं कहा बस है, अहो प्रानिन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं, धरनी मैं धँसौं कि अकासहिं चीरौं।।२३।।

शब्दार्थ— अंतर = हृदय। अन्त = अन्यत्र। दृग''''फिरौं = नेत्रों को फाड़े

इधर–उधर देखता फिरूँ। अभागिनी भीरौं = अभाग्य पर रोऊँ। अकि = या कि। पानि परूँ = पानी में डूब मरूँ। धीरौ = धैर्य। रूची = भाई, पसन्द आई। धँसौं = समा जाऊँ। चीरौं = चीर डालूँ।

सन्दर्भ– प्रस्तुत पद्य में कवि ने ईश्वर को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों द्वारा अपनी पीड़ा को व्यक्त किया हैं।

व्याख्या– हे प्रिय ! तुम मेरे अनतस् में हो या अन्यत्र कहीं हो। क्या मैं नेत्र फाड़कर तुम्हें इधर–उधर खोजती फिरूँ या दुर्भाग्य पर रोती रहूँ। मैं आग में जल मरूँ, या जल में डूब मरूँ? भला कैसे और क्यों धैर्य धारण करूँ। यदि तुम्हें इस प्रकार तड़पाना ही अच्छा लगता है तो मैं अवश हूँ, लेकिन यह तो बताओ कि क्या अपने प्राणों को इसी प्रकार तड़पाती हुई पीड़ा–भोग करती रहूँ? हे हरि! मैं तुम्हें पाने के लिए क्या करूँ ? क्या पृथ्वी में समा जाऊँ या आकाश को चीर डालूँ कि आपका साहचर्य प्राप्त हो सके।

विशेष– (१) विरहजनित आकुलता का वर्णन। (२) प्रोषितपतिका नायिका की वेदना की अभिव्यक्ति। (३) वियोग की 'प्रलाप–अवस्था' का चित्रण। **अलंकार–** 'अन्तर' और 'अन्त' में यमक। 'अहा' और 'हाय' में विभित्सा। यत्र–तत्र में अनुप्रास।

स्याम घटा लपटी थिर बीज, कि सोहै अमावस-अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की मालं-सी, पै दृग-सीतलता सुखकारी।
कै छबि छायो सिँगार निहारि, सुजान-तिया-तन-दीपति प्यारी।
कैसी फबी घनआनँद चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी।।२४।।

शब्दार्थ– स्याम घटा = काली घटाएँ। बीज = बिजली । थिर = रुकना। अमावस = अमावस्या। अंक = गोद। उज्यारी = उजाली, उजियारी। धूम = धुआँ। ज्वाल = ज्वाला। तिथ्या = त्रिया, नायिका। दीपति = दीप्ति, कान्ति। फबी = सुशोभित होना। चौपनि = उत्साहपूर्वक।

सन्दर्भ– प्रस्तुत अंश में कवि ने अपनी प्रियतमा सुजान के सुन्दर वर्ण और उसके वस्त्राभूषण की सुन्दरता को व्यंजित किया है–

व्याख्या– घनानन्द जी कहते हैं कि प्रियतमा सुजान इस तरह से सुशोभित हो रही है कि जैसे अचानक श्यामल घटाओं के बीच में बिजली सुस्थिर हो जाय, या कि अमावस्या की गोद में अचानक उजियारी छा जाय। या फिर धुएँ के पुंज में ज्वाला की माला–सी दीख जाय, लेकिन धुआँ तो नेत्रों को कष्ट देने वाला है, पर यह ज्वाल–माला शीलता और सुख प्रदान करने वाला है। घनानन्द जी कहते हैं कि उनकी प्रिया ऐसी लग रही है– कि जैसे श्रृंगार की ही छाया में बनी हुई उसकी देह हो जो अत्यन्त प्रिय और दीप्तिमान लग रही है। उसने जो यह साँवले रंग की साड़ी पहन रखी है उससे वह कितनी सुन्दर लग रही है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

विशेष– (१) कवि ने अपनी प्रिया के गौर–वर्ण पर काली साड़ी का सुन्दर वर्णन किया है जो अन्याय कवियों की परिपाटी रही है। भाव–साम्य = नील परिधान बीच सुकुमार..........।(प्रसाद) (२) संदेह अलंकार द्रष्टव्य है।

कहियै किहि भाँति दसा सजनी, अति ताती कथा रसनाहि दहै।
अरु जौ हिय ही मधि घूँटि रहौं, तो दुखी जिय क्यों करि ताहि सहै।
घनआनँद जान न कान करैं, इत के हित की कित कोउ कहै।
उन ऊतर-पायँ लगी मिहँदी, सु कहाँ लगि धीरज हाथ रहै।।२५।।

शब्दार्थ– ताती = तप्त। रसनाहि = जिह्वा को। कान करना = ध्यान देना। कित = कितना। ऊतर = उत्तर।

सन्दर्भ– विरह की असह्य जलन और अद्भुत लाक्षणिक वक्रता के मेल का यह छंद विरहिणी द्वारा सखी के प्रति कही गई बात से सन्दर्भित है। दशा ऐसी है कि उसे कहना संभव नहीं और बिना कहे रहना भी संभव नहीं। क्योंकि कहने पर जीभ जलेगी और न कहने पर हृदय जल रहा है।

व्याख्या– विरहिणी सखी से कहती है कि हे सखी! अपनी व्यथा की कथा को मैं किस प्रकार कहूँ? जो दशा मेरी है, वह तो वर्णन में आ ही नहीं सकती। उसकी कथा भी इतनी तप्त है कि अगर कहना चाहूँ तो मेरी जीभ ही जल जायेगी। इसलिये कहने का साहस भी नहीं कर पाती। बिना कहे अगर उस व्यथा को हृदय में ही पी जाऊँ, पचा जाने की कोशिश करूँ तो हृदय पहले से ही दुःखी है, उस व्यथा के ताप को वह क्योंकर सहन कर सकेगा अर्थात् बिना कहे रहना भी सम्भव नहीं है। आनन्द के घन सुजान प्रिय की स्थिति यह है कि वे यहाँ के मेरे हित की बात पर कान ही नहीं देते अर्थात् सुनते ही नहीं। वहाँ की (प्रिय के पास) हालत यह है कि प्रिय के पास से आने वाले उत्तर के पावों में मेहदी लगी हुई है। पावों में मेहंदी लगना मुहावरा है। किसी के न आने की बात को व्यंग्यपूर्वक इस प्रकार कहते हैं कि वे कैसे आयें, उनके पावों में मेहंदी लगी हुई है। यहाँ उत्तर नहीं आता। विरहिणी कहती है कि अब कहाँ तक धीरज हाथ में रहे अर्थात् अब तो धीरज छूट रहा है।

विशेष– (१) विरह के ऐसे ही ताप का वर्णन रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा के एक अन्य कवि बोधा ने भी इस प्रकार किया है।

(२) इस छंद में लाक्षणिकता का आधार लोकोक्ति है। दोनों का अद्भुत काव्यात्मक निखार के साथ प्रयोग किया गया है। इस चमत्कार के साथ भाव गांभीर्य में शिथिलता के स्थान पर और तीव्रता आई है। 'उत्त' का मानवीकरण किया गया है।



आलोचनात्मक खण्ड

कबीरदास

मलिक मुहम्मद जायसी

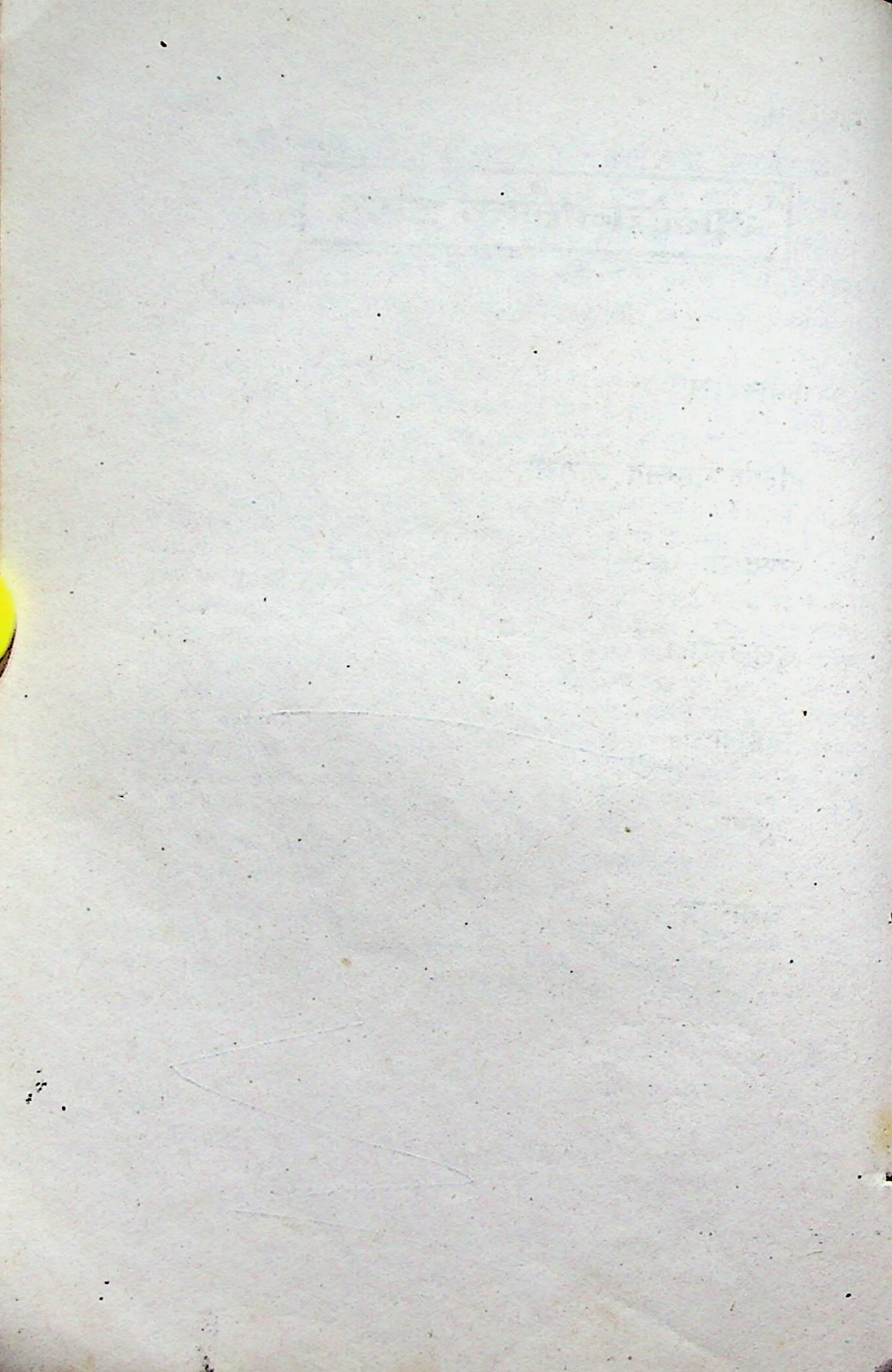
सूरदास

तुलसीदास

बिहारी

भूषण

घनानन्द



आलोचनात्मक खण्ड

कबीरदास

"कबीर का जीवन वृत्त तथा कृतियाँ"

प्रश्न–१. कबीर के जीवनवृत्त तथा कृतियों के सन्दर्भ पर प्रकाश डालिये।

उत्तर–भारतीय काव्य चिन्तन और परम्परा के अनुसार कवि अपने व्यक्तिव को जन जीवन में तदाकार कर देता है, उसे अपने पृथक अस्तित्व का अहं नहीं होता। लोक मानस ही उसका मानस होता है। भक्ति काल के कवियों की यह विशेषता थी कि वह अपने आपको जनजीवन में पूर्णतया विलीन कर दिया था। वह यशेलिप्सु नहीं थे। भारतीय जीवन पद्धति के अनुसार संत कवि अपने व्यष्टि को समष्टि में समाहित किये रहे, इसी कारण भक्त कवियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम संकेत दिये हैं। या यों कहें कि अन्तः साक्ष्य के रूप में भक्ति युग के कवियों के जीवन–वृत्त के बारे में अल्प सामग्री ही मिलती है।

कबीर ने अपने सम्बन्ध में बहुत कम संकेत दिये हैं, जो उनके जीवनचरित्र के लिखने में प्रमाण्य सामग्री प्रस्तुत कर सके। वस्तुतः भारत में आत्म चरित्र लिखने की प्रवृत्ति ही प्रायः विकसित नहीं हुई। यह प्रवृत्ति तो तब बलवती होती है जब व्यक्ति अपने को तथा अपने जीवन की घटनाओं को महत्व देता है। भारतीयों का ध्यान तथ्यात्मक इतिहास की ओर बहुत कम गया है। पुराण आदि में प्राप्त इतिहास इतिवृत्त की अपेक्षा जीवन पद्धति, चिन्तन, संस्कृति आदि का इतिहास अधिक है। मध्यकालीन भक्त कवियों के सम्बन्ध में यही बात सत्य है। उनमें भक्ति पद्धति, उनके दार्शनिक विचार तथा कुछ अलौकिक चमत्कारों की ही बातें अधिक हैं, सम्पूर्ण जीवन गाथा को व्यवस्थित रूप से देने की प्रवृत्ति न्यून रही है। महान आत्माओं के प्रति जन जीवन में जो श्रद्धा व्याप्त रही तथा उनकी अलौकिक शक्ति के विषय में जो दन्त–कथायें प्रचलित रहीं, उन्हीं के फलस्वरूप वे महान आत्मायें क्रमशः ऐतिहासिक पुरुषों से पौराणिक पुरुष होते गये। इन्हीं कारणों से इन पुरुषों के जीवन का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका। कबीर के जीवन चरित्र को संकलित करने में ये ही असुविधायें हैं।

कबीर का जीवन चरित्र साहित्य समीक्षकों के समक्ष विवाद का विषय रहा है। साहित्य समीक्षकों के लिए यह अनिवार्य है कि कवि के सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि के उन रूपों एवं घटनाओं से परिचित हों जो उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को रूपायित करती है। साथ ही उनके काव्य के लिये जाने–अनजाने प्रेरणा एवं उपजीव्य प्रदान करती है। यही कारण है कि संत कबीर के जीवन–वृत्त के ज्ञान में असुविधा एवं अपूर्णता होते हुये भी साहित्य समीक्षकों से प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके जीवन की रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

जन्म : विद्वानों में संत कबीर का जन्म तिथि एव स्थान विवाद का विषय रहा है। पहले तिथि पर विचार करते हैं।

कबीर के सम्बन्ध में लिखी गई अधिकांश बातों का आधार जनश्रुति एवं अनुमान है।

कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास के द्वारा रचे गये एक पद के आधार पर कबीर की जन्म तिथि अनुमानतः इस प्रकार है –

"चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार इक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बर सामन को, पूरन मासी तिथि प्रगट भये।।"

इस आधार पर निश्चित की गई जन्मतिथि कुछ अधिक प्रमाण्य मानी जा सकती है। इसके अनुसार कबीर का जन्म सं० १४५५ ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा दिन चन्द्रवार को पड़ता है। विद्वानों ने इस पर अपनी टीका प्रस्तुत करते हुये कहा है–पंचाग की गणना से सं० १४५५ में ज्येष्ठ पूर्णिमा को चन्द्रवार नहीं है। यह सं० १४५६ को ज्येष्ठ शुक्ल की पूर्णिमा को पड़ता है। "चौदह सौ पचपन साल गये" का अर्थ–इस वर्ष के व्यतीत हो जाने से है अर्थात सं० १४५६ के ज्येष्ठ में भी हो सकता है। **डॉ० श्यामसुन्दर दास** को यही अर्थ तर्कसम्मत प्रतीत हुआ। आचार्य रामचंद शुक्ल ने सं० १४५६ ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा ही कबीर की जन्मतिथि मानी है। डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने सं० १४२४ के आस–पास कबीर की जन्म तिथि मानी है। उनकी मान्यता का आधार इस प्रकार है। नामदेव की मृत्यु सं० १४०७ में हो चुकी थी। रामानन्द की निधन तिथि सं० १४६७ के आस–पास मानी गई है। इसी के बीच कबीर के जन्म का अनुमान करके ही डॉ० बडथ्वाल ने उपर्युक्त तिथि दी है, किन्तु यह तिथि पुष्ट प्रमाणों द्वारा मान्य नहीं है। वैसे कबीर की जन्म तिथि सं० १४५५–५६ ही मान्य ठहरती है। **"कबीर चरित्र बोध"** नामक ग्रंथ के अनुसार कबीर का जन्म चौदह सौ पचपन विक्रमी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार माना गया है। इण्डियन क्रोनोलॉजी के आधार पर डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने यह सिद्ध कर दिया है कि सं० १४५५ की ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा को सोमवार पड़ता है। डॉ० त्रिगुणायत भी इसी मत से सहमत हैं और यही तिथि अधिक तर्क संगत और उपर्युक्त लगती है।

जन्म स्थान : कबीर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में तीन विभिन्न मत प्रचलित हैं। इनके अनुसार विभिन्न विद्वानों ने उनका जन्म स्थल तीन माने हैं–मगहर, काशी और आजमगढ़ जिले का बेलहरा गाँव।

निम्न दोहे के आधार पर कतिपय विद्वानों ने उनका जन्म स्थल मगहर माना है–

"तोरे भरोसे मगहर बसिंओं, मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायों, पुनि कासी बसे आई।।"

कबीर की जन्म स्थली के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहीं भी कुछ भी नहीं लिखा है। उन्होंने अपने विभिन्न पदों में केवल निवास स्थान का ही नामोल्लेख किया है। उपर्युक्त दोहे में "दरसन" शब्द पर विद्वानों में मतभेद है। एक पक्ष इससे जन्म लेने का और दूसरा पक्ष–ईश्वरीय दर्शन अथवा गुरू दर्शन होने का अर्थ ग्रहण करता है। मगहर को उनका जन्म स्थान न स्वीकार करने वालों का कथन है, सम्भवतः कबीर पर्यटन करते हुये मगहर गये होंगे। वहीं उन्हें किसी सिद्ध पुरुष या भगवान के दर्शन हुये होंगे अथवा ज्ञान की प्राप्ति

हुई होगी। मगहर जो उत्तर–प्रदेश के बस्ती जिले में है, उनका जन्म स्थान नहीं माना जा सकता। **कबीर पंथियों** के अनुसार– *"सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा था अथवा उक्त ताल में पुरइन के पत्ते पर खड़ा हुआ बालक नीरु जुलाहे की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था।"* इससे तो यही प्रमाणित होता है कि कबीर का जन्म स्थल–काशी था। किन्तु बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर में न होकर आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव में हुआ था। किन्तु बेलहरा में कबीर के जन्म के कोई पुष्ट प्रमाण नही मिलते। बेलहरा को कबीर का जन्म स्थान मानने का कारण कदाचित शब्द साम्य प्रतीत होता है। लहर तालाब, जहाँ कबीर पंथियों के अनुसार उनका जन्म हुआ था, का बेलहरा हो विस्मय की बात नहीं।

किन्तु डॉ० चन्द्रबली पाण्डेय बेलहरा को ही कबीर का जन्म स्थान मानते हैं। अधिकांश विद्ववर्ग काशी को ही कबीर का जन्म स्थान मानने को तैयार हैं। जन–श्रुतियाँ और कबीर पंथी विद्वान काशी को ही कबीर का जन्म स्थान मानने को तैयार हैं। *"सगल जनमु शिवपुरी गंवाइया"* कहकर कबीर अपने आजन्म काशीवास की सूचना देते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत पुराने समय से अनन्तदास, धर्मदास आदि प्रायः सभी पुराने कवि इन्हें काशी निवासी ही मानते आये हैं। अतएव इनका जन्म स्थान और निवास काशी ही मानना अधिक न्यायसंगत है, भले ही वह मूल काशी हो या उसी के निकटवर्ती गाँव मगहर हो।

जाति : कबीर की जाति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इनके जन्म तथा पालन–पोषण के सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रचलित है। काशी के एक ब्राह्मण विधवा स्त्री के कबीर पुत्र थे। लोक–लाज के भय से उस विधवा ब्राह्मणी ने बालक कबीर को लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ दिया था। वहाँ इस अनाथ बालक को एक जुलाहा दम्पत्ति नीरु और नीमा उठाकर ले आये। निस्संतान होने के कारण इस दम्पत्ति ने प्रेमपूर्वक इस बालक को अपना शिशु समझ कर पाला। यही बालक आगे चलकर महान संत कबीर हुए। यह एक विश्वस्त जनश्रुति है। इस प्रकार कबीर पैतृक संस्कारों से हिन्दू थे। किन्तु उनका पालन पोषण मुसलमान परिवार में हुआ। यही कारण है कि उनमें दोनों संस्कारों का सम्मिश्रण है। डॉ० श्याम सुन्दर दास ने इसी मत को स्वीकार किया है –

अन्य लाग कबीर को जुलाहा मानते हैं। डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल इसी मत के समर्थक हैं।

"जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि हरखि रमै कबीर।"

x x x

"तू ब्राह्मण, मै काशी का जुलाहा"

तथा

"कहत कबीर कारगह तोरी, सूतहि सूत मिलाए कोरी।।"

डॉ० बड़थ्वाल की यह धारणा है कि "कबीर का परिवार पहले हिन्दू धर्मावलम्बी था, इसमें गोरखनाथ की मान्यता थी। कुछ दिनों से ही वह इस्लाम को मानने लगे थे। यही कारण है कि कबीर में उच्च हिन्दू विचार तथा योग के संस्कार मिलते हैं।" कबीर ने स्वयं अपनी जाति के सम्बन्ध में कई प्रकार की उक्तियाँ कह दी हैं–"जुलाहा" शब्द का प्रयोग

तो कबीर ने कई बार किया ही है, "कोरी" शब्द का प्रयोग भी कबीर ने अनेक स्थानों पर किया है। कबीर हिन्दू होते हैं। कबीर ने अपने वंश के लिये "बहुगोसाई" भी कहा है। किन्तु कबीर ने यह भी स्वीकार किया है कि उनका वंश समाज के निम्न वर्ग का है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को जाति का जुलाहा ही माना है वे कबीर को जुलाहा वंश में पालित तो मानते ही हैं, साथ ही इस जुलाहा वंश को नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगी भी मानते हैं। उनके अनुसार कबीर योगी ब्राह्मणों से असंतुष्ट एवं वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे। फिर भी उनमें हिन्दू संस्कार के विशेषतः ज्ञान और योग थे। मुसलमान होने पर भी यह जुलाहा जाति अपने पूर्ववर्ती संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकी थी। इससे कबीर में दोनों ही प्रकार के संस्कारों का मिश्रण था। इस गृहस्थ योगी की जाति न हिन्दू थी न मुसलमान। उनमें हिन्दू मुसलमान दोनों में से किसी का भी अभिमान नहीं था। कबीर तो संत थे, उन्होंने तटस्थ होकर दोनों ही जातियों को फटकारा।

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू आपन करै बढ़ाई गागर छुवन न देहीं,
बेसया के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुवाई।।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई,
खाला के संग बेटी ब्याहैं घर माँ करै सगाई।।"

पारिवारिक जीवन : कबीर गृहस्थ थे, उनका एक छोटा परिवार था। कबीर के परिवार में कबीर के अतिक्ति उनके माता–पिता, स्त्री, पुत्र तथा पुत्री इन पाँच सदस्यों के होने की जनश्रुति है। लोई और धनियाँ इनके दो पत्नियाँ थीं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने एक पद के आधार पर इनके दो पत्नियाँ होने की कल्पना की है। पहली पत्नी से परिवार के सदस्य संतुष्ट थे, परन्तु दूसरी पत्नी ने पति का ध्यान अधिक रखा है। पहली पत्नी के प्रति असन्तोष होने के कारण ही कबीर ने दूसरी पत्नी की थी। इसी आशय के आधार पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने कबीर के दो पत्नी होने का अनुमान किया था। कबीर ग्रन्थावली पद सं० २२६ –

"पहली को घाल्यो भरमत डोल्यो सच कबहूं नहिं पायो।
अब की धरनि धरी जा दिन थै, सगलौ भरम गमायो।।"

वैसे इस पद में प्रतीकार्थ है। माया के विद्या और अविद्या रूपों के लिये संकेत है।

कबीर ने अपनी बानी में अनेक बार "लोई" को सम्बोधित किया है। इसी आधार पर विद्वान लोई को इनकी पत्नी मानते हैं। परन्तु कबीर के सम्पूर्ण साहित्य में इनका आध्यात्मिक अर्थ है।

कबीर सम्प्रदाय में प्रचलित जन श्रुति के अनुसार कबीर अविवाहित थे। पर "ग्रन्थ साहब" के एक दोहे के आधार पर "कमाल" उनका पुत्र तथा "कमाली" उनकी पुत्री सिद्ध होती है। कुछ लोगों का अनुमान था कि कबीर के इन दो के अतिरिक्त भी सन्तान थी। उनका नाम था जमाल और जमाली, परन्तु इस पर विशवस्त रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। जमाल के सम्बन्ध में तो एक साखी है –

बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि सुमिरन को छोड़कर घर ले आया माल।।"

कबीर की कुछ पंक्तियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि कबीर को अपने पथ पर अपने पिता से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ परन्तु उनकी माता उनकी साधु संगति से सन्तुष्ट नहीं थीं। यथा–"बाप दिलासा मेरी कीन्हा"–"कबीरौ संत नदी गयौ बहि रे, ठाड़ी माइ करारै दे रे।"–"है कोई ल्यावै गहिरे।" एक पद में कबीर ने अपने राम भजन से माँ को दुखी होने का संकेत किया है। कबीर की पहली पत्नी भी कबीर के वैराग्य से असन्तुष्ट थीं, परन्तु इन सबका तो आध्यात्मिक अर्थ ही कबीर के सम्बन्ध में उपर्युक्त है। माई माया ममता आदि का प्रतीक है। दूसरी पत्नी वैराग्य आदि से प्राप्त विद्या रूप मनःस्थिति तथा पहली पत्नी वैराग्य से पूर्व की अविद्या मानी जा सकती है।

कबीर का व्यवसाय : कपड़ा बुनना था। यह उनके जुलाहे या कोरी होने से नहीं प्रत्युत अन्य पदों के अन्तः साक्ष्य से भी प्रमाणित है। उनकी आय सीमित थी, परिवार का भरण पोषण कठिनाई से ही हो पाता था। संत प्रकृति के कबीर संतोष वृत्ति के थे। धन संचय से कबीर ऐसे वैरागी की अरुचि ही रही है। वह स्वाभिमानी थे। भगवान के अतिरिक्त वे किसी के आगे याचना करना पसन्द नहीं करते थे। "दुइ से मांगौं चूना" वह ईश्वर से भी केवल जीवन निर्वाह के लिये ही माँगते थे। योगी और भक्त में जो अपरिग्रह की भावना होनी चाहिये वह कबीर में पूर्णतयः मिलती है।

गुरु : गुरु के सम्बन्ध में भी कई धारणायें हैं। लोक मान्य धारणा तो यही है कि स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु थे। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित थी। कबीर बड़े होने पर उपदेश देते हैं, परन्तु लोग उनके उपदेशों की उपेक्षा "निगुण" होने के कारण करते थे। इसी से कबीर ने स्वामी रामानन्द को गुरु बनाने का निश्चय किया। मुसलमान होने के कारण रामानन्द कबीर को शिष्य नहीं बनाना चाहते थे। एक दिन कबीर पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर लेट गये। अनजाने में जब रामानन्द का पैर कबीर पर पड़ा तो उनके मुख से निकला–"राम–राम"। इसी को कबीर ने गुरु मंत्र मान लिया। अपने आपको रामानन्द का शिष्य। स्वयं कबीर के यह शब्द हैं–"काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेतायें।" चेताये से रामानन्द के सिद्धान्तों से प्रभावित होना, प्रेरणा ग्रहण करने का अर्थ लिया जाता है। यही तथ्य रामानन्द को कबीर का गुरु होने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

कबीर काव्य के अनुशीलन से तो यह स्पष्ट ही है कि कबीर का गुरु कोई महापुरुष था, जिससे उन्होंने राम नाम का गुरु मंत्र लिया था। यथा–

"राम नाम के पटतरे देबे को कछु नाहिं,
क्या ले गुरु सन्तोषिये, हौंस रही मन माहिं।।"

सतगुरु ने ही उन्हें परमात्मा जगत पिता को प्राप्त करने का मार्ग दिखाया था।
"सतगुरु मिलेआ भारगु दिखाइया, जगत पिता मेरे मन भाइया।।"
यह सतगुरु बहुत सम्भव हो रामानन्द ही हों।

रामानन्द के समय के विषय में भी विद्वान समीक्षक एक मत नहीं हैं। एक धारणा के अनुसार तो रामानन्द की मृत्यु कबीर से पूर्व ही हो चुकी थी। दूसरी धारणा के अनुसार

रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर की आयु १४–१५ वर्ष रही होगी। उस समय कबीर का घूम–घूमकर उपदेश देने की बात उचित नहीं जान पड़ती। वस्तुतः गुरु ज्ञान के लिये अपरिहार्यता मानते हुए गुरु का शारीरिक साक्षात कबीर आवश्यक नहीं मानते हैं।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वामी रामानन्द कबीर के मानस गुरु थे। कबीर रामानन्द के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित थे।

कबीर पंथी मुसलमान शेख तकी को इनका गुरु मानते हैं। शेख तकी नामक दो सूफी पीर प्रसिद्ध हुये हैं–एक झूसी का दूसरा कड़े मानिकपुर था, झूसी में कबीर का कुछ दिन का रहना माना जाता है। दूसरे तकी का कबीर खंडन करते हैं। इससे कबीर मीर तकी से प्रभावित अवश्य हुये होगें, किन्तु इतने से ही उनको कबीर का गुरु मान लेना पर्याप्त नहीं है। कबीर काव्य में गोमती तीर निवासी "पीताम्बर पीर" का भी नामोल्लेख हुआ है। इस पीर के प्रति कबीर के हृदय में श्रद्धा है। वे उनकी कुटिया तक में जाने को हज्ज करना कहते हैं। कतिपय विद्वान कबीर के किसी लौकिक गुरु होने का खण्डन करते हैं। डॉ० मोहन सिंह, डॉ० भण्डारकर आदि रामानन्द को भी कबीर का गुरु होने का समर्थन नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है जिन पारिभाषिक अर्थों में दीक्षा गुरु शब्द प्रयुक्त होता है, उनकी दृष्टि में कबीर का कोई गुरु नहीं रहा होगा। यह अवश्य है कि कबीर ने रामानन्द को अपना मानस गुरु मान लिया हो।

कबीर ने अपने पदों में, साखी में स्थान–स्थान पर समगुरु की महिमा गाई है। यह सतगुरु तो साक्षात भगवान ही के सम्बन्ध में हैं। तत्व ही गुरु होने के योग्य होता है। तत्वज्ञ और भगवान का ही स्मरण किया है। यह मानना ही उपर्युक्त है। सतगुरु से जो कुछ कबीर ने कहा है वह किसी व्यक्ति विशेष का संकेत नहीं प्रत्युत कबीर की गुरु सम्बन्धी विचारधारा है।

निधन : हिन्दी साहित्य जगत में कबीर का निधन भी विवादास्पद है। प्रसिद्ध निधन तिथियाँ इस प्रकार हैं–सं० १५०५, सं० १५७५, सं० १५३६, सं० १५४६, सं० १५५२ तथा सोलहवीं शताब्दी का प्रथम चरण। इनमें से प्रथम चार के आधार निम्नलिखित चार दोहे हैं –

"संवत पन्द्रह सौ औ पाँच, सौ मगहर कियो गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पौन में पौन।"

× × ×

"संवत पन्द्रह सौ पचहत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकदसी, रसो पौन में पौन।।"

× × ×

"संवत पन्द्रह सौ उन्हत्तर हाई।
सतगुरु चले उठ दसा ज्याई।।" धर्मदास–द्वादस पद

× × ×

"पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीनो गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पवन में पौन।" भक्तमाल की टीका

इन छः मतों में से अंतिम का उल्लेख परशुराम चतुर्वेदी ने किया है। अनन्तदास की "परचई" के अनुसार कबीर की आयु १२० वर्ष की हुई थी। यदि यह तिथि सत्य मान ली जाय और कबीर की जन्मतिथि भी १४५५ या ५६ प्रामणिक हो तो इस गणना के अनुसार कबीर की निधन तिथि १५७५ ही मानी जाती है। इससे कबीर के सिकन्दर लोदी, गुरुनानक और रामानन्द के समकालीन होने में कोई आपत्ति नहीं रहती। इससे जीवन की अन्य घटनाओं से भी सामन्जस्य बैठाया जा सकता है। निश्चित एवं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में सोलहवीं शताब्दी का प्रथम चरण कबीर की निधन तिथि मानना समीचीन न होगा।

देशाटन : देशाटन ज्ञान–अर्जन का अच्छा साधन है। संत महात्माओं से मिलने तथा ज्ञान–अर्जित करने की प्रबल आकांक्षा कबीर में थी। यही कारण है कि जीवन के अधिकांश भाग को काशी में व्यतीत करते हुये भी कबीर समय–समय पर यत्र–तत्र देशाटन भी करते थे। कबीर ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों को स्पष्ट भी किया है। उनके मगहर जाने तथा वहीं पर शरीर त्याग की बात भी प्रसिद्ध है।

पर्यटक की दृष्टि बडी सारग्राही होती है। इसके प्रमाणस्वरुप कबीर का नाम लिया जा सकता है। कबीर के स्वयं के उल्लेख से, प्रचलित जनश्रुतियों एवं ऐतिहासिक–साहित्यिक ग्रन्थों से यह निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश देशान्तरों में भ्रमण किया था। इससे इनका उद्देश्य केवल "सत्य" की खोज ही रहा है। कबीर ने अपनी यात्राओं का संकेत निम्नलिखित पद में दिया है।

"वृन्दावन ढंढ़यो, ढोढ्यो हो जमुना के तीर।
राममिलन क़े कारने जन खोजत फिरे कबीर।।"

इसके अतिरिक्त कबीर के मानिक पुर, कड़े, और झूसी जाने के भी संकेत मिलते हैं। गोमती तीर निवासी पीताम्बर पीर से मिलने कबीर जाते थे। कबीर की उक्तियों से इसका परिचय मिलता है। कबीर मंडौर, पंडरपुर, जगन्नाथ पुरी आदि स्थानों की यात्रा का भी अनुमान होता है।

"कबीर हज काबे होइ तोइ गइआ केती बार कबीर"

इससे उनके मक्का–मदीना की यात्रा का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त "बन बन फिरौं उ़दासी" "फ़ाटे दीदे मैं फिरौं नजर न आवै कोई।" आदि कबीर के वाक्यों से उनकी भ्रमण लालसा तथा सत्यानुसन्धान की तीव्र उत्कंठा का पता चलता है।

सम्भवतः अपनी प्रारम्भिक यात्रायें उन्होंने जिज्ञासु के रूप में किया हो और ज्ञान प्राप्ति के उपरांत स्वमत प्रचारार्थ देश–विदेश घूमे हों।

ज्ञान वैराग्य और साक्षात्कार : संत कबीर में विरक्त भाव जागा और वह वन–वन भटकते रहे, परन्तु उन्हें वे कष्ट वन में भी मिले तो उन्हें घर त्यागना व्यर्थ प्रतीत हुआ। कबीर तथ्य से अवगत हो वास्तविक विरक्त के रूप में घर में ही जीवन व्यतीत करने लगे। कबीर की ये साखियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत हैं–

"घर तजि बन बाहर कियो बास, घर बन देख्यो दोऊ निरास।
जहाँ जाऊं तहाँ लोग सन्ताप, जरा भरम कौ अधिक विदाय।।
कहै कबीर चरम ताहि बदा, घर में घर दे परमात्मा।।"

वह शरीर से नहीं मन से वैरागी थे। कबीर का समग्र साहित्य इस बात का प्रमाण है। कबीर समाज के व्यवहारिक ज्ञान की नहीं पराविद्या की प्राप्ति के लिये आतुर थे। वह सब प्रकार के साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों से मुक्त थे। कबीर को इस विद्या की जो कुछ भी प्राप्ति हुई, वह केवल बहुश्रुत होने तथा आत्मानुभव एवं विवेक के कारण हुई थी। कबीर विचारशील साधक थे, वह समझते थे कि वेद, पुराण, कुरान आदि सभी धर्मग्रन्थ कुछ पूर्वाग्रह पैदा करते हैं और सच्चे तत्व ज्ञान में व्यक्ति को उलझा देते हैं। इस दृढ़ धारणा के कारण ही कबीर ने तत्व ज्ञान की प्राप्ति करने में सब स्थानों से लेने की उदारता के साथ ही किसी भी धर्म से अपने को बांधने का समभाव अपना लिया था। कबीर साधक और योग थे। ज्ञान योग के साथ तो वे नाद योग, सुख योग, लय योग आदि के साधक भी रहे होगें। ये सभी उनके लिये तत्व ज्ञान के साधन थे। कबीर मूलतः ज्ञानी भक्त थे। उनका सम्पूर्ण साहित्य इस बात का प्रमाण है।

कृतियाँ : कबीर ने अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में स्वयं कहा है कि–"मसि कागद छुयो नहिं कलम गह्यो नहिं हाथ।" अतएव यह निश्चित है कि कबीर ने अपने उपदेश–साखी, सबद, रमैनी पद आदि को स्वयं लिपिबद्ध न किया होगा। जिस प्रकार महाकवि सूर के पदों का लेखन उनके भक्त शिष्यों, अनुयायियों ने किया, उसी प्रकार कबीर वाणी का संरक्षण उनके शिष्यों द्वारा किया गया होगा। कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें अक्षर–ज्ञान भी नहीं था। कारण कि हिन्दी वर्णमाला के सम्पूर्ण अक्षरों को एक–एक करके लिखी हुई "बामन आखरी" नामक कृति को देखकर यह कहा जा सकता है कि वह साक्षर थे। उनके पास अनुभव सिद्ध ज्ञान था। यह अर्जित ज्ञान कबीर ने सत्संग एवं पर्यटन द्वारा प्राप्त किया था।

कबीर की प्राप्त सम्पूर्ण रचनायें स्फुट पदों, साखियों, रमैनियों या अन्य प्रकार की कविताओं के रूप में हैं। इसमें कुछ गेय और छोटी हैं, जिन्हें सरलता से कंटस्थ किया जा सकता है। गेय साहित्य में समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। अतएव आज प्राप्त कबीर साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अपने मूल रूप में यह ऐसा ही रहा होगा। बहुत सम्भव है कालान्तर में विचार और शैली साम्य के आधार पर अज्ञात कवियों की रचनायें भी इनकी रचनाओं के साथ संग्रहीत की गई हों। इसीलिये कबीर की रचनाओं का संग्रहीत रूप –

बीजक : कबीर के संग्रहीत ग्रन्थों को देखकर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह किसने किया होगा। ऐसा विश्वास है कि सर्वप्रथम संवत् १५२१ में कबीर के एक शिष्य धर्मदास ने इनकी कविताओं का संग्रह "बीजक" नाम से किया था। इसके पश्चात् सिक्खों के धर्मग्रन्थ "गुरु ग्रन्थ साहब" में कबीर की रचनाओं के रूप में लगभग सवा दो सौ पद एवं ढाई सौ श्लोक व साखियाँ संग्रहीत की गई थीं। "बीजक" और "गुरू ग्रन्थ साहब" की भाषा की तुलना करने पर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "बीजक" में गुरू ग्रन्थ साहब की अपेक्षा भाषायिक नवीनता है। डॉ० रामकुमार ने बीजक की अपेक्षा "गुरू ग्रन्थ साहब" में संग्रहीत कबीर के वचनों को अधिक प्रामाणिक माना है।

कबीर ग्रन्थावली : काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा कबीर का दूसरा संग्रह "कबीर ग्रन्थावली" प्रकाशित किया गया है। इसका आधार बाबू श्यामसुन्दर दास को मिली संवत् १५६१ में लिखी गई एक प्राचीन हस्त लिखित प्रति है। इसमें लगभग ५० साखियाँ और पाँच पद गुरु ग्रन्थसाहब के ही समान हैं। शेष लगभग ७५० साखियाँ तथा ४०० पद ऐसे हैं जो अन्य रचनाओं से भिन्न हैं। परन्तु आजकल विद्वानों को उक्त संवत् १५६१ वाली प्रति की प्रामाणिकता के विषय में संदेह होने लगा है। इस संदेह का कारण कबीर ग्रन्थावली की भाषा है। कबीर बनारस के रहने वाले थे, उनके जीवन का अधिकांश समय वहीं व्यतीत हुआ। इसलिये उनके काव्य की भाषा पूर्वी हिन्दी होनी चाहिये, किन्तु ग्रन्थावली की भाषा अधिकांशतः पंजाबी है। इस सम्बन्ध में **स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास जी** का विचार है– *"बहुत सम्भव है कि कबीर के किसी पंजाबी शिष्य ने कबीर की रचनाओं का संग्रह करते समय पंजाबी शब्दों की ही भंरमार की हो।"*

अन्य संग्रह : उपर्युक्त संग्रह के अतिरिक्त प्याना में संवत् १८५५ की लिखी एक हस्तलिखित प्रति मिली है जो प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार कबीर की कुछ रचनायें रज्जव जी के "सर्वगी" और "पंचबाजी" नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी संग्रहीत है। कबीर की बहुत पीछे लिपिबद्ध की गई और रचनाओं का प्रकाशन "वेलवेडियर प्रेस प्रयाग" से हुआ है। "गुरू ग्रन्थ साहब" के आधार पर डॉ० रामकुमार वर्मा ने संत कबीर का सम्पादन किया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय द्वारा सम्पादित "कबीर वचनावली" ने अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा अर्जित की है। उपर्युक्त सभी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। संत कबीर की सम्पूर्ण रचनायें "साखी" ,"सबद", "सलोक", "बानी", "वचन", "उपदेश" कही जाती हैं। इन्ही के आधार पर कबीर के विभिन्न संग्रहों का विभिन्न नाम रख दिया गया है। ये समस्त पद भजनों के रूप में गेय रचनायें हैं। इन्हीं में उनकी उल्टवासियां भी हैं। इनकी रमैनी का प्रचार केवल कबीर पंथियों तक ही सीमित है। रमैनियों के संग्रह को "बावन आखरी" तथा "बीजक" में एक इसी प्रकार के संग्रह को "संग्रह चौंतिसी" कहा गया है।

"कबीर की समाज–सुधार भावना"

प्रश्न–१. कबीरदास मूलतः आध्यात्मिक क्षेत्र के कवि न होकर सामाजिक क्षेत्र के क्रान्तिकारी सुधारक हैं। इस कथन की समीक्षा कीजिये। अथवा

मात्र कविता करना ही कबीरदास के जीवन का मुख्य उद्देश्य था वरन् काव्य के माध्यम से परिस्थितिवश उन्होंने समाज सुधार का बीड़ा उठाया था। इस कथन की स्पष्ट समीक्षा कीजिये। अथवा

'कबीरदास एक समाज सुधारक कवि थे।' इस कथन को सिद्ध कीजिये।

उत्तर – संत कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे संक्रान्ति युग में हुआ जब उत्तर भारत में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं विविध सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध अधिक था। उत्तर भारत में ही हिन्द–मुसलमान ये दो बड़ी जातियाँ निवास करती थीं। इन दोनों

ही में अपने आचार–विचारों, रीति–रिवाजों, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में दृढ़ता एवं क्रूरता विद्यमान थी। जिसके परिणामस्वरूप दोनों जातियाँ परस्पर संघर्षरत थीं। ईष्या द्वेष, वैमनस्य का बोलबाला था। परस्पर समझौते की प्रवृत्ति नहीं थी। उस समय हिन्दू एवं मुसलमान धर्म के ठेकेदार भोली–भाली जनता को बहकाकर अनेकानेक पाखडो, वाह्याचारों, अन्ध विश्वासों एवं मिथ्या आडम्बरों में फंसाये रखते थे और अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुये पारस्परिक मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या–द्वेष को प्रश्रय देते थे। इस प्रकार के संकीर्ण विचार उस समय समाज का सन्तुलन बिगाड़ रहे थे। कुरीतियों और कुप्रथाओं का बाहुल्य था। धार्मिक अव्यवस्था बड़ी चिन्तनीय थी। रुढ़िवादी विचारधारा पनप रही थी। अतएव उस समय किसी ऐसे महात्मा या धर्म प्रवर्तक अथवा सामाजिक नेता की आवश्यकता थी जो दोनों धर्मों, सम्प्रदाय में व्याप्त अन्तर्विरोधों का अध्ययन करके उनसे ऊपर उठकर बुराईयों को दूर कर सके। हिन्दू मुसलमान दोनों में समता स्थापित कर सके। साथ ही सामाजिक अव्यवस्था मिटाकर उसे सुन्दर एवं सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित कर सके।

कबीर अपने समाज के सजग प्रहरी थे। उन्होंने तत्कालीन अव्यवस्था, आडम्बर प्रियता, अंहकार प्रियता, रूढ़िवादिता तथा मिथ्याचारों का खुलकर विरोध किया और उन्हें दूर करने का बीड़ा उठाया।

कबीर के समय में हिन्दू धर्म एवं हिन्दू समाज के भीतर पौराणिक धर्म सम्बन्धी परम्परायें प्रचलित थीं। जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू जनता पौराणिक आचार–विचार, सम्पन्न धार्मिक कृत्यों में लीन रहती थी। पूजा–पाठ, यज्ञानुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि का बोलबाला था, परन्तु उनके पृष्ठ में अन्तर्निहित तत्ववाद उनकी दृष्टि से पूर्णतयः विलुप्त हो चुका था। उस समय धर्म के नाम पर मिथ्या प्रदर्शन ही था। पुराणपंथी पंडित और कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपने यजमानों को ठगते थे। वे तत्वज्ञान से रहित उल्टे–सीधे कर्म कराने वाले अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित थे। वाह्याचारों में जनता को लीन रखकर भ्रमित कर रहे थे। कबीर ने इन बुराइयों का सशक्त विरोध किया। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

"साधो पांड़े निपुन कसाई
बकरी मारि भेड़ि को धाये दिल में दरद न आई।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देव पुजाई।
आतम मारि पलक बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊंचे कुल रहिये, समा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई मांगे, हंसि आवै मोहिं भाई।"

हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय एवं अनेक मत मतान्तर थे। शैव, शाक्त, वैष्णव, योगी यती, नाथपंथी, तांत्रिक, जैनी, बौद्ध, निरगुनिया आदि। सभी दुराचारी थे, माँस मदिरा का सेवन करते थे। व्यभिचार और अनाचार में उनकी आस्था थी। कबीर ने उन सभी मतावलम्बियों की विभिन्न क्रियाओं एवं उपासना पद्धतियों का उल्लेख करके उनके कुकृत्यों का विरोध करके जनता को उनसे सचेत किया यथा –

"इक पढ़े पाठ एक भ्रमै उदास, इक नगन निरन्तर रहै निवास।
इक जोग जुगति तन होहिं खीन, ऐसे राम नाम संग रहै न लीन।

इक दूहि दीन, एक देहि दान, इक करै कलापी सुरापान।
सब मदमाते कोऊ न जाग, संग ही चोर घरै मुसन लगा।।"

इस प्रकार कबीर ने इन सभी साधु सन्यासियों, योगी यतियों, ऋषि, मुनियों आदि के आडम्बरों का विरोध किया। माला धारण करना, केश मुड़वाना इनका विरोध किया। यथा –

"माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुवा तो चहुं दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं।"

× × ×

"केसन कहा मुड़ाइया जो मूड़ौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये जामे विषय विकार।।"

तथा–"छापा तिलक बनाइ के दग्ध्या लाक अनेक।" इस प्रकार कबीर ने इस आडम्बरों को मिथ्या सिद्ध किया। ये मिथ्याडम्बर किसी सन्त के प्रमाण नहीं हैं। पूजा पाठ का उपहास कबीर ने इन शब्दों में किया है–"पापी पूजा बैसि करि, भखै मांस मद दोइ।।" इतना ही नहीं हिन्दुओं में पूजा के नाम पर फैली अनेक मिथ्या परम्पराओं का खुल कर विरोध किया, यथा–"पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार" कहकर मूर्ति पूजा का खण्डन किया। इसमें कबीर के मुस्लिम धर्म का संकेत स्पष्ट है। अवतार वाद का खण्डन यह कर किया–"ना दसरथ घर औतरि आवा।" "तीरथ गये ते बहि मुये बूड़े पानी न्हाय।" कहकर तीर्थाटन का विरोध किया है। "अन को त्यागै, मन नहिं हटकै पारन करै संगोती।" कहकर व्रत उपवास का विरोध किया। इस प्रकार बड़ी निर्भीकता के साथ कबीर ने हिन्दू जाति में व्याप्त नाना धार्मिक विश्वास जो आडम्बर मात्र थे। उनका विरोध किया।

मुसलमानों में भी अनेकानेक आडम्बर व्याप्त थे, कबीर ने इनकी भी कड़ी आलोचना की। इस्लाम धर्म के अनुयायी कबीर की दृष्टि में तुर्क कहलाते थे। इस मत के ठेकेदारों को काजी मुल्ला, शेख, दरवेश आदि नामों से पुकारा है। केवल दिखावे के लिये हज़ करने वाले शेख कहलाये, नमाज पढ़ने वाले, झूठी बन्दगी करने वाले को, तथा खुदा की इबादत करने वाले, केवल स्वाद के लिये गोहत्या करने वाले को काजी नाम से पुकारा। मस्जिद पर चढ़कर अजाँ देने वाले मुल्ला कहलाये। कुरान पढ़कर जनता का मन बहलाने वाले मौलवी कहलाये। इन सभी को कबीर ने वास्तविक धर्म से शून्य पाया तथा इन्हें मिथ्याचारी एवं सीधी–सादी जनता का प्रवंचक सिद्ध किया। कबीर की अनेक साखियां एवं पद वाह्य आडम्बर के उपहास, भर्त्सना रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। यथा –

"दिन भर रोजा धरत हौ, रात हनत हौं गाय।"

इसमें व्रत उपवास का खण्डन है।

"बकरी पाती खात है, ताकी खैंची खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिनके कौन हवाल।।"

यहाँ पशुवध का विरोध है।

"कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाय।
ता पर मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।" तथा
"जो रे खुदाय मसीत बसतु हैं ऊपर मुलूक कहि केरा।"

इसमें ईश्वरोपसाना के नाम पर फैले वाह्याचार पर व्यंग्य किया गया है। इस प्रकार कवि ने बड़े कटु शब्दों में व्यंग्य प्रहार किया है। यही कारण है कि कबीर की ये कटु उक्तियाँ नीरस एवं रूखी हैं, परन्तु इनमें सहानुभूति एवं सच्चाई भरी हुई है। वस्तुतः कबीर ने बड़ी सच्चाई से दोनों धर्मों एवं जातियों की बुराईयों को उनके सामने प्रस्तुत किया है।

कबीर मात्र कटु आलोचक ही नहीं हैं अपितु एक सच्चे समाज सुधारक भी हैं। उनकी इस आलोचना में संतुलित समदृष्टि एवं अद्‌भुत सुधार भावना भी विद्यमान है। कबीर ने जो कुछ कहा है निष्पक्ष होकर ही कहा है उनके कथन में निर्द्वन्द्वता है –

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू आपन करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
बेसया के पावन तर सोवै या देखौ हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई।
खाला के संग बेटी ब्याहै घर ही मा करै सगाइ। ......
......कहै कबीर सुनौ भई साधौ कौन राह हुइ जाई।।"

कबीर का लक्ष्य दोनों ही मिथ्या मार्गियों को उचित राह पर लाने का ही रहा है। छुआछूत का विरोध एवं ऊँच–नीच की भावना को बुरा बताया है। हिन्दुओं में व्याप्त वर्ण व्यवस्था का उपहास करके मानव मात्र की एकता एवं समानता पर जोर दिया है। इतना ही नहीं–"सो हिन्दू सो मुसलमान जाका दुरुस्त रहै ईमान" कहकर कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिसका ईमान दुरुस्त है, जो अपने धर्म पर सत्य के साथ आरूढ़ है वही हिन्दू या मुसलमान है। पाखंडी एवं मिथ्याचारी व्यक्ति न हिन्दू है न मुसलमान। कबीर ने मिथ्याचारों का विरोध कर उसके स्थान पर सत्य एवं शुद्ध आचरण का भाव पैदा किया है। कबीर का कथन है–"एक ज्योति से सब जग उपज्या कौन भला कौन मंदा।" तथा "एक ज्योति से सब उत्पन्न कौन बाम्हन कौन सूदा।" इस प्रकार कबीर ने जातियों एवं अर्न्तजातियों के मध्य व्याप्त नाना कुरीतियों को, भेदभाव को मिटाकर ऐक्य स्थापन पर बल दिया है। वह सच्ची मानवता के पुजारी थे। कबीर के विचार इस प्रकार है–"भूला भरमि परै जिनि कोई, कोई हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।" तथा "हिन्दू तुरक की एक राह है सतगुरु इहै बताई। दोनों में अभिन्नता का भाव जागृत किया है।

कबीर ने सम्पूर्ण समाज में व्याप्त वैषम्य का विरोध करके उसमें साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परोपकार, सेवा, क्षमा, दान, धैर्य, अहिंसा, आदि का प्रचार करके शुद्ध आचरण एवं सात्विकता की वृद्धि पर जोर दिया है। मिथ्याडम्बर एवं पाखण्डों का विरोध करके आन्तरिक साधना एवं अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया है। पशुवध का विरोध करके जनसामान्य में अहिंसा एवं सहिष्णुता का भाव भरा है। व्रत, उपवास आदि का विरोध करक सहज साधना एवं सरल जीवन व्यतीत करने का प्रचार किया है। सामाजिक अधःपतन का उल्लेख करके समाज में नैतिकता एवं सदाचार की प्रतिष्ठा की है। सामाजिक एवं धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति आक्रोश व्यक्त करके समाज को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। धर्म एवं ईश्वर की एका का प्रतिपादन करके हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य स्थापित किया है। निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार करके जनता

में व्याप्त कटुता एवं विषमता को दूर करते हुए मानव मात्र के ह्रदय में आध्यात्मिकता का बीजारोपण किया है। तत्कालीन समाज एवं धर्मों की तीक्ष्ण एवं कटु आलोचना करके जनता को सत्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया है। इस प्रकार कबीर ने अपनी मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा तत्कालीन धार्मिक पाखण्डों एवं सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करके जन सामान्य को सरल जीवन सत्याचरण सात्विक व्यवहार, पारस्परिक एकता, समता आदि की आरे उन्मुख करने का जो प्रशंसनीय कार्य किया है, इसी के फलस्वरूप वे एक उच्च कोटि के समाज सुधारक कहलाते हैं।

"कबीर की भक्ति–भावना"

प्रश्न ३. कबीरदास की भक्ति–भावना का विस्तृत वर्णन कीजिये। अथवा कबीर का वास्तविक व्यक्तित्व भक्त रूप में ही निखरकर आया है। सिद्ध कीजिये।

उत्तर – भारतीय भक्ति धारा के अन्तर्गत भक्ति के दो रूप मिलते हैं–सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति। कबीर निर्गुण भक्ति मार्ग के अनुयायी थे और उनकी भक्ति पर वैष्णवी प्रभाव था। कबीर रामानन्द के शिष्य थे, उनके ह्रदय में वैष्णवो के प्रति अत्यधिक आदर था। कबीर का कथ्य है–"मेरे संगी द्वै जणा एक वैष्णव एक राम।" तथा "कबीर धति ते सुन्दरी जिनि जाया बैसनो पूत" वह जननी धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है। वैष्णवों के प्रति इतना आदर होने के कारण ही कबीर ने शास्त्रों की कठोर निन्दा की है। यथा–"साकत बामंण मति मिले, वैसनो मिले चण्डालै" अर्थात ब्राह्मण यदि शास्त्र धर्मी है तो कबीर उससे मिलना पसन्द नहीं करते। किन्तु यदि कोई चाण्डाल वैष्णव भक्त है तो वह कबीर को प्रिय है। कबीर की यह वैष्णव भक्ति एक ओर तो भारतीय अद्वैतवादी भावना से प्रभावित थी तो दूसरी ओर इस पर मुसलमानों के एकेश्वरवाद का प्रभाव था। इसका मूल कारण यह था कि कबीर एक ऐसी भक्ति धारा को प्रभावित करना चाहते थे, जिसे सभी वर्ग एवं वर्ण के व्यक्ति बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर सकें।

भक्ति के क्षेत्र में, हिन्दी जगत में जिस समय कबीर का प्रादुर्भाव हुआ हिन्दू–मुसलमानों में पारस्परिक विरोध था। अनेक सम्प्रदायों एवं मत–मतान्तरों में कटुता एवं वैमनस्य की भावना प्रबल थी। अतएव कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा इन जातियों एवं सम्प्रदायों में व्याप्त वैर विरोध को मिटा कर ऐसी सामान्य भक्ति का प्रचार करना चाहते थें, जिसमें राम–रहीम, कृष्ण–करीम, महादेव–मुहम्मद की एकरूपता स्थापित हो, और एक ईश्वर की उपासना की जाय। ईश्वर की एकता के आधार पर ही मानव की एकता सम्भव थी। कबीर की निर्गुण भक्ति की विशिष्टतायें इस प्रकार हैं –

परमात्मा की एकता : ही कबीर की भक्ति का मूल आधार है। यद्यपि मुसलमानों में एक ही ईश्वर को माना गया है, और हिन्दुओं में भी विभिन्न देवी देवताओं के अन्तर्गत एक ही ब्रह्म "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" अथवा एक ही शक्ति की मान्यता रही है। मुसलमान

उस ईश्वर को केवल संसार का नियामक, शासक एवं अधिपति मानते हैं। हिन्दुओं में पंचदेवोपासना या बहुदेववाद का प्रचार होने के कारण उस ईश्वर को राम–कृष्ण, शिवशक्ति, गणेश आदि रूपों में देखा गया है। कबीर ने दोनों ही वादों के विरुद्ध एक ईश्वर को महत्त्व दिया। उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार है, घट घट वासी है, सर्वत्र रमा हुआ है, यथा –

"पावक रूपी राम है घटि घटि रह्या समाई"

कबीर ईश्वर सम्बन्धी भावना में एकता की स्थापना करते हुये एक निराकार की उपासना जिसका कोई रूप कुरूप नहीं है, पर जोर देते हैं, उसे सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, सर्वोपरि एवं परात्पर ब्रह्म कहकर बुद्धि मन वाणी से सर्वथा अगम एवं अगोचर बताते हैं यथा–

"हमरै राम रहीम करीमा कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि विसंभर एकै और न दूजा कोई।"

इस प्रकार कबीर ने सभी में एकता स्थापित किया और परमात्मा की एकता पर जोर दिया है।

संसार से विरक्ति : हरि भक्ति और सांसरिक आसक्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकती। हरिभक्त को संसार से विमुख होना ही पड़ेगा। माया के बन्धन काटने की क्षमता भगवद्भक्ति में ही है और भक्त की तो माया चेरी बन जाती है। काम क्रोध राग द्वेष नष्ट हो जाते हैं। यथा –

"राम भजे सो जानिये, जाके आतुर नाहिं।
सत संतोष लिये रहै, धीरज मन माहिं।।

भगवान के प्रति विश्वास आवश्यक है यह संसृति के मूल को नष्ट करता है।

"भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु, मुक्ति नहीं रे मूल।।"

इस संसार सागर से निस्तरण भाव भगति से ही हो सकता है –

"जब लग भाव भगति नहिं करिहौं,
तब लग भवसागर क्यों तरिहौं।।"

कबीर की दृष्टि में भाव भक्ति कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ है। कर्म द्वारा जीव बन्धन में पड़ जाता है, केवल निर्मल मन से भक्ति करने पर ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव है।

'कर्म करत बद्धे अहमेव, पाथर को करहिं सेव।
कहु कबीर भगति कर पाया, भोले भाय मिले रघुराया।।"

भक्ति के बिना योग निरर्थक है –

"हिरदय कपट हरि सूं नहीं साची।
कहा भयो जे अनहद नाची।।"

और ज्ञान तो भक्ति बिना पंगु ही है, यथा –

"ब्रह्मे कथि अन्त न पाया, राम भगति बैठे घर आया।
कहु कबीर चंचल मत त्यागी, केवल राम भगति निज भागी।।"

माधुर्य भाव : भक्ति प्रेम स्वरूपा है। कबीर की भक्ति भावना में माधुर्य भाव की सुन्दर झलक है। कारण कि कबीर ने भक्ति में विभोर होकर आत्मा–परमात्मा के पारस्परिक प्रेम का, वियोग का जो वर्णन किया है, उसमें माधुर्य भाव की भक्ति का सौन्दर्य देखा जा सकता है। भले ही उस विरह जन्य तीव्रता पर सूफी मत का प्रभाव हो, किन्तु उसमें भारतीय माधुर्य भावना का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। कबीर की आत्मा अपने निर्गुण निराकार परब्रह्म के लिये विरह व्यथित नारी की भाँति व्याकुल होती है यथा –

"वासुरि सुख नां रैणि सुख, नां सुख सुपिने माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छाँहि।।
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुक मिलन कूं मन नाहीं विश्राम।।"

कबीर की आत्मा एक विरहिणी की भाँति राम के दर्शनों के लिए उठती है और दुर्बल होने के कारण गिर पड़ती है तथा उसे अपने प्रिय के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा है। कबीर की विरहिणी आत्मा तो यहाँ तक तैयार है कि–

"या तन जारु मसि करु, ज्यूं धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति पै राम दया करे, बरसि बुझावै अग्गि।।"

इस तरह विरहिणी की भाँति अत्यन्त व्यथित आत्मा का चित्रण करके कबीर ने माधुर्य भाव की भक्ति को अपनाया है। कबीर की आँखों में अपने प्रिय राम की राह देखते–देखते झांई पड़ गई है, जिह्वा पिउ पिउं की रट लगा कर शुष्क हो गई हैं। यथा–

"आखंणियां झांई पड़ा पंथ निहारि निहारि।
जीभणियां छाल्या पड़्या पीऊ पुकार पुकारि।।"

कबीर की यह प्रेमाभक्ति "राम मोरे पिउ मैं राम की बहुरिया" माधुर्य भावना से ओत–प्रोत है। इसमें ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेमभाव विद्यमान है। निष्कर्षतः निर्गुण ब्रह्म के प्रति भक्ति भावना प्रकट करते हुए भी कबीर ने उसमें माधुर्य भाव का सुन्दर समावेश किया है।

नाम स्मरण : नाम स्मरण नवधा भक्ति का एक अंग है। इसे कबीर ने अपनी भक्ति–भावना में अत्यधिक स्थान दिया है। वैसे तो निर्गुण एवं सगुण सभी कवियों ने ईश्वर से बढ़कर ईश्वर के नाम को महत्व दिया है–"मोरे मत बड़ नाय दुहू ते" किन्तु निगुण भक्त कवियों ने नाम स्मरण को सार तत्व ही कहा है। यह राम नाम इतना अमूल्य है कि इसकी समतुल्यता में कुछ देने के लिये कबीर के पास नहीं है।

"राम नाम के पटतरे देबे को कछु नाहिं।
क्या गुरु ले सन्तोषिये रही हौंस मनमांहि।।"

इस नाम स्मरण में वाह्याडम्बर को कोई स्थान नहीं है। अन्तर की शुद्धता अनिवार्य है -

"माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख मांहि।
मनवा तो चहुं दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं।"

कबीर की दृष्टि में नाम स्मरण तभी सार्थक है जब भक्त अपने आराध्य का स्मरण करते करते उसी का हो जाय, अहं का उसमें लेश भी न हो-

"तू तू करता तू भया, मुझ में रही न मैं
वारी फेरी बलि गई, जिस देंखू तित तैं।।"

साधक की आत्मा उद्‌बुद्ध होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर ले और उसे अन्तर वाह्य उसी एक ब्रह्म का रूप दिखाई दे।

"लाली मेरे लाल की जित देखुं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।"

कबीर का यह नाम स्मरण सन्तों की दृष्टि में "अजपा जाप" है। इस प्रकार कबीर ने नाम स्मरण का महत्व बताते हुये निष्काम भाव से राम नाम जपने पर बल दिया है।

गुरु की महत्ता : कबीर ने अपनी भक्ति भावना में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया है। वह ईश्वर से भी बढ़कर है। कारण कि ज्ञान देने वाला, ब्रह्म से साक्षात कराने वाला, अन्तर के अन्धकार को मिटाने वाला एक गुरू ही तो है। यथा –

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दिया बताय।।"

× × ×

"गुरु कुम्हार शिस कुम्भ है गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै बाहर बहै चोट।।"

गुरु में अनन्त दृष्टि प्रदान करने की शक्ति होती है, और वह अनन्त एवं असीम ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। ऐसा सतगुरु शिष्य का पथ प्रशस्त करता है। यथा –

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया अनंत हिरवावण हार।।"

सगुरु की सेवा ही भक्ति का अनिवार्य अंग है। यथा –

"गुरु सेवा ते भगति कमाई" कबीर ने स्वयं गुरु सेवा द्वारा ही भगवद् भक्ति की प्राप्ति की ओर संकेत दिया है।

सदाचार : कबीर की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है सदाचरण। सदाचार की प्राप्ति के लिये कबीर ने आचरण को शुद्ध करने का आग्रह किया है। यह तभी सम्भव है जब साधक अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर लें। कनक और कांमिनी का परित्याग होना चाहिये।

"एक करन अरु कांमिनी दुर्गम घाटी दोय" कहकर इन्हें भक्ति मार्ग की विघ्न बाधा ही कबीर ने कहा है। आचरण की शुद्धता के अभाव में मिथ्याचारी की कबीर ने इन शब्दों में भर्त्सना की है।

"कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूं मैं ध्रम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखे भ्रम।।

सदाचारी में आवश्यक है कि कथनी और करनी में ऐक्य हो। यदि ऐसा नहीं है तो –

"कथणी कथी तौ क्या भया, जे करणीं न ठहराई।
काल बूत के कोट ज्यूं देखतही ढहि जाई।।"

सदाचारी ईश्वरीय अनुकम्पा से पुरस्कृत होता है।

"जैसी मुख ते नीकसे, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल।।"

शुद्ध आचरण के लिये कबीर के मतानुसार यह आवश्यक है कि कुसंगति से दूर रहा जाय, और सत्संग की महत्ता को प्रातिपादन किया है।

"कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूर गंवाइये, देसी सुमति बताइ।।"

सत्संगति में ही ब्रह्म प्रचार की सरस्वती प्रवाहित हो सकती है।

मध्यम मार्ग का अनुसरण : कबीर ने वाह्याडम्बरों का खंडन किया है। वह यह नहीं चाहते कि ईश्वर की प्राप्ति हेतु घर द्वार का त्याग किया जाय। निराहार रहकर कठोर तप किया जाय। वह तो भगवान बुद्ध की भांति मध्यम मार्ग के अनुगामी हैं। इसीलिये उन्होंने जप तप व्रत उपवास आदि का खंडन किया है। इस कर्मकाण्ड में उलझ कर भक्ति साधना अधिक दिन नहीं चल सकती और यदि विषय वासनाओं में लीन रहकर भगवद्भक्ति की जायगी तो मन विषयों में लीन रहने के कारण भगवान की ओर उन्मुख नहीं होगा। इसीलिये जितेन्द्रियता तथा विरक्ति पर कबीर बल देते हैं। एक गृहस्थी में रहकर भी वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है और दूसरा एंकात वन में जाकर भी विरक्ति से शून्य विषयासक्त गृहस्थ बना रहता है। यथा—"एक बैरागी गृह में इह गृही में वैराग।" इस प्रकार मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए घर में रहकर ही ईश्वर भक्ति में लीन होने का आग्रह किया है।

प्रपत्ति भाव का अनुगमन : प्रपत्ति का शाब्दिक अर्थ है—अनन्य भक्ति। पुराणों में प्रपत्ति के छः अंग माने गये हैं — १. अपने इष्ट देव के अनुकूल गुणों को धारण करने का संकल्प, २. उसके प्रतिकूल गुणों का परित्याग, ३. अपने इष्ट देव द्वारा रक्षा का विश्वास, ४. रक्षक का गुणगान, ५. आत्मसमर्पण, ६. दैन्य।

कबीर की भक्ति में ये षट् विधा भक्ति विद्यमान है। कबीर—काव्य में—पदों, साखियों आदि में उनके निर्गुण निराकार ब्रह्म का ही गुणगान है। कबीर ने षट् मनोविकार काम क्रोध मद लोभ, मोह, मत्सर आदि ईश्वरीय विरोधी इन अवगुणों को त्यागने को ही कहा है। "अब मोहि राम भरोसे तेरो" कहकर कबीर ने अपने आराध्य के प्रति विश्वास व्यक्त किया है। "राम नाम ततसार, कबीर राम ध्याइ ले, राम कहे भल होइगा।" आदि कहकर उन्होंने अपने रक्षक राम के गुणों की महिमा का अत्यधिक वर्णन किया है। तथा "तन मन धन मेरा राम जी की ताई" कहकर कबीर ने अपने अराध्य के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण किया है। इसी प्रकार "माधौ कब करिहौ दाया" कहकर दैन्य का निवेदन किया है।

हठयोग का प्रभाव : कबीर की भक्ति—भावना हठयोग से प्रभावित हुई है। अपनी भक्ति तरंग में कबीर ने स्थान—स्थान पर इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, अष्टक आदि

का वर्णन किया है। साथ ही इनका सम्बन्ध भक्ति से स्थापित करते हुए अपने पदों में हठयोग और प्रेम भक्ति का अद्‌भुत समन्वय किया है। कहीं कबीर ने "अष्ट कमल दल चरखा डोले" कहा है तो कहीं "प्रेम भगति हिंडोलना सब सन्त करै विसराम" बताया है। जिसमें "चन्द्र सूर दोइ सम्भवाबंक नालि की डोर" पड़ी है। कहीं, "चन्द्र सूर दोइ तूबां करिहै चित चेतन की डांडी" तथा "सुषमन तन्ती बाजन लागी" "अहिं विधि त्रिष्णां छाड़ी" कहा है। इसी प्रकार "सुत्री मंडल में घर किया" तथा गगन मंडल सींगी बाजै" बताया है तथा कभी "अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीबै" कहकर चन्द्र नाड़ी से झरने वाले अमृत का वर्णन किया है। निष्कर्षतः कबीर की निर्गुण भक्ति में हठयोग का भी समन्वय है।

सारांशत : कबीर की भक्ति–भावना पर विहंगम दृष्टि डालें तो स्पष्ट है कि इनकी भक्ति में निष्काम भाव की प्रधानता है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास व्यक्त हुआ है। वाह्याडम्बरों का खंडन एवं अन्तर की शुद्धि कबीर की भक्ति की आवश्यक शर्त है। मनसा, वाचा कर्मणा अपने आराध्य का ध्यान एवं महत्व स्वीकारना। शुद्धाचरण पर बल, मूर्तिपूजा एवं अवतार का खण्डन। नामस्मरण द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार करने का आग्रह। भगवान का गुण कीर्तन को महत्व, भक्त का आत्मसमर्पण अपने आराध्य के प्रति। ये कबीर की भक्ति के आवश्यक अंग है।

साथ ही सत्संगति, साधु सेवा, जितेन्द्रियता, संयम, वैराग्य, अनासक्त भाव, माया एवं तृष्णा का त्याग, गुरु महत्ता एवं सेवा, माधुर्य भाव आदि का महत्व प्रतिपादित करते हुये सहज भाव से दीनता एवं विनम्रता के साथ भगवान की भक्ति को अपनाने का आग्रह है।

"कबीर की दार्शनिक विचारधारा"

प्रश्न ४. कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा का वर्णन कीजिये। अथवा कबीरदास एक महान दार्शनिक थे। इस कथन को सिद्ध कीजिये।

उत्तर – "दर्शन" शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। इसमें आत्म साक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार का भाव भरा है। भारतीय दर्शन का भी यही उद्देश्य है। जीव को माया के बन्धन से छुड़ा कर ब्रह्म के दर्शन कराना। जिससे उसे परम सुख व शांति प्राप्त हो सके। यही भारतीय दर्शन का मूलमंत्र है।

कबीर भारतीय भक्ति धारा में निर्गुण शाखा के ज्ञानी भक्त कवि हैं। इन्होंने जो ब्रह्म विचार व्यक्त किये हैं वही इनका काव्य या साहित्य है। निर्गुण निराकार के आराधक संत कबीर के ब्रह्म के अथवा परम तत्व के प्रति, जीवन जगत के प्रति, जीवात्मा एवं सृष्टि और माया के प्रति क्या विचार है इससे अवगत होना आवश्यक है। कबीर के यही तात्विक विचार उनकी दार्शनिक विचारधारा है। जिसे उन्होंने अत्यंत सीधे सादे सरल भाषा में लोक जीवन के सम्मुख अभिव्यक्त किया है। कबीर के इन विचारों से अशिक्षित वर्ग पूर्णतः प्रभावित हुआ है।

यहाँ संक्षेप में कबीर के ब्रह्म जीव जगत माया एवं सृष्टि के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत हैं।

ब्रह्मः कबीर ने एक ऐसे ब्रह्म की कल्पना की है, जो निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे है–"निर्गुन सगुन से परे है, तहाँ हमारो ध्यान।" जो अरूप है, जिसके मुख मस्तक नहीं पुष्प वास से भी पतला है उनका ब्रह्म इतना सूक्ष्म है–

"जाके मुख माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप।
पहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।।"

वह अलख निरंजन है, मन वाणी से अगम्य है। यह नाम रूप से सर्वथा रहित, अनन्त ज्योति स्वरूप है। वह केवल अनुभव गम्य है। कबीर ने अपने ब्रह्म को तत् परमतत्व, अलख, अरूप, अनाम, सबद, सहज ज्ञान, अनन्त, उन्मन, हरि, राम, शिव, ब्रह्म आदि कितने ही नामों से पुकारा है, तथापि कोई भी उसका वास्तविक बोध नहीं करा सकता। कबीर का परम ब्रह्म अपूर्व तेज स्वरूप है। सूर्य चन्द्र के बिना ही वह अनन्त प्रकाश युक्त रहता है। उसके तेज का वर्णन करना सर्वथा असम्भव है, वह तो मात्र अनुभवगम्य है। कबीर कहते हैं –

"पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उमान,
कहिबे कूं शोभा नहीं देख्या ही परवान।।"

वह सत्य स्वरूप पिण्ड–ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। वह तो केवल एक बाजीगर के समान स्वांग करता रहता है। यथा–

"बाजीगर डंक बजाई, सब खलथ तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रमै अकेला।।"

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में वह ब्रह्म परिव्याप्त है और सृष्टि उसमें लीन है। यथा– "खालिक खलक खलक महि खालिक पूरि रह्यो सब ठाई।।" उनका ब्रह्म "आपण मांझे आप छिपाई।" वह परम तत्व घट–घट में व्याप्त होकर भी सर्वोपरि है।

जीव : कबीर ने जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं स्वीकार किया है। अपितु उसे परमतत्व का ही एक लघु रूप माना है। जीवात्मा के प्रति कबीर की दृष्टि इस प्रकार है–

"ना इहु मानुस ना इहु देउ, *ना इहु जती कहावै केठ।।*
ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इहु माइ न काहू पूता।।....
....कहै कबीर यह राम को अंसु, जिमि कागद पर मिटै न मंसू।"

जीवात्मा परमात्मा का ही तत्व है, वह परमात्मा इस जीवात्मा में निरन्तर अद्वैत भाव से विद्यमान रहता है। माया के कारण जीवात्मा परमात्मा से पृथक प्रतीत होता है। इसी माया के वशीभूत होने के कारण जीव संसार में भटकता रहता है। किन्तु जैसे ही यह भ्रम दूर होता है जीवात्मा अपने विशुद्ध रूप में ब्रह्म को पहचानती है, अपने को ब्रह्म समझने लगती है। फिर उसे " हम सब मांहि सकल हम मांही" का आभास होने लगता है और "हम थे और दूसरा नाही" की अनुभुति होने पर पूर्ण अद्वैत भाव में अधिष्ठित हो जाता है। कबीर ने जीवात्मा–परमात्मा के अद्वैत भाव को अनेक स्थान पर प्रदर्शित किया है। यथा–

"पानी ही ते हिम भया हिम हू गया बिलाय।
कबिरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय।।"

इसी प्रकार बूंद और समुद्र का उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म का साक्षात् होने पर आत्मा परमात्मा में और परमात्मा आत्मा में लीन हो जाती है—दोनों में कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता –

"हेरत हेरत हे सखी रह्मा कबीर हेराय।
बूंद समानी समुंद्र में सो कत हेरी जाय।।"

ये थे कबीर के जीवात्मा सम्बन्धी विचार।

जगत : जीवात्मा की ही भांति जगत का भी कोई स्वतंत्र अस्तित्व कबीर ने नहीं स्वीकारा। इसकी सत्ता केवल माया के कारण ही प्रतीत होती है। यह दृश्यमान जगत मिथ्या है। केवल इस पर नाम रूप का आरोप होने के कारण यह सत्य सा आभासित होता है। "ब्रह्म सत्यं जग मिथ्या" का दर्शन ही कबीर को मान्य था। यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत घड़े के समान है, जो ब्रह्म रूपी जल में रखा है तथा भीतर बाहर वही ब्रह्म रूपी जल भरा हुआ है। किन्तु घडे के फूटते ही जल बाहर के जल में समा जाता है। यथा–

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कह्मो गिदानी।।"

इसलिये यह अनित्य संसार कबीर की दृष्टि में "दुनिया भाड़ा दुख का" है। जगत की नश्वरता की ओर संकेत करते हुए कबीर ने इसे सेंवर के फूल के समान कहा है। जो क्षण भर में विनष्ट हो जाता है –

"ऐसा यहु संसार है जस सेंवर का फूल।
दिवस चारि का पेषणा बिनसि जाइगा काल्हि।।"

इस प्रकार कबीर ने अद्वैतवाद वेदान्त दर्शन की भांति विवर्तवाद का आश्रय लेकर माया के अध्यारोप द्वारा जगत की स्थिति स्वीकार की है। ब्रह्म का ज्ञान होते ही माया का आवरण हट जाता है और केवल ब्रह्म की ही सत्ता सर्वत्र रह जाती है।

माया : कबीर ने माया को परमब्रह्म की एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति माना है, जो विश्वमयी नारी के रूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण जीवों को ठगती रहती है। माया का ठगिनी के रूप में चित्र प्रस्तुत किया है कबीर दास जी ने–

"माया महा ठगिनी मैं जानी।
तिरगुन फांस लिये कर डोले बोले मधुरी बानी।।"

इस माया का परित्याग करने के लिये कोई कितना ही यत्न करे किन्तु विजय नहीं मिलती। यह माया जल थल सभी में व्याप्त है और नाना रूप धारण करके जप तप और योग साधना में विघ्न डालती है। यह बड़ी डाइन है—काम, क्रोध. मद, लोभ, मोह, ये पाँच इसके पुत्र हैं। जो जीवों को सदैव पीड़ित करते रहते हैं। नाना प्रकार नाच नचाते हैं। इसे कबीर दान ने "रमैया की जोरु" कहा है जिसने संसार को लूट लिया है। "रमैया की दुलहिन लूटा बजार।" वेदान्त में इसे ब्रह्म की भांति अनिर्वचनीय कहा गया है। कबीर ने इसे—"आंगधि बेलि अकास फल", "अणव्यावर का दूध", "ससा सींग की धुनिहड़ी", "रमै बांझ का पूत" आदि कहकर इसकी अनिर्वचनीयता की ओर संकेत किया है। साथ ही कबीर

इसकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह भी बताते हैं–"आगे आगे दौ चले, पीछे हरिया होइ" तथा–

"जे काटौ तो डह डही, सीचो तो कुम्हलाइ।
इस गुणवन्ती बेलि का, कुछ गुण कहा न जाइ।।"

माया साधक के पथ पर अनेक विघ्न बाधायें डालती हैं। जीव मुक्त तभी होता है जब उसे सतगुरु की कृपा मिलती है और माया से मुक्ति मिलने पर ही जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन होता है।

"कबीर माया मोहनी, जैसे मीठी खांड़।
सतगुरु की किरपा भई, नहीं तो करती भांड़।।"

इस प्रकार कबीर ने माया को वेदान्त की अविद्या की ही भांति निरुपित किया है। जो त्रिगुणात्मक है, संसार को भ्रमित करने वाली है तथा जो कनक और कामिनी के रुप में प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मा से पृथक करती रहती है।

निष्कर्षत : कबीर के दार्शनिक विचारों पर अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण कबीर ने ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत सभी की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। माया की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए जगत के मिथ्यात्व का उल्लेख किया है। किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से जगत को शंकराचार्य की भांति ही सत्य माना है। परन्तु है यह सृष्टि मिथ्या ही है। पानी के बुलबुले की भांति तत्काल नष्ट हो जाने वाला है यह जीव।

"पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात।।"

कबीर के दार्शनिक विचार उपनिषदों से भी प्रभावित हुये हैं। वृहद्धारण्यक उपनिषद की "आत्मा वा अरे दृष्टव्य" की भांति ब्रह्म को बाहर की अपेक्षा भीतर ही खोजने का आग्रह किया है। "मों को कहा ढूढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास मा" "अयमात्मा ब्रह्म" की भांति कबीर ने आत्मा को ही परमात्मा बताया। दोनों में एकत्व स्थापित किया है। "अहं ब्रह्मास्मि" की भांति कबीर ने प्रत्येक जीव को परमात्मा का प्रतिरूप घोषित किया है। छांदोग्य उपनिषद की भांति "सर्व खल्विदं ब्रह्म" की भांति कबीर ने सम्पूर्ण दृश्य जगत को ब्रह्म बताया है।

"कबीर का रहस्यवाद"

प्रश्न ५. रहस्यवाद का क्या अर्थ है ? कबीरदास के रहस्यवाद का निरूपण उदाहरण देकर कीजिये।

उत्तर – रहस्यवाद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों ने भिन्न–भिन्न रूप में दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार– *"जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है"* उसे रहस्यवाद कहते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार–"चिन्तन के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद का रूप पकडता है।" कबीर ग्रन्था. पृ० ५६। डॉ० रामकुमार वर्मा के

विचारानुसार–"रहस्वाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन हैं, जिनमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त, निश्च्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता है। कबीर का रहस्यवाद–पृ० ७। महाकवि जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में–अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा "अहम" का "इदम" से समन्वय कर देना ही रहस्यवाद कहलाता है। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ६६। महादेवी वर्मा के विचार में–"अपनी सीमा को असीम तत्व में खो देना" ही रहस्वाद है। डॉ० गुलाबराय के मतानुसार–"तत्व ज्ञान जब भावनापर्ण अनुभूति का विषय बन जाता है, तभी रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। असीम और असीम के सम्बन्ध में गूंगे के गुड़ की सी अनिवर्चनीयता रहती है, जो रहस्यमय हो जाती है। हिन्दी काव्य विमर्श पृ० ४३।

उपरोक्त सभी परिभाषायें इस ओर संकेत करती हैं कि जब आत्मा दृश्यमान जगत में व्याप्त उस असीम से जो अगोचर एवं अगम्य है से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है तो रहस्यवाद कहा जाता है। यह भाव पूरक होता है तभी आचार्य शुक्ल ने कहा था–"चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है। यही कारण है कि एक रहस्यवादी कवि कभी तो उस अव्यक्त सत्ता को जानने की जिज्ञासा प्रकट करता है, कभी उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ आनन्दपूर्वक आँख मिचौली खेलता है। कभी उसके विरह में वियोग व्यथित होकर आकुलता का अनुभव करता है। इस प्रकार रहस्यवाद की परिधि में कवि के वह भावोल्लास "उस विराट सत्ता के प्रति" छलकते हैं जिनमें हर्ष विषाद विरह मिलन आदि सम्मिलित रहते हैं। साथ ही साधक अपनी सत्ता को उस असीम में लीन कर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है।

रहस्वाद के विभिन्न रूप : रहस्वाद के मूलतः दो भेद हैं –

१. भावनामूलक रहस्यवाद, और २. साधनामूलक रहस्यवाद।

भावना के माध्यम से जागी हुई रहस्यवादी की अद्वैत भावना में केवल आत्मा और परमात्मा की एकता की ही नहीं अपितु ब्रह्म और जगत की एकता की अनुभूति ही सर्ववाद है। पश्चिम में सर्ववाद के शैली और कीट्स जैसे रोमेन्टिक कवियों के दर्शन होते है। साधक सूफियों और ईसाई भक्तों की दृष्टि तो जीव और ब्रह्म के ऐक्य पर ही जमी रही। परन्तु, भाव क्षेत्र के सूफियों प्राकृति में भी परम सत्ता के सौन्दर्य के दर्शन किये।

त्रिवेणी–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

रहस्यानुभूति की भूमि : डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की केवल तीन भूमियाँ बताई हैं– प्रथम **जिज्ञासा** – इस प्रथम अवस्था में किसी तत्वज्ञ या सिद्ध गुरू की कृपा से साधक जीवात्मा में उस परमात्मा की प्राप्ति की तीव्र पिपासा जागती है। ज्ञान के मार्ग में वह अवस्था जिज्ञासा की है। इस अवस्था में ज्ञानी उस परम तत्व को, उसके स्वरूप को जानने के लिये विकल रहता है। पर रहस्यवादी मूलतः भावनात्मक एकता का साधक है। उसमें दार्शनिक के समान ज्ञान के संस्कार भी होते हैं, पर उसकी परमात्मा से एकता की इच्छा तथा अनुभूति बुद्धि की अपेक्षा हृदय की वस्तु अधिक है। इसलिये रहस्यवादी की

दृष्टि में यह अवस्था उस परम तत्व के दर्शन तथा उससे प्रेम प्राप्त करने की विकलता की अवस्था है। रहस्यवादी प्रधानता प्रेम के माध्यम से ही इस एकता को प्राप्त करना चाहता है। इसके लिये उसे दाम्पत्य, वात्सल्य में से किसी एक अथवा अनेक भावों का अपनी भावना पर आरोप करना पड़ता है। यह प्रेम जागृति की प्रथम अवस्था है। इस आध्यात्मिक प्रेम का सूत्रपात विरह की अवस्था से होता है।

दूसरी अवस्था **परिचय फना** की अवस्था है। इस अवस्था में उस परमतत्व का साक्षात्कार होता है। यह दर्शन और परिचय की अवस्था है। इस अवस्था में साधक को आत्मज्ञान की अवस्था है। पर रहस्यवाद की दृष्टि से तो अपने प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन से अभीभूत आत्म विस्मृति तथा प्रियतम में तन्मय होने की अवस्था है। साधक इस सौन्दर्य में तन्मय होकर अवाक रह जाना चाहता है, पर अभिव्यक्ति की आकांक्षा के संस्कारों की तीव्र प्रेरणा उसे विवश कर देती है। इस अभिव्यक्ति को प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है।

तीसरी और अंतिम **मिलन पूर्ण तादात्म्य** की अवस्था है। यही सिद्धावस्था है, जो ज्ञानी की जीवन्मुक्त अवस्था के समकक्ष है। इस अवस्था की अनुभूति है "बूंद बिलानी समुद में सो कत हेरी जाय" उसी में समुद विलाना बूंदे में भी है। यह पूर्णतयः कायापलट की अवस्था है। इस अवस्था पर पहुँचकर साधक को कण–कण में उसी परम तत्व का साक्षात्कार होने लगता है। उस समय "हरि रह्या सकल भरि पूरि" की अनुभूति जाग उठती है। ज्ञानी के लिये यही व्यापक चैतन्य की अनुभूति की अवस्था है। रहस्यवादी इसी को सर्ववादी की अनुभूति कहता है। यहाँ पर अभिव्यक्ति विरत हो जाती है। इस अवस्था की अभिव्यक्ति शब्दार्थ के द्वारा सम्भव नहीं है। साधक केवल इस अवस्था का संकेत भर कर पाता है। परिचय की अवस्था के आह्लाद की असीमता से ही इस अवस्था की अनुभूति की व्यंजना भर हो पाती है। रहस्यवादी की अनुभूति में एक बार मिलन के बाद विरह की सम्भावना नहीं है।

कबीर की रहस्यानुभूति : उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जब हम कबीर के रहस्यवाद पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि कबीर में रहस्यवाद की सभी स्थितियाँ विद्यमान थीं।

कबीर मूलतः ज्ञानी भक्त हैं। कबीर की अनुभूति अद्वैत वेदान्ती की है पर उस अनुभूति को कबीर ने प्रेम के स्वाद के लिये रहस्यवादी आवरण दे दिया है। प्रेमाभक्ति के जिस स्वरूप को कबीर ने अपनाया है उसी कारण उन्हें रहस्यवादी बनना पड़ा। पर कबीर को हम रहस्यवाद की सभी भूमियों में पाते हैं। वस्तुतः कबीर रहस्यवादी भूमि पर अद्वैत से आये हैं। उनका रहस्यवाद उपनिषदों के ऋृषियों का सा रहस्यवाद है, जो मूलतः अद्वैत की अन्तर्विरोधों में समन्वय करने वाली रहस्यात्मक अनुभूति है। कबीर ज्ञान के माध्यम से अद्वैत की भूमिका पर पहुँचे हुये संत हैं, पर उसकी अभिव्यक्ति प्रेम के माध्यम से करते हैं। सगुण ब्रह्म को स्वीकार न करने के कारण उनका यह भगवत्प्रेम रहस्यवाद की उपाधि में साकार हुआ है। इस प्रकार कबीर ने अद्वैत ज्ञान, प्रेम मूलक भक्ति तथा रहस्वाद के

मिश्रण से निर्गुण भक्ति का एक मौलिक रूप प्रतिष्ठित किया है। रहस्यवादी प्रेम को अपनाने से उनकी अद्वैतपरक निर्गुण भक्ति में वही सरसता आ गई है जो सगुण भक्ति के कवियों में थी।

कबीर ने सूफियों की तरह अपनी रहस्यवादी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये कथा रुपकों का प्रयोग नहीं किया है, प्रत्युत जीवात्मा–परमात्मा के प्रेम सम्बन्ध का सीधा चित्रण किया है। यह भी अद्वैत निष्ठा के कारण ही सम्भव हुआ है। प्रेम सम्बन्ध को साकार तथा अनुभवजन्य रूप देने के लिए कबीर को प्रतीकों, रुपकों और अन्योक्तियों का सहारा अवश्य लेना पड़ा है। पर ये प्रतीक इतने क्षीण हैं कि जीवात्मा–परमात्मा के प्रेम एवं मिलन की अनुभूमि को कुण्ठित नहीं कर पाते। वरन् इन प्रतीकों से इस आध्यात्मिक प्रेम को साकार होकर प्रतिबिम्बित होने का अवसर भर मिला है। इसमें लौकिकता की गंध मात्र भी नहीं। यह जायसी से उच्चकोटि की आध्यात्मिक अनुभूति है। कबीर के रहस्यवाद में तीन अवस्थायें–कबीर में भावनात्मक एवं साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। भावनात्मक रहस्यवाद के तीनों अवस्थायों–जिज्ञासा, परिचय और मिलन की गहरी अनुभूति के दर्शन कबीर में मिलते हैं। प्रथम अवस्था अनुराग के उदय की अवस्था है जो विकसित होकर विरह में परिणत हो जाती है। यह अनुराग गुरु कृपा से ही जागता है। गुरु की कृपा से कबीर के अनन्त लोचन खुल गये हैं और उन्हें अनन्त के दर्शन होने लगे हैं "लोचन अनंत उधारिया अनंत दिखावन हार" इस अनन्त के दर्शन से साधक में उस अनन्त के प्रति गहन अनुराग जाग जाता है। उस परम तत्व के एक झलक मात्र से कबीर का अन्तर आत्मविभोर हो उठता है। गुरु ने प्रसन्न होकर एक प्रसंग कहा जिससे प्रेम के मेघ बरस पड़े और कबीर के अंग–प्रत्यंग उस प्रेम रस में भीग गये।

"सतगुरु हम पर रीझि कर एक कह्या परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गये सब अंग।।"

इस प्रेम से केवल अंग ही नहीं भीगे वरन् अन्तर की बनराय हरी भरी हो उठी–

"कबीर बादल प्रेम का हम पर बरसा आय।
अन्तर भीगी आत्मा हरी भई बनराय।।"

अर्थात इस प्रेमानुभूति से सारा विश्व चेतन एवं आह्लादमय प्रतीत होने लगा। इसकी पूर्ण प्राप्ति तो मिलन में होगी। ऐसी स्थिति में साधक को संसार से विरक्ति हो जाती है। भक्ति और भगवान का प्रेम तत्व ही जगत का सार तत्व प्रतीत होने लगा है। सारा जगत विषय वासनाओं से जलता हुआ प्रतीत होने लगता है। इस विषयाग्नि को बुझाने के लिये केवल हरिस्मरण ही अवलम्ब हैं। यथा –

"कबीर चित्त चमकिया चहुंदिसि लागी आग।
हरि सुमिरन हाथूं घड़ा बेगे लेहु बेझाइ।"

परन्तु कबीर का यह प्रेम तो रसास्वादन का कार्य भर करता हें इससे कबीर के अन्तर में गहरी व्यथा जागती है। यह मिलन की उत्कट पिपासा से व्याकुल हो जाता है परन्तु आत्मा न परमात्मा को बुला ही पाती है न वहाँ पहुँच ही पाती है। उसकी वेदना इस साखी में दृष्टव्य है–

"आइन सकौ तुझ पै सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यौ ही जेहुंगे विरह तपाइ तपाइ।।"

कबीर की साखियों में "विरह कौ अंग" साधक की तीव्र व्यथा को चित्रित कर रहा हैं। यह तीव्र व्यथा चरम सीमा तक पहुँच जाती है और जीवात्मा अपने स्व को मिटाकर अपने प्रियतम के दर्शन करना चाहती है। यथा–

"इस तन का दीवा करौ, बाति मेल्हूं जीव।"
लोही सींचू तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव।।"

उत्तरोत्तर बढ़ती कबीर की व्यथा और उस भाग को बुझाने का कोई साधन कबीर को नहीं दिखता। कबीर को सारा संसार ही जलता प्रतीत होता है–

"विरह जलाई मैं जलूं जलती जलहरि जाऊं।
मैं देख्या जलहरि जलै, सेतो कहाँ बुझाऊं।।" तथा
"परबत परबत मैं फिरा, नैन गवायें रोय।
सो बूटी पाई नहीं, जाते जीवन होय।।"

परमात्मा के प्रति जागी प्रेमाग्नि में साधक की इन्द्रियों और उसके विषय भस्मीभूत से लगते हैं। कबीर को इनसे पूर्ण वैराग्य हो गया है। वह इन्ही इन्द्रियों को आगे मिलन की अवस्था में प्रेम रस में डूबी हुई अनुभव करता है।

कबीर में अनुराग, जागृति और विरह की अवस्था से ही अनुभूति की गहराई तथा तीव्रता के दर्शन होते हैं। जीवात्मा–परमात्मा के इस प्रेम की अभिव्यक्ति अधिकांशतः पति–पत्नी के सम्बन्ध से ही हुई है। क्योंकि इस अवस्था में ही सबसे अधिक मर्मस्पर्शिता तथा तन्मयता के दर्शन होते हैं। पर कबीर की प्रेमानुभूति में इस रूपक का आवरण इसी अवस्था में ही अत्यन्त क्षीण प्रतीत होता है। भावावेश की अवस्था में इस उपाधि का विस्मरण हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा के प्रेम की मर्मस्पर्शिता साक्षात्कृत होती है। पत्नी के रुपक में तो अधिकांश सखियां ऐसी हैं जिनमें पुलिंग का प्रयोग जीवात्मा के लिये हुआ हैं। यथा–"परबत परबत मैं फिर या" में ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की जीवात्मा पत्नीत्व के प्रति भी सजग नहीं है। जीवात्मा–परमात्मा न स्त्री है न पुरुष वह इन सबसे परे है। इसी चेतना से जीव और ब्रह्म के निरुपाधिक प्रेम का साक्षात्कार होता है। वह रति या वात्सल्य में से कुछ भी नहीं है। कबीर को ऐसे ही निरुपाधिक प्रेम का साक्षात्कार हुआ है। इसी प्रथमावस्था में कबीर ने पिता–पुत्र के सम्बन्ध के माध्यम से भी इस प्रेम का चित्रण किया है। यथा –

"पूत पियारो जगत को गौहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दै आपण गया भुलाइ।।"
डाली खांड़ि पटकि करि, अन्तरि रोस उवाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ।।"

जीवात्मा–परमात्मा के पारस्परिक प्रेम को व्यक्त करने की ये सब मात्र उपाधियाँ हैं और इनकी उपयोगिता केवल उपहित को व्यक्त कर देने भर की हैं। कबीर में इस प्रेम

की निरुपाधिता आगे की अवस्थाओं में क्रमशः बढ़ती गई है, जो स्वाभाविक भी है। परिचय और मिलन की अनुभूति में यह द्वैतता मिटती सी जाती है। रहस्यवादी की दृष्टि में इन अवस्थाओं में ससीम का जीवात्मा का, असीम में परमात्मा में विलय होता जाता है। और ऐसी स्थिति में रहस्यवादी कबीर की पूर्ण निष्ठा अद्वैत में ही होती है। "कबीरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय।"

यह स्पष्ट है कि कबीर में रहस्यवाद की प्रथम अवस्था से ही साधनात्मक रहस्यवाद के भी दर्शन होने लगते हैं। साधनात्मक रहस्यवाद का भी क्रमशः विकासशील रूप कबीर में है। इसी प्रसंग में कबीर ने कुण्डलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ने का वर्णन किया है। यथा –

"समंदर लागी आग, नदिया जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रुषा चढ़ि गई।।"

यह साधना की प्रथम अवस्था है। कबीर के अन्तःकरण को प्रेम ने निर्मल किया है और फिर साधनात्मक अनुभूतियाँ जगा दी हैं। फिर यह साधना भी प्रेम की पोषक बन गई है।

परिचय की अवस्था : इसे सूफी "फना" कहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि से यही आत्म ज्ञान की अवस्था है। यह रहस्यवाद की दूसरी अवस्था है। रहस्यवाद में अपनाये हुये वर–वधू वाले रूपक में यह विवाह के समकक्ष की अवस्था है। इसका वर्णन इस रूप में कबीर ने किया है –

"दुलहिन गावो मंगलचार
हमरे घरि आये राजा राम भरतार।
तन रति करि मै मन रति कहिहौं पांचौ तत्व बराती
राम देव मोरे पाहुने आये मैं जोवत महमाती।।"

इसमें वधू आत्मा के पति परमात्मा के प्राप्त करने के उल्लास का वर्णन है। किसी एक रूपक में बांध कर उल्लास का वर्णन कबीर को रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ है। कारण कि निश्चित रूपक की सीमाओं में बंध जाने के बाद उस असीम के निरूपाधिक प्रेम का वर्णन नहीं हो सकता था। पति संग जागी सुंदरी को जैसे आश्चर्यचकित कर देने वाले कौतुक और आह्लाद के अनुभव होते हैं वैसे ही अनुभव परिचय या फला की अवस्था में जीवात्मा को होते हैं। इस आह्लाद का चित्रण कबीर ने इन शब्दों में किया है –

"कबीर तेज अनन्त का मानो ऊगी सूरज ऐणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीण तेणि।।"

एक ओर कबीर ने अनेक सूर्यों की श्रेणी के अनन्त तेज के दर्शन के तुल्य बताकर प्रकट किया है तो दूसरी ओर इस प्रकाश दर्शन को "रवि ससि बिना" बताकर उसकी अलौकिकता का संकेत कर दिया है। इस स्थल पर सेवक स्वामी का रूपक कबीर ने अपनाया है।

"कौतु दीन देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाही दास।।"

इससे स्पष्ट है कि कबीर ने रूपकों को आरोप मात्र मानकर अनुभूति के निरूपाधिक प्रेम की व्यंजना की है। उस अलौकिक की आनन्दानुभूति को शब्दार्थ की उपाधि में बांधा नहीं जा सकता। इसीलिये लौकिक अनुभूति के रूपक द्वारा उसे व्यंजित किया गया है। यह काव्य की उत्कृष्ट शैली है। परिचय की इस अवस्था में प्राप्त अपूर्व आनन्द को वह इन शब्दों में व्यक्त करते हैं –

"पारब्रह्म के तेज का कैसा है उमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं देख्या ही परमान।।"

इस परिचय की अवस्था में ऐसा भान होता है कि जीव परमात्मा में एकाकार हो रहा है और परमात्मा जीव में। प्रेमी प्रिय में और प्रिय प्रेमी में समा जाता है, यह विलय की प्रक्रिया है जो रहस्यवाद की प्रमुख वस्तु है। इस विलय की आनन्दमयी अवस्था का चित्र प्रस्तुत है।

"घट माहैं अवघट लह्या, औघट माहै घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट।"

× × ×

"मन लागा उनमन्न सों, गगन पहूंचा जाई।
देख्या चाँद बिहूंणा चांदिणा, तहं अलख निरंजन राई।।"

विरह की ज्वाल अब शांत हो गई है "ज्वाला तै फिर जल भया बुझी बलंती लाई।" विरहावस्था का ज्वलित प्रेम अब शीतल हो गया है और अब व्यथा ही आनन्द बन गई है और परस्पर प्रगाढ़ आत्मीयता का भाव आ गया। कबीर की इन अनुभूतियों की तन्मयता निस्संदेह रस की अवस्था का भी अतिक्रमण कर गई है। वाह्य चमत्कार से शून्य कबीर की यह वाणी रसाक्षिप्त हृदय की अभिव्यक्ति है और जो पाठक को ब्रह्मानन्द सहोदर तक ले जाती है। और एक झलक उसके आगे भी दे देती है। जो निरूपाधिक प्रेम की झलक है। इस प्रकार यह रहस्यवाद भक्ति और ज्ञान के माध्यम से प्राप्त काव्यानन्द तो निश्चय ही ब्रह्मानन्द का सजातीय हैं। उसका एक स्तर काव्यानन्द का भी रहता है पर ज्ञानी भक्त और रहस्यवादी जब इस अवस्था का भी अतिक्रमण कर जाता है तो ब्रह्मानन्द का ही स्वाद लेता है। कबीर को भी अमृत वर्षा का सा आनन्द प्राप्त हो रहा है।

परिचय की अवस्था में कबीर स्वयं ज्ञानी भक्त और रहस्यवादी के अपूर्व मिश्रण से प्रतीत होते हैं। कबीर की साखियाँ "परचा कौ अंग" में ऐसी साखियाँ हैं जो एक ओर कबीर के भावनात्मक रहस्यवादी स्वरूप को स्पष्ट करती है तो दूसरी ओर उनके आत्मज्ञानी स्वरूप को। इस अनुभूति का आधार अद्वैत वेदान्त हैं। कबीर ने जीवात्मा के परमत्व के रूप में परिणत हो जाने की अनुभूति का साक्षात्कार पानी और हिम के उदाहरण द्वारा समझाया है। यथा –

"पानी ही ते हिम भया हिम हू गया बिलाय।
कबिरा जो था सोई भया अब कछु कहा न जाय।।"

इससे स्पष्ट है कि पानी रूपी आनन्द तत्त्व का मध्य की अवस्था में हिमरूप

जीवात्मा में परिणत होना तथा पुनः निरूपाधिक आनन्द रूप में परिणत हो जाना, इसका कारण माया है। परन्तु यह माया जीव के आनन्द रूप को किसी भी अवस्था में नहीं ढंक पाती। पानी तीनों ही अवस्थाओं में पानी ही है। जीवात्मा भी सर्वदा तीनों अवस्थाओं में विशुद्ध आनन्द रूप परम तत्व ही है।

मिलन की अवस्था : रहस्यवाद की यह तीसरी अवस्था है। यही सिद्धावस्था है। ज्ञानी भक्त के लिये यही अपरोक्षानुभूति है। इस अवस्था में मैं और तू का भेद विलीन होने लगता है जब अहं त्वं में पूर्णतयः समाहित हुआ प्रतीत होता है। "मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है तेरा" का भाव ही जीव में जाग्रत हो जाता है। रहस्यवादी साधक की अनुभूति है – "बूंद समानी समुद्र में" और "समुंद समाया बूंद में" इसमें अहं और इदम् का अन्तर विलीन हो जाता है। "ब्रह्म रह्यो सकल भरि पूरि।" की अवस्था का भान होता है। कबीर कहते हैं कि मन का भ्रम मिट जाने पर मुझे भगवान का सहज साक्षात्कार हो गया है। भगवान सहज रूप में ही सामने खेलने लगते हैं। वही अकल सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त है। और कबीर उसी ब्रह्म में समा गये हैं –

"मन का भ्रम मन ही मैं भागा।
सहज रूप हरि खेलन लागा।
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल घट मांही।" तथा
"तन मन, मन तन एक समाना" और
"आतम लीन अखंडित रामा, कहैं कबीर हरि मांहि समाना।।"

इस अवस्था में रहस्यवादी की काया पलट सी हो जाती है। इस अवस्था में पहले का दुखमय संसार आनन्द में परिणत हो जाता है – सम्पूर्ण विषय ज्वाल शीतलता में बदल जाते हैं यथा –

"कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।
जिहि बैसन्दर जग जला, सो मेरे उदिक समान।।"

कबीर को इस अवस्था में मंगल की अनुभूति होने लगती है। शरीर और मन की सामान्य अवस्था संसार आनन्द में परिणत हो गई है। यथा –

"तन में होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि।।"

वस्तुतः सच्चे रहस्यवादी में इस अवस्था में ही सर्वात्यवाही चेतना की अनुभूति जागती है। इस अवस्था में कबीर को "ब्रह्म रह्या सकल भरपूरि" की साक्षात अनुभूति हो रही है। इस तीसरी अवस्था में तो कबीर में अद्वैती, भक्त और रहस्यवादी का समन्वय बहुत सुन्दर रूप में दृष्टिगत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर केवल पाश्चात्य या सूफी परम्परा के रहस्यवादी नहीं हैं वरन् उनमें भारतीय अद्वैत वेदान्ती के ज्ञान, वैष्णव भक्त के अनन्य प्रेम एवं प्रपत्ति, रहस्यवादी की भावनात्मक एकता की अनुभूति तथा योगियों के साधना जनित परमानन्द का अपूर्व समन्वय है। कबीर ने भगवान के निर्गुण निराकार रूप के प्रति निरूपाधिक प्रेम को रहस्यवादी साधना के माध्यम से साकार तथा हृदयस्पर्शी रूप बना दिया है।

"कबीर की विरहानुभूति"

प्रश्न ६. कबीरदास की विरहानुभूति की सोदाहरण समीक्षा कीजिये।

अथवा

कबीरदास ने अपने काव्य में विरहानुभूति का अप्रतिम वर्णन किया है। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – प्रेम विरह में ही परिपक्व होता है। विरहानुभूति के अभाव में प्रेमानुभूति अपूर्व है। कारण कि प्रेम की सच्ची कसौटी विरह ही है। सगुण मार्गी भक्त तो विरह साधना में ही भक्ति की चरम दशा मानता है। नारदीय भक्ति सूत्र में विरह तत्व को विशेष महत्व दिया गया है। साधकों ने विरह के मार्ग को कठिन एवं दुस्साध्य माना है। विरहाग्नि अत्यधिक दाहक और प्राणान्तक वेदना देने वाली होती है। सूफियों की प्रेम साधना का तो मूलाधार ही विरह है। कबीर नारदीय भक्ति भाव के साधक तो थे ही उन पर सूफियों की विरह भावना का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। सूफियों में तो सर्वप्रथम गुरू ही विरह का मंत्र देता है और आराध्य से मिलाने का यह प्रधान एवं एकमात्र साधन मानता है। संत कबीर के विरह में उपर्युक्त दोनों ही बातें मिलती हैं। कबीर अपने प्रियतम के दर्शन के पूर्व ही विरह में व्याकुल हो उठते हैं। यह विरह उनके गुरू की देन है –

"गुरु दाध्या चेला जल्या, विरह लागी आगि।
तिणका बपुरा अबर्‌या, गलि पूरे के लागि।।"

साथ ही कबीर को आराध्य से मिलाने वाला साधन मानते हैं।

"कबीर हंसणा दूरि करि, रोवण हों करि चित्त।
बिन रोये क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त।।"

विरह वाण लगते ही साधक अपने प्रिय से मिलने को व्याकुल हो जाता है –

"सतगुरु मार्‌या वाण, भरि धरि करि सूधी मूठि।
अंग उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि।।"

विरह तो वह भयंकर भुवंग है जिस पर कोई मंत्र काम नहीं करता। यथा –

"विरह भुवंगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोय।
राम वियोगी ना जियै, जियै तो बौरा होय।।"

और जब साधक का अन्तर विरह का निवास स्थल बन जाता है तो उसकी दशा बड़ी ही विचित्र हो जाती है। यथा –

"गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊंते पांगुल भया, सतगुरू मार्‌या बान।।"

विरह का महत्व : भक्ति भाव की साधना में विरह बड़ा महत्वपूर्ण है। साधक संसार के कोलाहल से दूर एकांत प्रिय केवल अपने प्रियतम के विरह सागर में निमग्न रहता है, और इस स्थिति में उसके समस्त विकास दूर हो जाते हैं। मन निर्मल एवं उदात्त हो जाता है। विरही सदैव प्रिय मिलन के लिये तड़पता है। पार्थिव से अपार्थिव प्रेम बड़ा सूक्ष्म तथा

शाश्वत होता है। उसमें विरही साधक अनवरत अपने प्रिय के लिये आकुल रहता है। कबीर विरही धासक की व्यग्रता को चकवी के विरह से भी अधिक कष्टकर मानते हैं।

"चकवी बिछुरी रैन की, आइ मिली परभात।
जे जन बिछुड़े राम सूं, ते दिन मिले न रात।।"

प्रेम विरह के द्वारा ही प्रादुर्भूत हुआ, और मिलन यात्रा का भी वह प्रथम सापोन है। कबीर तो अपने राम के अनन्य विरही हैं। कबीर कें अनेक पदों से यह ध्वनि तो निकलती है कि अंत में उनका राम से मिलन हो गया था परन्तु उस मिलन से पूर्व उन्हें विभिन्न दशाओं की वेदना सहनी पड़ी थी। विरहानुभूति के बिना साधक के अन्तर में प्रिय मिलन की उत्कंठा जाग्रत ही नहीं हो सकती। यही उत्कंठा विरही साधक को ब्रह्म से मिलाने में समर्थ होती है। इसी कारण कबीर कहते हैं –

"विरहा कहै कबीर सूं, तू जिन छाई मोहिं।
पाप ब्रह्म के तेज में, तहाँ लै राखौ तोहि।।"

यही आध्यात्मिक विरह साधक को सत्य स्वरूप ब्रह्म की खोज के लिये प्रेरित करता है और इसी प्रेरणा से वह साधना में प्रवृत्त हो जाता है।

कबीर उत्कृष्ट कोटि के साधक और शक्त थे। वह अपने प्रियतम राम के अनन्य विरही थे। इसी कारण हमें उनके काव्य में विभिन्न विरह दशाओं के उत्कृष्ट वर्णन मिलते हैं। कबीर द्वारा किया गया विरह की विभिन्न विरह दशाओं का चित्रण प्रस्तुत है –

(१) चिन्ता : विरह की पहली दशा है चिन्ता। प्रिय का कोई संदेश न मिलने पर तथा दर्शन न होने पर प्रेमी हृदय में अपने प्रिय से मिलने की तीव्र उत्कृंठा होती है। शास्त्रकारों ने इसे चिंता का नाम दिया है। प्रिय राम के न मिलने पर कबीर व्याकुल हैं साथ ही उन्हें यह आशंका है कि राम से उनका मिलन हो सकेगा या नहीं –

"चकवी बिछुरी रैन की, आई मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम सूं, ते दिन मिलै न राति।।"

(२) व्यग्रता : यह विरह की दूसरी दशा है। प्रतिक्षण प्रिय वियोग में तड़पता हुआ प्रिय को ही साधक पुकारता रहता है –

"बासारि सुख नां रैणि सुख, ना सुख सुपिने मांहि।
कबीर बिछुर्‌या राम सूं, ना सुख धूप न छांहि।।"

(३) रुदन : विरहाग्नि में जलता हुआ साधन रात दिन अश्रु प्रवाहित करता है और अपने प्रिय को पुकारता है –

"नैया नीभार लाइया, रहर बहै निसि जाम।
पपीहा ज्यूं पिउ पिउ करै, कबहुँ मिलहुगे राम।।"

(४) उद्वेग : इस स्थिति में साधक को संसार के सभी सुख अप्रिय हो जाते हैं। कबीर की भी यही दशा हो गई है –

"मांहि उदासी माधौ चाहै, चितवत् रैनि बिहाइ।
सोज हमारी स्यंध भई है, जब सोऊंतब खाइ।।"

(५) **विस्मृति :** इस दशा में साधक कबीर का मन अपने आराध्य की स्मृति में अपनी सुध–बुध खो बैठता है। वह अपने शरीर वस्त्र आदि की चिन्ता त्याग वह सब कुछ करने को उतावला हो उठता है –

"फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराऊं।
जेहि जेहि भेष हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊं।।"

(६) **जागरण :** प्रिय विरह में प्रेमी को नींद नहीं आती। प्रिय की प्रतीक्षा में रात दिन जागता है। कबीर के शब्दों में उसकी यह स्थिति हो गई है –

"आंषड़िया झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाल्या पड़या, राम पुकारि पुकारि।।"

(७) **उन्माद :** तीव्र विरहानुभूति में साधक पागल सा हो उठता है।

"विरह भुवंगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोइ।
राम वियोगी न जियै, जिये तो बौरा होय।।"

(८) **मरण :** प्रिय वियोग इतना असहनीय हो जाता है कि साधक व्याकुल हो मरण की कामना करने लगता है –

"जिस मरने कै जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूं कब देखिहूं पूरन परमानन्द।।"

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की विरहानुभूति उच्च कोटि की थी। कबीर का विरहाकुल हृदय मार्मिक उद्‌गारों के रूप में प्रकट हुई है। सूफी विरह पद्धति से भी आंशिक रूप से प्रभावित होने के कारण कबीर के विरह में कहीं कहीं वीभत्सता के दर्शन होते हैं। यथा –

"सब रग तंत रबब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साईं कै चित्त।।"

उनके विरह में सूफी और वैष्णव भक्त दोनों का ही सम्मिलित प्रभाव है। वैष्णव भक्तों से प्रभावित होकर वे कहते हैं – ***"जिन पर गोविन्द बीछुड़े, तिनको कौन हवाल।"***

और सूफियों से प्रभावित होकर कहते हैं –

"आंषड़ियां प्रेम कसाइयाँ लोग जानै दूखड़ियाँ।
साईं अपने कारणों, रोइ रोईं रातड़ियाँ।।"

कबीर की विरहानुभूति की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि उनकी विरह वेदना सूफियों की विरह वेदना के समान विश्व के कण–कण में परिव्याप्त न होकर केवल उन्हीं तक सीमित है। वह व्यष्टि मूलक है। ऐकान्तिक है। इस विरह से क्रमशः साधक का आत्म परिष्कार होता जाता है। और अन्त में उसे ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। अपनी विरह साधना द्वारा अन्त में कबीर सम्पूर्ण सांसारिक द्वन्दों से मुक्त हो अपने प्रियतम राम में अन्तर्लीन हो जाते हैं –

मन का भ्रम मन ही थैं भागा, सहज रूप हरि खेलन लागा।
मैं तै, तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट माहीं।
जब थै इन मन उनमन जाना, तब रूप न रेख तहाँ लै बाना।।

तन मन मन तन एक समाना, इन अनमै माहिं मन माना।
आतम लीन अखंडित रामां, कहै कबीर हरि माहिं समाना।।"

इस प्रकार कबीर की विरहानुभूति उनके हृदय का परिष्कार कर उन्हें सम्पूर्ण प्रकार की द्वैत भावना से मुक्त कर आराध्य राम के साथ उनका शाश्वत तादात्म्य करवा देती है।

"कबीर का काव्य सौष्ठव"

प्रश्न ७. कबीर की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिये। अथवा

कबीर ने अपने काव्य सौष्ठव के माध्यम से उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। सिद्ध कीजिये। अथवा

कबीर के दार्शनिक एवं समाज सुधारक दोनों ही रूप कवि के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – कबीर हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल १३७५ से १७०० तक के निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा अथवा संत काव्य धारा के श्रेष्ठ कवि थे। उनकी रचनाओं का अध्ययन कर कुछ लोग यह विचार करते हैं कि कबीर के काव्य में सौष्ठव कहाँ ? उन लोगों की धारणा के अनुसार कबीर तो समाज सुधारक अथवा दार्शनिक चिन्तन करने वाले थे। जन जीवन में जाकर वह उन्हें उपदेश दिया करते थे, उनमें अधिकांशतः नीति वाक्य या दार्शनिक कथ्य ही होता था। काव्य की उक्तियां नहीं। किन्तु कबीर के काव्य के सम्बन्ध में ऐसी विचारधारा भ्रामक है। कबीर का संत हृदय था, लोकमंगल की भावना से द्रवीभूत था, उनका यह द्रवीभूत हृदय उपदेशों में प्रवहमान हुआ। कबीर मूलतः मानव के आध्यात्मिक कल्याण के उपदेष्टा थे। इसीलिये कबीर दार्शनिक सुधारक हैं, परन्तु कबीर की लोकमंगलाशा बुद्धि की नहीं वरन् हृदय की वस्तु है, उसी प्रकार उनके आध्यात्मिक विचार हृदय से ही अनुभूत और साक्षात्कृत हैं। इस प्रकार कबीर के दार्शनिक एवं समाज सुधारक दोनों ही रूप कवि के रूप में ही अभिव्यक्त हुए हैं। कबीर की बानी, साखियाँ, पद आदि सम्पूर्ण साहित्य मूलतः उनके कवि व्यक्तित्व की मुखर अभिव्यक्ति है। कबीर की साखियाँ और पद केवल तथ्य कहने वाली सामान्य कोटि की रचनायें ही नहीं हैं वरन् अधिकांश वास्तव में "रस–काव्य" की श्रेणी में आते हैं। निस्संदेह कबीर में उत्कृष्ट कोटि का अनुभूति सौष्ठव तो है पर कला और शिल्प सौष्ठव की दृष्टि से वह विदग्ध एवं चमत्कार प्रिय कवियों से कम हैं। प्रथम कबीर की स्वयं काव्य सम्बन्धी धारणा से अवगत होना अनिवार्य है।

काव्य सम्बन्धी धारणा : कबीर के काव्य–सौदर्न्य का साक्षात्कार करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी काव्य सम्बन्धी धारणा से अवगत हो जायें। कबीर आदि निर्गुण भक्तों ने अपनी आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति का रसास्वादन किया है। वे कवि कर्म के अहंकार को लेकर चलने वाले कवियों की निंदा करते हैं। कबीर स्वयं अपनी रचना को गीत न कहकर "ब्रह्मविचार" कहते हैं। यथा –

"तुम जनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आराम साधन रे।।" **कबीर ग्रन्था. पद सं. ५**

और इस ब्रह्मविचार को भी उन्होंने सहज रूप में कहकर समझा दिया है। इससे उनके काव्य की मार्मिकता और सहजता तथा अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता स्पष्ट हो जाती है। कबीर स्वयं अपनी रचना को समझने की प्रक्रिया समझा देते हैं – "आपहिं आप विचारिये, तब केता होई आनन्द रे।" कबीर के काव्य का आनन्द कल्पना की उड़ान नहीं है वह तो भीतर ही भीतर चिन्तन, मनन और चर्वणा का आनन्द है। कबीर काव्य में रस में अवगाहन है, कल्पनाकृत चमत्कार की उत्तालतरंग नहीं। यह तो हुई कबीर काव्य के स्वरूप के सच्चे मूल्यांकन की धारणा।

कबीर–काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी एक धारणा है – वह है लोकमंगल की भावना। कबीर अपनी आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति का एक ओर आनन्द लेते हैं, तो दूसरी ओर लोक कल्याण की भावना भी उतनी ही प्रबल है। यह भी उनके काव्य का प्रेरक तत्व है। लोक मंगल के लिए तो उसकी शब्दार्थमय बाह्य अभिव्यक्ति नितांत आवश्यक है। लोक जीवन के हित को ध्यान में रखने के कारण ही उनकी अभिव्यक्ति अहंकार से शून्य, सहज, प्रसाद गुण सम्पन्न एवं मधुर हो गई है। काव्य प्रेरणा को कबीर दैवीय–प्रेरणा मानते हैं –

"हरि जी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौ सागर में जीव है, जे कोई पकड़ै तीर।।"

कबीर ग्रन्था. उपदेश कौ अंग १

इस प्रकार कबीर का सम्पूर्ण काव्य कवि की आत्मानुभूति का सहज उद्रेक है।

काव्य विषय : कबीर काव्य का मूल–विषय आध्यात्मिक अनुभूति है। उस परम तत्व के सौन्दर्य का दर्शन, उससे प्रेम, मिलन, विरह की अनुभूति ही इस काव्य का विषय है। उसका भाव पक्ष है। कबीर की इस अनुभूति में उनके ज्ञानी, भक्त, रहस्यवादी तथा योगी व्यक्तियों की अनुभूतियों का सुन्दर सामंजस्य है।

कबीर के प्रेम का आलम्बन निर्गुण निराकार है। उसके किसी रूप का चित्रण नहीं किया जा सकता, जो इन्द्रियग्रहीत हो। कबीर को अपना आराध्य–प्रिय तथा वह परम तत्व जिसमें वह तदाकार होना चाहता है, उसकी सौन्दर्यानुभूति इन्द्रिय ग्राह्य वाह्य वस्तु के साक्षात्कार के रूप में नहीं होती अपितु उस परत सत्ता का प्रेम और सौन्दर्य केवल आभ्यन्तर अनुभूति रूप है। यह प्रेमानुभूति अभिव्यक्त हुई है उल्लास एवं आह्लाद के रूप में। कबीर "लाधा है कछु लाधा है पड़ि गया नजर अनूप।" के अवर्णनीय आह्लाद में तन्मय हो गये हैं। वह अरु सौन्दर्य – "अबरन एक अकल अबिनासी, घटि घटि व्यापि रहा है।" तथा "जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।" पहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।" तथा "मैं का जाणूं राम कू नैनन कबहुं न दीख"। इन पंक्तियों से कबीर की अमूर्त तथा अनुभूति जन्म रूप सौन्दर्य की धारणा स्पष्ट है। कबीर ने उस अमूर्त अरुप सौन्दर्य चेतना से उद्भूत आह्लाद का वर्णन किया है। आह्लाद के द्वारा व्यंजित होकर ही वह परम तत्व साकार

सा प्रतीत होता है। "लाधा है कछु लाधा है पड़ि गया नजर अनूप" में ज्ञान का, परम तत्व के साक्षात्कार का जो ज्ञानी का आह्लाद है वही दृष्टि में पड़ा अनुपम सौन्दर्याहलाद है। यही समन्वित प्रेमोल्लास की व्यंजना है। इस प्रकार कबीर की सम्पर्ण काव्यानुभूत सौन्दर्य, प्रेम और ज्ञान की अनुभूतियों का समन्वित रूप है, और कवि का हृदय इन अनुभूतियों में तारंगायित होता है।

कबीर की अनुभूति में एक रहस्यवादी भक्त, ज्ञानी कबीर का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही तन्मय है। यही कारण है कि कबीर ने परम तत्व के सौन्दर्य दर्शन से जाग्रत अनुभूति के आह्लाद को विभिन्न इन्द्रियों की परितृप्ति के उल्लास के रूप में चित्रित किया है। इस आह्लाद की अनुभूति से कबीर उस तृप्ति का अनुभव करते हैं जो प्रतिक्षण तृषा को बढ़ाती है। कबीर के "निज" को जितनी तृप्ति मिलती है उतनी ही तृषा बढ़ती जाती है। इस तृप्ति में चिरन्तन अतृप्ति का भाव छिपा रहता है। सौन्दर्य के अथाह अपार सागर में डूबकर कभी नेत्र उस अनूप के दर्शन के लालायित हैं, कभी रसना रस लेना चाहती है। कबीर को उस अनन्त के दर्शन होने हैं – "**कबीर तेज अनन्त का, मानो ऊगी सूरज सेगिण।**" कबीर ग्रन्था. परचा के अंग १ यह **अनुपम् तेज** 'रवि ससि बिना **उजास**" और "चांद दिहूणा चांदिणा" है। वह परम सौन्दय **अनुभूति** का विषय है **यथा** – "**देख्या** ही परवान।" वह अपूर्व तेज कबीर के क्षेत्रों में समा गया है – "तेज पुंज पास धणी नैनू रहा **समाय**" इस प्रकार कबीर ने उस अरुप सौन्दर्य का रूपात्मक साक्षात्कार किया है। निर्गुण निराकार में सगुण साकार का आभास होता है। इसी प्रकार कबीर ने उस परम सौन्दर्य का रस, प्रेम **रस** के रूप में किया है जिसकी मादकता कभी नहीं जाती –

"हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
मैंमता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।।" कबीर ग्रन्था. रस **कौ अंग, ४**

यह आनन्द सोमरस पान जैसा है। इसका वर्णन कबीर ने शराब के रूप में किया है –

"कथा कमंडल भर लिया, उज्जल निरमल नीर।
तन तन जोबर भर पिया, प्यास न मिटी सरीर।।"

कबीर इस रस को तन मन यौवन भर कर पीते हैं परन्तु उनकी तृषा नहीं शान्त होती है।

काम क्रोध मद लोभ आदि को नष्ट करने वाला यह मद तथा अनहद नाद सुनाने वाला है। इसका चित्रण कबीर ने कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहीत स्वर–माधुर्य के रूप में किया है– तथा घ्राणेन्द्रि तृप्त होती है विचित्र कस्तूरी और कमल की सुगन्ध से, जो सर्वत्र व्याप्त है। "मुख कस्तूरी महमही वाणी फूटी बास।" स्पर्शेन्द्रिय का भी सुख कबीर प्राप्त करते हैं प्रगाढ़ आलिंगन से – "अंक भरि भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर।" इस आलिंगन से अतृप्ति बढ़ती ही जाती है। पंचेन्द्रिय को आप्लावित करता हुआ यह आनन्द "सहज समाधि" की अवस्था को पहुंच जाता हैं। कबीर को अपना प्रियतम सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्ति दृष्टिगोचर होता है।

"जल थल पूरि रहे प्रभु स्वामी।
जित देखौं तित अन्तरमायी।।" कबीर ग्रन्था. परचा कौ अंग–२५

यह आनन्द गूंगे का गुड़ है। जीवात्मा भीतर ही भीतर इस आनन्द में तन्मय है और

इसी ओर केवल संकेत भर कर पाती है – "सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई।" अविकल अकल अनूप के दर्शन कवि समा गया है, उसके लिये इसका वर्णन मनवाणी से परे है। सारे सुख आनन्द में परिणत हो गये हैं – "तन में होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधी।" संसार में माया का संतृप्त अंगार बुझ गया है सर्वत्र शीतलता की अनुभूति होती है –

"माया तजति बुझ्या अंगारा।...
स्वाँति भई तद गोविन्द जाना।।"

कवि का समग्र जीवन इस आनन्द में तन्मय होकर सहज़–समाधि के रूप में बदल जाता है।

रस और भाव : वास्तव में कबीर का काव्य नीति के उपदेशों, ज्ञान चर्चा, दार्शनिक सिद्धान्तों, योगसाधना के जटिल रहस्यों, उलट वासियों की रहस्यात्मक अनुभूतियों की युक्तक साखियों तथा गेय पदों का बेमेल समूह सा प्रतीत होता है। परन्तु इन सबको आध्यात्मिक अनुभूति, भक्त हृदय की परानुरक्ति, रहस्यवादी की सौन्दर्य–चेतना, परम तत्व के विलय की तीव्र आकांक्षा, ज्ञानी की अद्वैतानुभूति एवं लोक मंगल की भावना के व्यापक सन्दर्भ में देखने से इनके मूल में कबीर के कवि हृदय का अजस्य स्रोत सा प्रवाहित होता प्रतीत होता है। ये सब सूक्तियाँ मात्र न होकर आध्यात्मिक आह्लाद के अपार सागर की उत्ताल तरंगें सी लगती हैं। कबीर की साखियों को पृथक–पृथक देखें तो यह मात्र याज्ञोपदेश या सैद्धान्तिक चर्चा सी प्रतीत होती है परन्तु कवि के आध्यात्मिक हृदय से तादात्म्य स्थापित करने पर कबीर की रचनायें रस से आप्लावित हृदय की सहज एवं प्रसार गुण सम्पन्न अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगती है।

कबीर की साखियों में परिव्याप्त सरसता एवं उनके अन्तःस्थल में बहता हुआ रस स्रोत कुछ और नहीं भक्ति–रस है। कबीर का भक्ति रस सगुण भक्तों की द्वैत भावना पर आधारित प्रेमानुभूति के आनन्द से भिन्न कोटि का है। इसके ज्ञानी की अद्वैतानुभूति, रहस्यवादी के विलय की आध्यात्मिक अनुभूति का मिश्रण हैं। यही अनुभूति रस रूप में परिणत हुई। इसी का अनुभव लौकिक तथा व्यवहारिक स्तर पर मानवता तथा नैतिकता के रूप में हुआ है। यहां पर भी कबीर मात्र उपदेष्टा ही नहीं हैं वरन् संसार के माया–मोह से विरक्त, अपरिग्रह, सत्य, अहिंसा मानव प्रेम आदि के उपदेश से प्रतीत होने वाले स्थल भी कबीर के आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति से सरस हैं। कबीर साहित्य के नीति सिद्धान्त वस्तुतः कबीर के साक्षात्कृत जीवन सत्य एवं मानव मूल्य हैं। इनकी अभिव्यक्ति बुद्धि से नहीं हृदय से ही हो रही है। यह सत्य है कि शास्त्रीय परम्परा में मान्य स्थायी भावों या संचारी भावों में यह नीति सम्बन्धी अनुभूति किसी में अन्तर्भूत नहीं की जा सकती परन्तु इसका अपना एक स्वतंत्र भावात्मक स्तर है। यह मान्य विश्वास है कि कबीर लोक मंगल के कवि हैं और यह उनके आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति का एक अंश है, और उनकी अद्वैतानुभूति का एक पोषक तत्व है। कबीर की इन सभी अनुभूतियों के मूल में उनका भगवत्प्रेम ही अनस्यूत एवं रस रूप में प्रवहमान है जिसकी परिणत अद्वैतानन्द के रूप में निश्च्छल, शान्त और गम्भीर है। अतएव कबीर के काव्य में भक्ति रस ही प्रधान है। हाँ यह

अवश्य है कि कबीर की यह अनुभूति केवल काव्य स्तर की ही रसानुभूति नहीं है अपितु ब्रह्मानन्द है।

कबीर की भाषा शैली : यह तो स्पष्ट है कि कबीर ने केवल "ब्रह्म विचार" को ही अपने काव्य में प्रकट किया है। कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था, यही कारण है कि उनमें काव्य चमत्कार भाषा सौन्दर्य की ओर ध्यान देना उचित नहीं। हां उनकी अभिव्यक्ति में मार्मिकता अधिक है। अपनी इस अभिव्यक्ति के लिये कबीर ने जिस भाषा का प्रयोग किया उसका स्वरूप निश्चित नहीं है।

कबीर की भाषा का मूल रूप अनिश्चित है : यदि हम कबीर की भाषा का विवेचन करें तो उनके विभिन्न संग्रहीत ग्रन्थों में भाषा के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यदि इसका कारण यह मान लिया जाय कि उन्होंने विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत पदों की रचना विभिन्न प्रदेशों में रहकर की थी, इसलिये उनकी भाषा का रूप उस प्रदेश विशेष की भाषा के अनुरूप हो गया तो यह मानना भ्रामक ही है। इस भ्रांति का कारण यह है कि जिस आलोचक ने जिस ग्रन्थ को अपनी आलोचना का मूलाधार बनाया, उसी ग्रन्थ के अनुरूप या उसमें व्यवहृत भाषा को कबीर की मूल भाषा मान लिया।

वस्तुत : कबीर की मातृ भाषा पूरबी हिन्दी थी। अतएव उनकी भाषा का रूप पूरबी हिन्दी से ही प्रभावित होना चाहिये। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं –

"कबीर ग्रन्थावली" की भाषा में पंजाबीपन अधिक है" – डॉ० रामकुमार वर्मा।

"कबीर ग्रन्थावाली की भाषा पंचमेल खिचड़ी है" – डॉ० श्यामसुंदर दास।

"कबीर अवधी के प्रथम संत कवि हैं।" – डॉ० बाबू राम सक्सेना।

"कबीर बीजक की भाषा बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आस–पास है"
– रेवरेन्ड अहमद शाह।

"कबीर की रचना में मुख्यतः ब्रजभाषा मिलती है, लेकिन उसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का कुछ–कुछ मेल पाया जाता है, और खडी बोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में मिलता है।" – डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या।

"कबीर साहब की रचनाओं की मूल भाषा में एक से अधिक प्रचलित बोलियों का सम्मिश्रण रहा हेगा।" – डॉ. परशुराम चतुर्वेदी।

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के मतों को देखते हुये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा कबीर की भाषा को पंचरंगी मिली–जुली भाषा अर्थात् मिश्रित भाषा कहा जाना अधिक संगत प्रतीत होता है। इसी कारण शुक्ल जी ने इसे सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली है तथा उनकी रमैनियों पदों में काव्य की ब्रजभाषा एवं पूरबी बोली का भी व्यवहार हुआ है। इस भाषा मिश्रण का कारण शुक्ल जी यह मानते हैं कि कबीर को यह भाषा नाथपंथियों से मिली होगी। नाथपंथियों का प्रभाव एवं प्रचार क्षेत्र राजस्थान और पंजाब की तरफ अधिक रहा था। साथ ही उन्होंने मुसलमानों तक भी अपना सन्देश पहुंचाने के उद्देश्य से खड़ी बोली का भी सम्मिश्रण कर लिया था। शुक्ल जी के अनुसार – इस भाषा का "ढांचा कुछ खड़ी बोली लिये राजस्थानी था।" शुक्ल जी का यह मत कबीर की भाषा के सम्बन्ध

में उपरोक्त सभी मतों से अधिक न्यायसंगत है। कबीर की उक्ति स्वयं अपनी भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार है।

"बोली हमारी पूरब की हमें लखे नहिं कोय।
हमको तो सांई लखै, धुर पूरब को होय।।

अधिक विवाद में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि कबीर की भाषा में कई बोलियों का मिश्रण है। भारत की प्रादेशिक बोलियों के अतिरिक्त अरबी–फारसी के शब्द भी सम्मिश्रण हैं।

कबीर की भाषा की विशिष्टतायें : कबीर की भाषा सरल एवं सीधी है। इसमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का मेला है। इनकी भाषा में कहीं कहीं खड़ी बोली के अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। इनकी भाषा विषय एवं भाव के अनुरूप ही रहती है। जब वे मुसलमान सूफियों से बात करते हैं तो उसमें अरबी–फारसी विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग अधिक करते हैं –

"मियाँ तुम्हसों बोल्यां वाणी नहीं आवै।
हम मसकीन खुर्दा वन्दे तुम्हारा जस मन भावै।।"

दूसरी ओर जब वह हिन्दू सन्तों के बारे में कहते हैं तो हिन्दी के तद्भव शब्दों का बाहुल्य हो जाता है। यथा –

"निरबैरी निहकामता, साई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै सन्तनि का अंग एह।।"

कबीर की भाषा में सम्प्रेषणीयता का गुण : कबीर की भाषा में शुद्धता एवं सौन्दर्य तो नहीं रहा किन्तु अपनी बात को जन–जन तक पहुंचाने में सर्वत्र एक प्रभाव प्रेषणीयता का गुण उनकी भाषा में विद्यमान है। हृदय को स्पर्श करने की जितनी शक्ति कबीर की भाषा में है उतनी अन्य कवियों की भाषा में नहीं। इसका कारण कबीर के हृदय की सच्चाई एवं निश्छलता है।

छन्द एवं अलंकार : कबीर मुक्तक–काव्य के रचयिता – कबीर की विभिन्न रचनाओं को देखने से यह पता चलता है कि उन्होंने एकमात्र मुक्तक काव्य रूप का ही प्रयोग किया है। प्रबन्ध का उनमें पूर्ण अभाव है। एक प्रकार से कबीर साहित्य को निबन्ध ा काव्य कहें तो अत्युक्ति न होगी। निबन्ध काव्य में मुक्तक, गीत, सूक्ति और नीतिवाक्यों की गणना की जाती है। कबीर में इन सबके उदाहरण मिलते हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त छन्दों में साखी, सबद, पद, रमैनी सबसे प्रमुख हैं। ये सधुक्कड़ी छन्द कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त कबीर ने लोक शैली में प्रचलित चौंतीसा, ककहरा, चांचर, थिंति, बार, हिंडोला, बेलि, बिरहुली, बसंत, बावनी, दूहन आदि छन्दों का भी प्रयोग किया था। यहां केवल साखी, सबद और रमैनी का विवेचन प्रस्तुत है।

साखी – साखियों की संख्या कबीर के साहित्य में कदाचित सर्वाधिक है इसका रूप बहुत कुछ दोहे से मिलता जुलता है। साखी शब्द से अभिप्राय सम्भवतः महापुरुषों के आप्त वचनों से है। कबीर के शब्दों में साखी द्वारा प्रकाश की प्राप्ति होती है –

"साखी आंखी ज्ञान की, समुझि देखि मन मांहि।
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नाहिं।।"

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में – "साखियों की रचना प्रायः दोहा नामक छन्द में ही की गयी पायी जाती है किन्तु कबीर साहब की सभी सखियाँ केवल इसी रूप में नहीं दीखतीं। इसमें सोरठे, दोहे, चौपाई, श्याम, उल्लासा, हरिपद गीता सार तथा छवै जैसे छन्दों के भी उदाहरण मिल जाते हैं।

सबद अथवा पद – इनको कहीं कहीं बानी भी कहा जाता है। कबीर के सबद अधिकांशतः राग–रागनियों और पदों के रूप में ही हैं। ये सभी गेय हैं। इनमें कबीर की स्वानुभूति तन्मयता से निमग्न हो, अपने गम्भीर हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया है और इसी कारण इन्हें कबीर की साधना का परिचायक भी माना जाता है। इन पदों में साखियों के समान उपदेश नहीं है वरन् ये कवि के स्वान्तः सुखाय अपने आत्म ज्ञान को ही अभिव्यक्ति करने के साधन मात्र हैं। इन पदों में वर्णनात्मक शैली प्रयुक्त हुई हैं। गेय होने के कारण इनमें संगीत का समावेश है।

रमैनी – के सम्बन्ध में कबीर ने स्वयं कहा है "अद्‌भुद रूप जगत कै बानी, उपजी प्रीत रमैनी ठानी।" रमैनियों का प्रयोग साहित्य जगत में कबीर से पहले होता आया है। कबीर पंथियों के अनुसार कबीर ने ६ लाख छियानवे हज़ार रमैनियों की रचना की है। इनकी रमैनियां कई प्रकार की रही है। सतपदी रमैणी, बड़ी अष्टपदी रमैनी, द्रुपदी रमैणी, बारह पदी रमैणी आदि। इनकी रचना दोहा चौपाइयों में की गई है। इनका विषय प्रधानतः वर्णनात्मक रहा है।

अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग – प्रतिभा के धनी कबीर के काव्य में स्वभावतः रमणीयता आ गई है। फिर भी उनके काव्य में अनेक अलंकारों के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। उन्हीं अलंकारों का उपयोग कबीर ने किया है जो भाव को अधिकारिक प्रभावशाली बना सके। कबीर ने सर्वाधिक उपयोग रूपक एवं उपमा अलंकारों का किया है। कबीर रूपकों के लिये अधिक विख्यात हैं। उन्होंने रूपक को इसलिये अपनाया क्योंकि रूपक में साम्य की प्रतीत व्यंजना द्वारा होती है और कबीर अपनी रहस्यानुभूति को अमिधा की सहायता से व्यक्त करने में सफल नहीं हो सकते। रूपक का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"काहे री नलिनी तू कुमिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास
नहिं तल तपत न ऊपर आग, तोर हेतु कहु कैसन लाग
कहै कबीर जे उदिक समान ते नहिं मुये हमारे जान।।"

उपुर्यक्त पद अन्योक्ति के लिये भी प्रसिद्ध है।

रूपक के अतिरिक्त उपमायें भी कबीर की बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। कबीर के उपमान परम्परागत न होकर साधारण वस्तुओं एवं सामान्य जीवन में प्रतिदित काम आने वाली वस्तुओं को ही लिया है। जैसे –

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।।"

कबीर ने साधारणतः शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु अनुप्रास जैसे अलंकार अज्ञात रूप से स्वतः ही आ गये हैं।

"लोका जानि न भूल्यो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाइ।।"

दृष्टांत, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, आदि विरोधमूलक अलंकार कबीर के काव्य में विद्यमान है।

प्रतीक योजना अथवा अप्रस्तुत विधान – "प्रतीक" शब्द का अर्थ है – चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप। प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसे मनुष्य अपने भावों को सशक्त और अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये बहुत कम समय से व्यवहार में लाता आया है। जो विषय पत्क्षतः इन्द्रिय गम्य नहीं हुआ करते, जिनकी कल्पना हम अपने तर्क, विश्वास अथवा अनुमान के आधार पर करते हैं ऐसे विषयों का वर्णन करते समय लक्षणा शक्ति का अवलम्ब लिया करते हैं। आत्मा और परमात्मा ऐसे ही अगोचर इन्द्रियातीत विषय हैं। इसलिये परम तत्व का अपरोक्ष अनुभव करने वाले साधकों को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति व्यक्त करने के लिये, उससे साम्य रखने वाले लौकिक अनुभवों की सहायता लेते हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्ति परक प्रयोग साहित्यिक भाषा में "प्रतीक पद्धति" कहा जाता है।

कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति के प्रकाशन के लिये अथवा निर्गुण निराकार के प्रति निरूपाधिक प्रेम एवं अपूर्व सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का अवलम्ब लिया है। उनके प्रतीक अधिकाशंतः ऐसे हैं जो सिद्धों और नाथों द्वारा परम्परा से प्रयुक्त किये जाते थे। इसी प्रकार सूफियों के प्रतीकों को भी कबीर ने अपनाया है। कबीर काव्य में कुछ प्रतीक ऐसे भी मिलते हैं जो "कवि समय" के रूप में प्रचलित रहे हैं। जब भक्त अपने आराध्य से विभिन्न सांसारिक सम्बन्ध स्थापित करते थे तब द्वैतवादी बन जाते थे और अपनी भावना प्रतीक द्वारा व्यक्त करते थे। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य भावों से सम्बन्धित उनकी उक्तियाँ ऐसी ही हैं –

"मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसाई।
तन मन धन मेरा राम जी की ताई।।" **दास्य भाव**

× × ×

"हरि जननी मैं बालक तोरा
कबहुं न अवगुन बकसहु मोरा।।" **वात्सल्य**

दाम्पत्य भावना का रहस्यवादी प्रतीक इस पद में दर्शनीय हैं –

"दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आये राजा राम भरतार....
.....कहैं कबीर मोहिं ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी।।"

इसी प्रकार अपने को कबीर ने गाय–कुत्ता आदि कहकर दीनता और पराधीनता का भाव व्यक्त किया है।

रुपकवत प्रतीकों में कहीं–कहीं कबीर ने जीवात्मा को जुलाहा कहा है –

"कोरी को काहू मरम न जाना।
साधू जग आइ तनाइयो ताना।।"

कबीर के साधना सम्बन्धी प्रतीक निम्नलिखित पद में प्रस्तुत है –

"खत नेम करि कोठड़ी बांधी, बसतु अनूप न पाई।
कुंजी कुलफ प्रान करि राखे, करते बार न लाई।....
...नउ घर देखि जो कामिनि भूली, वस्तु अनूप न पाई।
कहै कबीर नबे घर भूसै, दसवे तत्त समाई।।"

यहाँ कोठरी शरीर का, अनूप वस्तु–आत्मा का, कुंजी कुलफ प्राण का, कामिनी माया ग्रस्त जीवन का, नवै घर शरीर के नव द्वारों का, दसवें बह्यारंध्र का और तत्त–ब्रह्म का प्रतीक है।

इसी प्रकार पारिभाषिक प्रतीकों में गंगा, यमुना, इंगला, पिंगला तथा बालरंडा कुंडलिनी का प्रतीक है जो हठयोगियों में प्रचलित था। इसी प्रकार सूर–चन्द का प्रयोग है। यथा –

"सूर समान चन्द में दुहु किया घर एक"

इसमें सूर–चन्दा क्रमशः मूलाधार और सहस्रार का प्रतीक है।

संख्यामूलक प्रतीक जो हठयोगियों में प्रचलित थे उनका भी प्रयोग कबीर ने किया है –

"चौंसठ दिया जोय के चौदह चन्दा मांहि।।"

यह चौंसठ कलाओं और चौहद विद्याओं के प्रतीक हैं। कबीर के ये प्रतीक उनके काव्य की प्राण शक्ति है। इनमें सजीवता और मार्मिकता है।

"कबीर का महत्व एवं स्थान"

प्रश्न ८. हिन्दी काव्य में कबीर का महत्व एवं स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर – संत कबीर भक्ति काल के निर्गुण काव्य धारा के ज्ञानाश्रयी शाखा के ज्ञानी भक्त कवि हैं। उनका व्यक्तित्व हिन्दी जगत में अद्वितीय है। उनकी महत्ता के सम्बन्ध में **डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी** के विचार प्रस्तुत हैं – *कबीर अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे।* "युग का प्रतिनिधि अथवा लोक नायक उसे ही माना जा सकता है, जो विभिन्न विरोधों में समन्वय करा सके। हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में वह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्दी मानता है – **तुलसीदास**। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ झाड–फटकारकर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।" कबीर के साहित्यिक महत्व को सिद्ध कर देने के लिये डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन ही यथेष्ट है।

किसी भी व्यक्ति के महान बनने में परिस्थितियां योगदान देती हैं। कबीर के महान

व्यक्तित्व निर्माण में भी यही सत्य है। अतएव उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन अनिवार्य है. उन पर संक्षिप्त प्रकाश प्रस्तुत है –

युगीन परिस्थितियाँ : जिस समय कबीर का प्रादुर्भाव हुआ. राजनीतिक परिस्थिति बड़ी अशान्तमय थी। दो जातियां हिन्दू मुस्लिम परम्परा संघर्षरत थीं। मुस्लिम आक्रमण एवं देश की आन्तरिक फूट से देश जर्जर हो रहा था। राजपूतों का संगठन क्षीण था। वीर--गाथायें लुप्त होती जा रही थीं।

धार्मिक क्षेत्र में भी उतनी ही उथल पुथल थी। शंकराचार्य ने बौद्ध मत का उन्मूलन कर अद्वैत की स्थापना की थी, किन्तु जनता इससे संतुष्ट न थी। कारण की शंकर का अद्वैत व्यवहारिक कम था। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद ने कुछ सम्बल प्रदान किया किन्तु मोहम्मद गजनवी के प्रहारों ने हिन्दुओं के समक्ष पूर्तिपूजा निष्प्राण कर दी। हिन्दुओं के राज्य और धन के साथ धर्म भी संकट में पड़ गया। हिन्दी भाषा और साहित्य की स्थिति भी अस्तव्यस्त थी। समाज में अन्ध विश्वास तथा कुरीतियां फैली हुई थीं। धार्मिक विश्वास खोखला हो रहा था। मूर्ति पूजा और सगुणोपासना की जड़े कम्पित हो गई थीं। ऐसे ही संक्रान्ति काल में कबीर का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने इन दो विराधी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का विरोध देखा। एक निष्पक्ष तथा जागरुक दर्शक की भाति चिन्तक की भाँति मानव–कल्याण की कामना से कबीर भर गये।

कबीर के कार्य का क्षेत्र प्रधानतः समाज एवं धर्म था। इस्लाम के आगमन ने भारतीय धर्म एवं संस्कृति को मर्माहत कर डाला। उनकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति व्यवस्था को प्रथम बार गहरा आघात लगा। समस्त भारतीय वातावरण विक्षुब्ध हो उठा। अराजकतापूर्ण वातावरण में विभिन्न मत मतान्तर अपने सिद्धान्तों को एक दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने में प्रयत्नशील थे। इन संघर्षों एवं विद्वेषों से भरे कष्टकाकीर्ण समाज में एक निर्भीक व्यक्तित्व अवतीर्ण हुआ। वह कबीर थे, जिनका कार्य क्षेत्र राजनीति से दूर समाज और धर्म था।

जाति से निम्न वर्ग का होने के कारण उच्च वर्ग के संस्कार पड़ने के रास्ते उनके लिए बन्द थे। **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** के शब्दों में – "इसी कारण वे मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु अगृहस्थ नहीं थे। वे वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति वे असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतीर्ण हुये थे। जहां से एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर मुक्तिमार्ग। जहां से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। वे उसी चौराहे पर खड़े थे। वे दोनों देख सकते थे, और परस्पर विरुद्ध दशा में गये हुये मार्गों के गुण दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीर का भगवत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।"

ऐसे संक्रांति युग में कबीर ने समन्य का पथ अपनाया। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर आडम्बरों का खण्डन किया। "अरे इन दोउन राह न पाई" पद में कबीर के ऐसे ही खण्डनात्मक विचार वर्णित हैं।

ईश्वरोपासना के नाम पर फैले नाना वाद विवादों के घटाटोप से निकल कर एक ईश्वर की उपासना की बात कही। तत्कालीन परिस्थितियों को देखकर अपनी संचयन वृत्ति से बल एकत्र कर, युग धर्म को पहचान कर एक निर्भीक मत की प्रतिष्ठा की, जिसमें ब्रह्म की एकता और ममत्व सिद्धान्त की भावना ही सर्वोपरि है। जीव मात्र में उसी एक ज्योति का प्रकाश है। इसलिये किसी भी क्षेत्र मे ऊंच नीच की भावना नहीं होनी चाहिये।

"एक नूर ते सब जग उपजा कौन भला कौन मंदा।"

एकता की प्रबल भावना लेकर ही कबीर जनजीवन के मध्य आये और उन्हीं की वाणी में जनवाणी में अंधकारग्रस्त जनता को सच्चा मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया। जनभाषा में धर्म और जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाया और दर्शन की ऐसी व्याख्या निरूपित की, जिसे सरलता से जनजीवन हृदयगंम कर सके। जीवन का कोई अंग उनसे अछूता नहीं रहा, वरन् उन्होंने प्रत्येक अंग की समीक्षा कर धर्म और जीवन को इतना सरल सुगम और साधन सम्पन्न बना दिया कि वह जन–जन के हृदय में निवास करने योग्य बन गया। यह कबीर की ही महानता थी।

दर्शन के क्षेत्र में कबीर ने नवीन दार्शनिक विचारधारा का प्रणयन किया। दर्शन के क्षेत्र में, स्वतंत्र चिन्तन धारा में उच्छृंखलता का समावेश हो चुका था। सहजयान, वज्रयान, नाथपंथ, बाउल सम्प्रदाय, निरंजन सम्प्रदाय, कौल कापालिक आदि। शाक्त सम्प्रदाय का अपना ही स्वर प्रबल था। कबीर ने इन सबको मर्यादित कर एक सात्विक और स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया। जो लोकप्रिय बनी। कबीर से पूर्व तथा कबीर के समय में कुछ अन्य सम्प्रदाय सुधार की भावना से इस दिशा से कार्य कर रहे थे। किन्तु वह दर्शन के ही महत्व को भूल गये। परन्तु कबीर ने अपनी नवीन स्वतंत्र विचारधारा के आधार पर धार्मिक एवं सामाजिक सुधार किये। इसीलिये उनका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। साथ ही समाज में कबीर का विशिष्ट स्थान हुआ।

जन सामान्य में कबीर ने एक सामान्य सीधे धर्म की प्रतिष्ठा की और जनता में अहिंसा, सदाचार, सात्विकता आदि मानवीय गुणों का प्रचार किया है। कबीर वस्तुतः मानव धर्म के उपासक थे। सत्य के अन्वेषी और उपासक थें। कथनी और करनी में साम्य के पक्षधर थे। कबीर ने स्वयं जैसा जीवन व्यतीत किया था उसकी छाया उनके सिद्धान्तों पर है। इसीलिये पूर्ण रूप से व्यवहारिक होने के कारण उनका धर्म विश्व के उन उच्चतम मानवतावादियों के धर्म के समकक्ष ज़ा बैठा जिसमें साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का लेश भी नहीं है।

यह तो हुआ कबीर के धार्मिक सामाजिक समन्वय और उसके प्रभाव का रूप। अब इसी पृष्ठभूमि पर कबीर के साहित्यिक रूप का अनुशीलन भी आवश्यक है।

अशिक्षित परन्तु प्रखर मेधावी कबीर "मसि कागद छुयो नहिं कलम गह्यो नहिं हाथ" से तो स्पष्ट है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, दूसरी ओर कोरे पांडित्य की निन्दा करते हुये कबीर कहते हैं –

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।"

कबीर पुस्तकीय ज्ञान के नहीं, अनुभव सिद्ध ज्ञान के पोषक थे। यह अनुभव सिद्ध ज्ञान आध्यात्म की श्रेणी का है। वे केवल प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ कर पंडित बने थे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – उनमें अद्भुत प्रतिभा थी, किन्तु काव्य क्षेत्र में केवल प्रतिभा से ही काम नहीं चलता, उसके लिये किसी गुरू के चरणों में बैठकर शिक्षा और अभ्यास प्राप्त करने की भी आवश्यकता पड़ती है। कबीर के पास ऐसा कुछ भी नहीं था। शिक्षा और अभ्यास की कमी को उन्होंने सत्संग, देशाटन द्वारा उपार्जित ज्ञान ने बहुत सीमा तक पूरा कर दिया था। बहुश्रुत होने के कारण उनके काव्य में विभिन्न प्रकार के कवि समयों, प्रतीकों तथा अलंकारों की सुन्दर छटा का समावेश किया है।

कबीर ने अपने काव्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुये कहा है –

"तुम जिन जानों गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे।।"

कविता करने में वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं –

"हरि जी यहै विचारिया साखी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव है जे कोई पकड़ै तीर।।"

इसके अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से की गयी कविता को कबीर महत्व नहीं देते– "कबि कबीने कविता मूये" इससे स्पष्ट है कि कबीर ने कविता चमत्कार के लिये नहीं की प्रत्युत अपनी सधुक्कड़ी भाषा में अपने विचारों और भावों को जनजीवन तक पहुंचाने के लिये की थी। कबीर के अंतर में बल था, सच्चाई थी। इसीलिये उनकी वाणी में प्रखरता आ गई थी।

कबीर के काव्य में कल्पना की ऊँची उड़ान की मनोहरता नहीं है। खण्डन मण्डन प्रधान काव्य में सरसता का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु जहां कबीर अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्म–विभोर होकर अपनी विरह व्यथा का वर्णन करते हैं, वहां रागात्मक तत्व अपनी पूर्ण तन्मयता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता, सूरदास की सी सरलता तथा विद्यापति का सा सौन्दर्य है। वस्तुतः संत साहित्य पर भाषा एवं शैली की अशुद्धता के आक्षेप का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचन करते हुये एक बार महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कहा था – "नई हिन्दी कविता से पुरानी संत वाणी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक में कौशल ज्यादा है, लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश मे प्रकट होता है, वही अमर होता है। उस पर कला का दाग नहीं पड़ता।" – कबीर का काव्य भी ऐसा ही अमर काव्य है।

निस्सन्देह लोक मंगल की भावना से ओत–प्रोत कबीर का हिन्दी जगत में विशिष्ट गौरपूर्ण स्थान है तथा क्रांतिकारी व्यक्तित्व के कबीर की महत्ता असंदिग्ध है। वह पंकिल समाज के पंकज है। जिस सरोवर में उन्होंने जन्म लिया उसे ही निर्मल कर दिया।

लघुत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १. सन्त काव्यधारा का महत्व बताइये।

उत्तर – भक्तिकालीन काव्यधारा का विकास दो रूपों में हुआ। प्रारम्भ में धार्मिक रूढ़ियों एवं सामाजिक भेद को देखकर ईश्वर के उस रूप की उपासना पर बल दिया गया, जो घट–घट व्यापी है। जाति–पाँति, छुआछूत, मंदिर और कर्मकाण्ड से परे उस सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना का प्रसार संतों ने किया। इस उपासना को निर्गुण उपासना कहा गया। निर्गुण भक्ति का विकास इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया और भारतीय अद्वैत दर्शन के आधार पर हुआ। क्योंकि इस्लाम के एकेश्वरवाद में भी आडम्बर का विरोध कर सूफी संत प्रेम का प्रसार कर रहे थे। इस प्रकार निर्गुण काव्य की दो धारायें – संत काव्य और प्रेमाश्रयी काव्य के रूप में मिलती है। संत काव्य को ही ज्ञानाश्रयी काव्य भी कहते हैं। कबीर, नानक, भीखा, रैदास, दादू आदि प्रमुख सन्त कवि हैं। संत कवियों में गुणातीत घट–घट व्यापी राम की उपासना पर बल दिया और वाह्याचारों का खण्डन करके हिन्दू जनमानस में भक्ति का संचार किया। संतों का यह प्रयास हिन्दू जनता को इस्लाम के प्रवाह में बहने से रोकने में सफल रहा अतः संत काल का भक्ति काल में विशेष महत्त्व है।

प्रश्न २. कबीर के रहस्यवाद पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

उत्तर – लौकिक के माध्यम से अलौकिक के वर्णन को रहस्यवाद कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद की दो स्थितियां मानी हैं – **साधनात्मक** और **भावनात्मक**। कबीर में साधनात्मक रहस्यवाद भी है, परन्तु मुख्य रूप से उनमें भावनात्मक रहस्यवाद मिलता है। भावात्मक रहस्यवाद में कबीर ने भारतीय अद्वैत और सूफी मत का समन्वय किया है। दीक्षा, विरह परिचय और मिलन–भारतीय रहस्यवाद की चारों स्थितियां तथा सूफी रहस्यवाद की शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत कबीर में मिलती है। कबीर ने जीवात्मा को पत्नी तथा ईश्वर को प्रियतम मानकर भावनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। प्रेम और विरह की मार्मिक अनुभूति के माध्यम से ईश्वर के मिलन तक की स्थिति को लौकिक धरातल पर प्रस्तुत कर कबीर ने रहस्यवाद का चित्रण किया है।

प्रश्न ३. कबीर की भाषा की विशेषताएं बताइये।

उत्तर – कबीर की भाषा में विविधता है। व्याकरणिक जटिलताओं की परवाह किये बिना कबीर ने भाषा को भावों के अनुरूप प्रयुक्त किया है। इसीलिये जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को पंचमेल और सधुक्कड़ी कहा है वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाषा का डिक्टेटर माना है। वास्तव में कबीर की भाषा में भोजपुरी का मुख्य प्रभाव होते हुए भी विविध लोकभाषणों तथा पंजाबी, गुजरात आदि प्रान्तीय भाषा की बाधा नहीं मिली। भावों के अनुरूप भाषा को प्रयुक्त करने में कबीर सिद्धहस्त कलाकार हैं।

प्रश्न ४. "कबीर क्रान्किारी कवि हैं।" इस कथन पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

उत्तर – कबीर का युग धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों का युग था। एक ओर सत्ता, शस्त्र और प्रलोभन के द्वारा इस्लाम का प्रसार हो रहा था, वहीं दूसरी ओर हिन्दू

धर्म पाखण्ड और रूढ़ियों में जकड़ा था। अस्पृश्यता एवं धर्मच्युत करने का पुरोहित वर्ग का आतंक आम हिन्दू जनता पर था। ऐसे में घर जलाने का साहस करने वाले मध्य युग के पहले कवि कबीरदास थे। कबीर में घर फूंक मस्ती, फक्कड़ाना, लापरवाही और निर्भय अक्खड़ता थी। उनमें अखण्ड आत्मविश्वास था। उन्होंने व्यक्ति विशेष को नहीं समाज के उस वर्ग के पुरोधाओं को चुनौती दी, जो केवल सामाजिक सौन्दर्य को नष्ट कर रहे थे। ऐसे लोगों पर उन्होंने क्रूर व्यंग्य किया है। पंडितों और शेखों पर प्रहार करने वाली भाष प्रखर है। उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार किया। पीर–पैगम्बर, काजी–मुल्ला, रोजा–नमाज को गलत बताया और दृढ़ आत्मविश्वास और सामाजिक एकता पर बल दिया। इसलिये कबीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी है।

प्रश्न ५. कबीर के निर्गुण राम का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

उत्तर – कबीर के राम पुराण–प्रतिपादित अवतार नहीं थे। वे अवतारवाद के विरोधी थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें राम या कृष्ण के अवतारी स्वरूप का बोध नहीं था। उन्होंने 'दसरथ सुत तिहुंलोक बखाना। राम नाम को मरम है आना' कहकर राम के दोनों रूपों का उल्लेख किया है। पौराणिक राम की सत्ता का उल्लंघन करके 'राम' नाम की महत्त पर बल देने वाले कबीर के राम निर्गुण ब्रह्म थे। ब्रह्म के इस रूप की कल्पना भी अद्वैत की देन है। वह रूप भी वेद वाक्य नहीं है। राम के निर्गुण रूप की उपासना को श्रेष्ठ मानने वाले कबीर राम के विरोधी नहीं हैं। वास्तव में कबीर आत्मा की सत्ता को मानने वाली शरीर संसार को असार सिद्ध करने वाले कवि हैं। सारे सामाजिक विभेदों और सामाजिक विरोधों का कारण शरीर और समाज है। इन दोनों से परे सूक्ष्म सत्ता में सभी प्राणी समान हैं। कबीर ने इसीलिये सत–रज–तम निर्मित सगुण तत्व को व्यर्थ मानकर आत्म स्वरूप को ही सत्य माना है। आत्म रूप को श्रेष्ठ मानने के कारण कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को प्रतिपादित किया है। इसीलिये कबीर के राम दार्शनिक मतवाद से परे इस रूप में आये हैं, जहां तक पहुंचने में रूढ़ियाँ ओर बाह्याडम्बर बाधा नहीं बनते।

प्रश्न ६. कबीर की भक्ति पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – कबीरदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। उनका ब्रह्मलीला बिहारी नहीं हैं। इसके बावजूद उनकी भक्ति भावना उत्कृष्ट हैं। भक्ति का आधार प्रेम है। प्रेम के लिये आलम्बन की आवश्यकता होती है। कबीर के ब्रह्म निर्गुण निराकार परमात्मा हैं। कबीर ने परमात्मा से मिलने के लिये शरीर को नहीं आत्मा को सबल बनाने पर बल दिया। आत्मा और परमात्मा का मिलन ही कबीर का लक्ष्य है। इस मिलन के लिये कबीर ने ज्ञान के दार्शनिक रूप को महत्व न देकर प्रेम को श्रेयस्कर माना। कबीर ने आत्मा को पत्नी और ईश्वर को पति रूप में मानकर दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से इस मिलन का चित्रण किया है। इसीलिये कबीर प्रेम और भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। नवधा भक्ति के समस्त रूप कबीर में मिल जाते हैं। इस प्रकार कबीर ने भले ही गुणातीत ब्रह्म का निरूपण किया है, उनका मार्ग भक्ति मार्ग है।

प्रश्न ७. निर्गुण काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

उत्तर–भक्तिकालीन साहित्य की दो प्रधान शाखायें हुई सगुण और निर्गुण। निर्गुण शाखा के पुनः दो भेद हुये जो क्रमशः ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुये। ज्ञानमार्गी शाखा के कवि अधिकांशतः संत थे। इसलिये इस काव्यधारा को सन्त काव्य के नाम से भी पुकारा जाता है। इन सन्त कवियों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं आडम्बरों का जहां विरोध किया, वहां हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिये भी सचेष्ट प्रयास किया। इस शाखा के प्रवर्तक कबीर थे। कबीर के पश्चात् इस परम्परा में सन्त दादू, मलूक, नानक, रैदास, नामदेव, सुन्दर दास, दयाबाई और सहनोबाई आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार निर्गुण भक्ति साहित्य की दूसरी शाखा प्रेममार्गी काव्यधारा है जिसे सूफी काव्यधारा भी कहा जाता है। इस काव्यधारा के श्रेष्ठ कवि मलिक मुहम्मद जायसी माने जाते हैं। सूफी सन्त मुसलमान थे, पर उन्होंने हिन्दू लौकिक प्रेम कहानियों द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इसके अन्य कवियों में मुल्ला दाऊद इस परम्परा के श्रेष्ठ कवि हैं जिनका 'चन्दायन' श्रेष्ठ ग्रन्थ है। अन्य कवियों में मृगावती के रचयिता 'कुतुबन' मधुमालती के रचयिता 'मंझन' और 'चित्रावली' के रचयिता 'उसमान' प्रमुख हैं। इन दोनों शाखाओं के कवियों में बहुत कुछ समानतायें भी हैं। दोनों में निर्गुणोवासना, हठयोग साधना, गुरु की महत्ता, रहस्य भावना, जीवन में संयम की परमावश्यक, भक्ति और प्रेम का प्राधान्य, रूढ़िवाद एवं आडम्बर का विरोध प्रमुख है। दोनों में काव्यरूप एवं भाषा की दृष्टि से अन्तर है। संतकवियों ने मुक्तक शैली और सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने प्रबंध शैली को अपनाया है।

प्रश्न ८. कबीर को रहस्यवादी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – रहस्यवाद का अर्थ है लौकिक के माध्यम से अलौकिक का वर्णन। कबीर निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने सगुण का वर्णन नहीं किया है। ऐसे में कबीर को ईश्वर के सम्बन्ध में बताने के लिए लौकिक का आश्रय लेना पड़ा। उन्होंने लौकिक पति–पत्नी के विरह–मिलन के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के वियोग और मिलन का चित्रण किया है। अतः कबीर को रहस्यवादी कवि कहा जाता है।

प्रश्न ९. कबीर के कुछ पदों को उलटवाँसी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – उलटवाँसी का शाब्दिक अर्थ है उलटा वास। जीवन के सांसारिक क्रम के विरुद्ध जब जीवात्मा परमात्मा की ओर उन्मुख होती है तो यह सामान्य जन के लिए विपरीत वास है। कबीर ने अपनी साधना और दार्शनिक चिन्तन को इसीलिए रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत किया हैं जो सामान्य क्रम में अटपटे हैं पर दार्शनिक दृष्टि से गूढ़ अर्थ देते हैं।

प्रश्न १०. कबीर को क्रांतिकारी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – कबीर काशी वासी थे। काशी के उपक्षित जन के मध्य रहते हुए उन्होंने समान सुधार का व्रत लिया। एक ओर उनके युग में काशी के पण्डितों का ब्राह्माचार से प्रभावित आतंक था तो दूसरी ओर मुस्लिम शासकों की कट्टर धार्मिक दमनकारी नीति। कबीर ने हिन्दू मुस्लिम दोनों की कट्टरता पर कठोर प्रहार किया और वाह्याचारों का विरोध कर हरि को भजै सो हरि का होई कह कर समानता का संदेश दिया। अतः कबीर को निर्भीक क्रांतिकारी कहा जाता है।

मलिक मुहम्मद जायसी

"जायसी की जीवनी और कृतियाँ"

प्रश्न १. मलिक मुहम्मद जायसी की जीवन वृत्ति और कृतियों पर प्रकाश ड़ालिये।

उत्तर – मध्य युगीन हिन्दी साहित्य की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि मलिक मोहम्मद जायसी हैं। इनका भक्ति–साहित्य में श्रेष्ठ है।

जिस समय भारतीय जन-जीवन विभिन्न साधना पद्धतियों, दार्शनिक मतवादों तथा राजनीतिक विषमाताओं के कारण विशृंखल हो रहा था, उस समय सम्पूर्ण समाज को प्रेम अथवा रागात्मिकावृत्ति के सूत्र में आबद्ध करने वाले साधकों में जायसी का स्थान सर्वोपरि रहा है। हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य स्थापन में इन सूफी सन्तों का कार्य सराहनीय रहा है। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से विशिष्ट स्थान के अधिकारी जायसी के जीवन चरित्र पर आज विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

किसी भी प्राचीन कवि के प्रामाणिक जीवन वृत्त का अध्ययन करने के लिये दो प्रकार के साक्ष्य बहिर्साक्ष्य आधार माने जाते हैं। बहिर्साक्ष्य में समकालीन ग्रन्थों, साहित्यकारों, भग्नावशेषों, किंवदन्तियों तथा ऐतिहासिक अथवा राजकीय प्रपत्रों को प्रमुखता दी जाती है।

अन्तर्साक्ष्य के अन्तर्गत कवि की कृतियों में व्यंजित उसके जीवन की घटनाओं तथा विचारों का आधार लिया जाता है। जायसी मसनवी परम्परा के कवि थे। इसलिये उनकी कृतियों में कवि जीवन के विविध प्रसंगों का उल्लेख हुआ। जायसी के जीवन से सम्बद्ध सामग्री का क्रमिक अध्ययन निम्नलिखित तथ्यों को प्रकट करता है –

बहिर्साक्ष्य की सामग्री : बहिर्साक्ष्य की सामग्री के अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुयें प्राप्त हैं। जायसी से सम्बद्ध भग्नावशेष, जायसी के विषय में विविध ग्रन्थों तथा इतिहास ग्रन्थों में उल्लेख, जायसी का चित्र और विविध किंवदन्तियाँ।

किंवदन्ती है कि राबरेली के कनचाने मुहल्ले में जायसी का एक टूटा–फूटा मकान है। सुल्तानपुर गजेटियर में लिखा है कि अमेठी के राजा ने रामनगर में अपने महल से दो सौ पचास गज दूरी पर एक समाधि बनवाई थी। ब्रहिर्साक्ष्य में दरगाह मखदून साहब का भी बड़ा महत्व है। यहां सैयद अशरफ जहांगीर नाम से प्रसिद्ध सूफी सन्त हुये हैं, जिनका उल्लेख जायसी ने किया है। उपर्युक्त सामग्री के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थों में जायसी सम्बन्धी कुछ न कुछ उल्लेख मिलता है – आवेहयात, अरब बरुल, अख्यार, खजीन–अत्तुल, असफिया, रमजुल आरफीन, मुन्तखिब उल तवारीख आदि।

अन्र्साक्ष्य की सामग्री : में जायसी की कृतियाँ पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम का विशेष महत्व है। इन कृतियों में कवि ने अपने जीवन से सम्बद्ध अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है। जिनके आधार पर कवि के जीवन वृत्त को समझा जा सकता है।

जायसी की जन्म तिथि : जायसी ने अपनी जन्मतिथि का उल्लेख आखिरी कलाम तथा पद्मावत में इस प्रकार किया है –

"भा अवतार मोर नष सदी, तीस बरस ऊपर कबि बदी।"

आखिरी कलाम : यह जायसी की जन्मतिथि सम्बन्धी कथन बहुत प्रसिद्ध है। इसकी व्याख्या करते हुये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी का जन्म काल हिजरी सन् ९०० माना है। डॉ० जयदेव ने जायसी के जन्म काल के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल से अपनी सहमति व्यक्त की है। डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ के अनुसार सन् ९०६ हि० जायसी का जन्मकाल है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय हि० सन् ८३० स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त तिथियों पर विचार करें तो कई प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं।

पद्मावत में एक स्थान पर जायसी ने लिखा है – **"सन नव सौ सत्ताइस अहा। कथा आरम्भ बैन कवि कहा।"** इस कथन के अनुसार जायसी का जन्म सन् हिजरी ९०० मानना ही उचित नहीं होगा। क्योंकि पद्मावत ऐसी प्रौढ़ कृति केवल सत्ताइस वर्ष की अवस्था में सम्भव नहीं मानी जा सकती। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार उक्त पद को "सन् नौ सौ सैतालिस अहै" मान लिया जाय तो पद्मावत में वर्णित वृद्धावस्था का चित्रण तथा शेरशाह को आशीर्वाद देने की संगति नहीं बैठती। जायसी कृत "अखरावट" की एक प्रति में उसका रचनाकाल जुम्मा ८ जुल्फाद ९११ हि० लिखा हुआ है। इस पुस्तक की सभी प्रतियां शाहजहां कालीन हैं। विद्वानों के मतानुसार "अखरावट" सन् ९११ में लिखा गया है।

जायसी ने अपनी कृतियों में कतिपय घटनाओं का नामोल्लेख किया है। यथा – बाबर, शेरशाह तथा कबीर का उल्लेख, जन्मकालीन भूकम्प का उल्लेख, मुहीउद्दीन का समय, महाराज जयदेव का वर्णन आदि।

बाबर का समय सन् १५२६ मान्य है। इसके अनुसार १६वीं शताब्दी का प्रथम चरण जायसी का समय कहा जा सकता है। शेरशाह की प्रशंसा में जायसी के उद्गार इस प्रकार हैं –

"सेरसाहि देहली सुल्तानू, चारिउ खण्ड तर्प जस भानू।
ओही छाज छात औ पाटा, सब रोजे भुई धरा लिलाय।
जाति सूर और खांडहि सूरा, और बुधिवंत सबै गुन पूरा।।"

इतिहासकारों के अनुसार शोरशाह सन् १५४२ ई० को सिंहासनारूढ़ हुआ था। कवि द्वारा कबीर का उल्लेख भी यही प्रमाणित करता है कि कवि का समय पर्याप्त लम्बा था। पद्मावत की एक ऐतिहासिक कथा का आधार चित्तौड़ का घेरा है जो सन् १३०३ में हुआ था। इसे लोक कथा बनाने में कम से कम २५० वर्ष लगे होंगे। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जायसी का समय सन् १५७५ से १५९० ई० के आसपास रहा होगा।

"आखिरी कलाम" में जायसी ने अपने जन्मकालीन एक भूकम्प का उल्लेख किया है–

"आवत उधत चार विधि ठाना, भा भूकम्प जगत अकुलाना।
धरती दीन्ह चक्र विधि लाई, फिर अकास रहट की नाईं।।"

तथा

गिरि पहाड़ परबत दें ठहि गये, सात समुन्द्र कीय मिलि गये।"

ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार सन् हिजरी ६११ में आगरे में एक भयंकर भूकम्प आया। सम्भव हो जायसी ने अपने बाल्यकाल में सुनी हुई बातों को अपनी शैली विशेष में भयंकर रूप दे दिया हो। कतिपय विद्वानों ने इसे रूपात्मक माना है। जिसमें कवि ने सांसारिक बन्धनों की मुक्ति अथवा समकालीन विषम परिस्थितियों में "परम–तत्व" के रहस्य की अनुभूति को चित्रित किया है।

जायसी के इन जन्म सम्बन्धी विविध पक्षों का अध्ययन करने के उपरान्त डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल थे, प्रो. अस्करी, इन्द्रचन्द्र नारंग आदि का मत है कि नवीं सदी हिजीरी अर्थात् १३६८ ई. और सन् १४६४ ई.के मध्य किसी समय जायसी का जन्म हुआ है।

जन्म स्थान : अपने जन्म स्थान के बारे में जायसी ने स्वयं कहा है –

"जायस नगर धरम अस्थानू।
वहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।।" – पद्मावत

तथा –

"जायस नगर मोर अस्थानू।
नगर का नाँव आदि उदभान।।" *– आखिरी कलाम*

मलिक मुहम्मद जायसी नाम से ही कवि का जायस नगर से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वान जायसी को किसी अन्य स्थान से आया हुआ मानते हैं। उनके कथन का आधार पद्मावत की उपर्युक्त पंक्ति है। रायबरेली में कनचाने कजियाने मोहल्ले में स्थित मकान के अनुसार उनका जन्म स्थल पर नगर रायबरेली माना जाता है किन्तु यह निश्चित है कि कवि का जायस से अभिन्न सम्बन्ध है जो जिला रायबरेली में ही है। जायस में ही कवि को प्रेम तत्व के रहस्य की अनुभूति हुई। यहीं पर कवि का अधिकांश समय व्यतीत हुआ था। जायस के आधार पर ही उनके जायसी नाम को प्रसिद्धि मिली। इसीलिये अधिकांश विद्वानों ने कवि का स्थान जायस को ही स्वीकार किया है।

जाति तथा माता–पिता : जायसी के नाम से पूर्व मलिक शब्द का प्रयोग उन्हें अरबी सिद्ध करता है। अरबी में मलिक का अर्थ बादशाह है सुल्तान, अमीर तथा बड़ा व्यापारी होता है। इससे स्पष्ट होता है कि जायसी के पूर्वज अरब देश से आये थे। वह भारतीय मुसलमान नहीं थे। इनके पिता का नाम शेख मुनरेज बताया जाता है। इनके नाना का नाम शेख अलहदाद था और इनकी ससुराल मानिकपुर में थी।

परिवार एवं गृहस्थ जीवन : ऐसा कहा जाता है कि जायसी के तीन भाई थे – मलिक शेख मुंसिफी मलिक मोहम्मद जायसी, मलिक शेख मुजफ्फर और मलिक शेख हाफिज। आज भी जायसी के वंशज जायस में रहते हैं। कतिपय विद्वानों के मतानुसार जायसी बाल्यकाल से ही साधु फकीरों के साथ घूमते हुये विरक्त हो गये थे किन्तु एक जनश्रुति यह भी है कि जायसी विवाहित थे, इनके सात पुत्र थे। एक बार दुर्घटना में मकान की छत गिरने से सभी की मृत्यु हो गई और जायसी विरक्त हो गये। "पद्मावत" में जायसी

द्वारा जिस दाम्पत्य जीवन का चित्रण किया गया है वह प्रमाण्य है कि जायसी को दाम्पत्य जीवन का गहरा अनुभव था।

जायसी के मित्र : जायसी ने अपने चार मित्रों की चर्चा की है, यथा – मलिक युसुफ, सालार खादिम, मियाँ सलोने और शेख बड़े की चर्चा।

"चारि मीत कवि मुहम्मद पाये, जोरि मिताई सिर पहुंचाये।
युसुफ मलिक पण्डित बहु ज्ञानी, पहले भेद बात वै जानी।
पुलि सलार कादिम मतिमाहां, खांडे दान उभैनित बहां।
मियां सलोने सिंध बरियारु, बीर खेतरन खड़ग जुझारु।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाना, किये आदेस सिद्ध बड़माना।
चारिउ चतुरदास गुन पढ़े, औ संजोग गोसाई गढ़े।।"

अपने मित्रों के अतिरिक्त जायसी ने अपने आश्रयदाता का भी उल्लेख किया है। गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगदेव के आश्रम में कवि रहे थे। इनका समय सं. १५४८ वि. सन् १५२७ ई. माना जाता है। इन समस्त प्रमाणों से जायसी के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जायसी की गुरु परम्परा : जायसी सूफी संत कवि थे। उन्होंने अपनी परम्परा के अनुसार गुरु परम्परा का जो उल्लेख किया है, उसके कारण भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पद्मावत में जायसी ने लिखा है –

"सैयद असरफ पीर पियारा, जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा।"

तथा –

"गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा, चलै उताइल जेहि कर सेवा।।"

तथा –

"पा पाएउ गुरु मोंहदी मीठा, मिलापंथ से दरसन दीठा।।"

डॉ. ग्रियर्सन ने शेख मोहदी मुहीउद्दीन को जायसी का दीक्षा गुरु माना है। उनके इस तथ्य का आधार जायसी द्वारा सैयद अशरफ तथा मुहीउद्दीन का सादर उल्लेख माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है – "उनके दीक्षा गुरु तो सैयद असरफ थे परन्तु पीछे से उन्होंने मुहीउद्दीन की सेवा करके उनसे बहुत कुछ ज्ञानोपदेश तथा शिक्षा प्राप्त की। जायस वाले तो सैयद असरफ के पोते मुबारक शाह बोदले को उनका गुरु बताते हैं पर यह ठीक नहीं जंचता।" डॉ. जयदेव लिखते हैं "जायसी का गुरुद्वारा जायस था। उनके दीक्षा गुरु मखदूम साहब की गद्दी से उत्तराधिकारी मुबारक थे।" श्रीरामपूजन तिवारी के अनुसार – "सूफियों में प्रचलित पीर तथा गुरु सम्बन्धी विश्वासों की तुलना करते हुये यह सिद्ध किया है कि सूफी साधना में गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा साधना में रत शिष्य की रजा करता है तथा साधना पथ पर अग्रसर होते रहने में सहायता करता है। पीर सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। गुरु लय होने के पश्चात् साधक पीर की दिव्य शक्ति का अंग बन जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती उने पीर थे, और शेख मुवारक उनके गुरु थे। ये दोनों ही निजामुद्दीन औलिया की परम्परा में आते

हैं। दीक्षा पद्धति तथा ऐतिहासिक क्रम के अनुसार भी यह तथ्य ठीक माना जाना चाहिये।

जायसी का व्यक्तित्व और शिक्षा : अन्तर्साक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य की उपलब्ध सामग्री से यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक दृष्टि से जायसी अत्यन्त कुरूप थे। कहते हैं बाल्यावस्था में शीतलता के प्रकोप से कवि की बांयी आंख और कान जाते रहे। सैयद कुल्बे मुस्तफा के अनुसार जायसी लूले और लंगड़े थे। किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता। पद्मावत की निम्नांकित पंक्ति जायसी के सम्बन्ध में संकेत देती हैं –

"एक नयन जस दरपन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रुपवन्तहिं पाउं गहि मुख जो जोहहिं कै चाउ।।"

तथा

"मुहम्मद बाई दिसि तजी एक सखन एक आंखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पांखि।।"

जायसी की कुरूपता और प्रत्युत्पन्न मति का परिचय देने वाली शेरशाह के दरबार की यह घटना है जिसमें अपने पर हंसने वाले को कवि ने "मोहिं का हंससि कि काहेरहिं" कह कर लज्जित किया था। वास्तव में जायसी अपने समय के प्रतिभा सम्पन्न और बहुविद कवि थे। उन्होंने देश भ्रमण के साथ–साथ विभिन्न धर्म सम्प्रदायों का भी अध्ययन किया था। इसी के परिणाम स्वरूप उनके साहित्य में सूफी मत और इस्लाम के अतिरिक्त भारतीय अद्वैतवाद, हठयोग, महायोनियों में शून्यवाद, बौद्धों के विज्ञानवाद, शंकर के मायावाद आदि के सिद्धान्तों तथा मान्यताओं का सफल प्रतिपादन हो सका है। डॉ. जयदेव ने जायसी के चरित्र का विश्लेषण करते हुये लिखा है – "मलिक साहब बड़े सच्चरित्र, कर्तव्यनिष्ठ और गुरुभक्त थे। इनकी सरलता, सहृदयता, अनुभवशीलता एवं विलक्षणता इनके कार्यों में पूर्ण रूप से प्रकट होती है। ये अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों की श्रद्धा के पात्र थे। उनका ईश्वरीय नियंत्रण में अटल विश्वास था।"

जायसी की मृत्यु तथा स्थान : जायसी की मृत्यु तिथि भी विवादास्पद है। कोई निश्चित तिथि नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से इसका उल्लेख किया है। जायसी का अमेठी राज्य से गहरा सम्बन्ध बताया जाता है, और शेरशाह से भी उनकी भेंट की कथा कही जाती है। जायसी की मृत्यु ६४६ हिजरी अर्थात् सन्१५४२ ई. के लगभग मानी जाती है। इस सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियां भी प्रचलित हैं। एक जनश्रुति है कि जायसी की मृत्यु महाराज अमेठी के आश्रय में हुई थी। हिजरी सन् ६४८ में उन्हें राज्य की ओर से आमंत्रित किया गया था, और सन् ६४६ हिजरी में उनकी मृत्यु हो गई थी। ऐसा कहा जाता है कि जायसी की मृत्यु बहेलियों की गोली लगने से हुई थी। अमेठी के राजा तथा बहेलिया से सम्बन्धित जनश्रुति, अमेठी के दुर्ग से पौन मील की दूरी पर बनी हुई कवि की कब्र इस तथ्य की पुष्टि करती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी एक सहृदय, संवेदनशील व भगवद्भक्त व्यक्ति थे। जायसी अपने समय के पहुंचे हुये फकीर माने जाते थे। इस प्रकार जायसी के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रसंगों के आधार पर यह माना जा सकता है कि वह ऐसे सन्त कवि

और प्रेमी थे, जिनकी प्रेरणा पाकर हिन्दू और मुसलमानों को वैमनस्य समाप्त हुआ था। देश मे पुनः प्रेम व ऐक्य का वातावरण व्याप्त हो सका।

जायसी की कृतियाँ : जायसी की रचनाओं की संख्या भी विवादास्पद है। जनश्रुति तथा जायसी के अनुयायियों के अनुसार कवि ने चौदह पुस्तकों की रचना की है। नागरी प्रचारिणी प्रत्रिका में जायसी कृत निम्नांकित रचनाओं का उल्लेख किया गया है –

१. पद्मावत २. अखरावट ३. आखिरी कलाम ४. सखरावत ५. चम्पावन ६. मटकावत ७. इतरावत ८. चित्रावत तथा चित्ररेखा ९. कहरानाम १०. मोराईनामा ११. सुकहरानामा १२. मोस्तीनामा १३. मुखरानामा १४. सकरानामा १५. खुर्वानामा १६. होलीनामा १७. नैनावत १८. मेखरावटनामा १९. जपसी २०. धनावत २१. जपजी २२. अन्य स्फुट छन्द २३. सोरठ २४. मसलानामा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केवल तीन पुस्तकों को ही **"जायसी ग्रन्थावली"** में स्थान दिया है – पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम। इस प्रकार जायसी के नाम पर जो विपुल साहित्य कहा जाता है उसे देखकर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया हैं कि बहुत सम्भव है कि पद्मावत की रचयिता की कीर्ति से प्रभावित होकर जायस के अन्य कवियों ने प्रेम गाथाओं की रचना की हो। किन्तु पद्मावत के स्तर की न होने के कारण उनकी प्रसिद्धि न हुई हो और कालान्तर में ऐसी सभी रचनायें जायसी के नाम से अभिहित कर दी गई हों। अभी तक जायसी के निम्नलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन हो सका है – पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरानामा, मसलानामा और चित्ररेखा। उपर्युक्त कृतियों में पद्मावत ही कवि की अमर कृति हैं। जायसी का यह सुपरिचित महाकाव्य "पद्मावत" मसनवी शैली पर लिखा गया है। "अखरावट" मे – ईश्वर, जीव, सृष्टि आदि सिद्धान्त सम्बन्धी तत्वों से पूर्ण चौपाईयाँ हैं तथा "आखिरी कलाम" में कयामत का वर्णन है।

किन्तु जायसी की बहुज्ञता, मर्मस्पर्शिता, आस्था एवं अनुभूतिमयता का जैसा परिचय पद्मावत से प्राप्त होता है वैसा अन्य कृतियों से नहीं। वस्तुतः पद्मावत में जायसी का व्यक्तित्व अपनी पूर्णता में प्रतिभासित हुआ है। भक्ति के धरातल पर सामंजस्य स्थापित करने के लिये भक्ति का जो विराट आन्दोलन भारत में प्रसारित हुआ था, उसमें रागात्मिका वृत्ति का जैसा समाहार "पद्मावत" में हुआ है, वैसा अन्य किसी रचना में नहीं हो सका।

इन्हीं कारणों से पद्मावत और जायसी को सूफी साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ और प्रतिनिधि कवि माना जाता है।

"हिन्दी सूफी काव्यधारा में जायसी"

प्रश्न २. सूफी काव्य धारान्तर्गत जायसी का महत्व स्पष्ट कीजिये।

उत्तर – हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सूफी प्रेम काव्य धारा का प्रारम्भ मुल्ला दाऊद की "चांदायन" नामक प्रेम काव्य से माना जाता है। यद्यपि जायसी की कृति पद्मावत में

कतिपय अन्य प्रेम कथाओं के नामोल्लेख मिलते हैं – जैसे सपनावती, मुगुधावति, मिरगावति, खण्डावति, मधु मालती तथा प्रेमावती। जायसी ग्रन्था. पृ. १०७–१०८। तथापि इनमें केवल मृगावती और मधु मालती ही उपलब्ध है। शेष कथायें अभी तक अप्राप्य हैं। अन्वेष्य तथ्यों के आधार पर हिन्दी सूफी प्रेम काव्य धारा के प्रथम ज्ञात कवि मुल्ला दाऊद हैं और उनकी कृति "चांदायन" ज्ञात प्रथम हिन्दी सूफी प्रेम काव्य। इसका उल्लेख अब्दुल कादिर बदायूंनी की "मतुखबुतवारीख" नामक इतिहास ग्रन्थ में ही मिलता है, जिसमें बताया गया है कि हिन्दी की मसनवी में नूरक व चन्दा के प्रेम का वर्णन मुल्ला दाऊद ने किया था। मुतखबुतवारीख, भाग २ पृ. २५०। हिन्दी के इतिहास ग्रन्थों में भी हिन्दी के प्रथम सूफी कवि के रूप में मुल्ला दाऊद का नामोल्लेख है। इनका रचनाकाल हिजरी ७८१ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के प्राप्य प्रेम काव्यों में से कुतुवन कृत मृगावती सबसे प्राचीन रचना है। यह रचना हिजरी सन् ६०६ अथवा सन् १५०३ ई. मानी जाती है। इसमें गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूप मुरारी की पुत्री मृगावती की प्रेम–कथा वर्णित है।

इसके साथ ही सं. १५०० से १५५०, १०४२ ई. से १४७३ ई. के बीच में नारायणदास तथा रत्नरंग कृत "छिताई बार्ता" मिलती है। जिसमें अलाउद्दीन और देव गिरि के राजा रामदेव की पुत्री छिताई को आधार बनाकर काव्य रचना की गई है। इसके अनन्तर सूफी प्रेम काव्यों में सबसे प्रसिद्ध रचना पद्मावत है जिसके रचयिता जायसी हैं। हिजरी सन् ६२७ सन् १५२० ई. इसका रचनाकाल है। इसके उपरांत मंझन कृत मधुमालती काव्य मिलता है जिसका रचनाकाल हि. सन् ६५२ माना जाता है। इसमें कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राजकुमारी मधु मालती की प्रेमकथा रोचक ढंग से वर्णित है। इसके उपरांत उसमान कृत "चित्रावली" काव्य की गणना की जाती है। यह हिजरी सन् १०२२ की रचना है। इसमें पाल के राजा धरतीधर के पुत्र सुजान और रूप नगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम की कथा वर्णित है। तदुपरान्त "जान कवि कृत २१ सूफी प्रेम काव्य मिलते हैं। जिनके नाम क्रमशः रत्नावली, लैला–मजनू, रतन–मंजरी, नल दमयन्ती, पहुप–बरिया, कमलावती, छविसागर, कामलता, कलावती, छीता, रूप मंजरी, मोहिनी–चन्द्रसेन, सील निधान, काम रानी, पीतमदास, कला कलन्दर की कथा, देवल देवी, कनकावती, कौतूहल सुमर राह तथा बुद्धि सागर हैं – जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य – डॉ. सरला शुक्ल पृ. १३६ इनमें से कनकावती, कामलता और छीता अधिक प्रसिद्ध है। कनकावती में भरथनेर के राजकुमार परम रूप तथा सिंधपुर की राजकुमारी कनकावती की प्रणय कथा चित्रित है। "कानलता" में हंसपुी नगरी के राजा रसाल, तथा सुन्दर पुरी की शासिका कानलता की प्रेम कथा है। "छीता" में देवगिरि के राज की पुत्री छीता तथा राजाराम की प्रेम कथा मिलती है। इस कथा पर जायसी के पद्मावत का पूर्ण प्रभाव है।

जानकवि के ही समकालीन कवि शेखनवी कृत "ज्ञान दीप" नामक प्रेम काव्य उपलब्ध है। इसके उपरांत कवि कासिम शाह कृत हंस–जवाहिर नामक प्रेम काव्य मिलता है। यह रचना लगभग हि. सन् ११४६ की है। इसमें बलख नगर के सुल्तान बुरहान शाह

के राजकुमार हंस तथा चीन के राजा आलम शाह की पुत्री जवाहिर के प्रेम का वर्णन मिलता है। जिनका रचनाकाल क्रमशः हि. सन् ११५७ तथा ११७८ है। तदन्तर कवि निसार कृत "युसुफ जुलेखा" नाम काव्य मिलता है। इसका रचना काल हि. सन् १२०५ है। इसकी कथा शामी परम्परा पर आधारित है। इसके उपरांत ख्वाजा अहमद कृत "नूरजहाँ" काव्य मिलता है जो हि. १३१३ की रचना है। इसके अनन्तर शेख रहीम कृत "प्रेम–रस" नामक प्रेम–कथा मिलता है। जो हि. १३१३ की रचना है। जिसमें रूपनगर के राजा रूपसेन की पुत्री चन्द्रकला और वहां के मंत्री मधुसेन के पुत्र प्रेमा के प्रेम का वर्णन है। इसके उपरांत कवि नसीर कृत "प्रेम दर्पण" नामक प्रेम काव्य मिलता है। यह हि. सन् १३३५ की रचना है। इसमें भी युसुफ और जुलेखा के प्रेम का ही वर्णन है। इसके पश्चात् अली मुरीद कृत "कुंवरावत" हुसेन अलीन उपनाम सदानन्द कृत पुहुपावती तथा शाह जनकअली सलोनी कृत प्रेम चिनगारी नामक प्रेमी काव्य भी उपलब्ध है।

उपर्युक्त सभी सूफियों के प्रेम काव्य प्रबन्ध काव्य हैं। इनमें सर्वत्र राजकुमार और राजकुमारियों के प्रेम का वर्णन मिलता है। इनके कथानक भी प्रायः काल्पनिक घटनाओं पर ही आधारित हैं किन्तु कहीं–कहीं ऐतिहासिक घटनाओं को भी जोड़ दिया गया है। ये सभी कवि कथानक की घटनाओं को यथावट स्वाभाविक रूप से अन्त तक ले ज़ाने की चेष्टा करते हैं और कथा के अन्तर्गत आध्यात्मिक विचारों का पुट भी देते चलते हैं। ये कवि अपनी कथा को एक रूपक का रूप दे देते हैं। इस तरह सभी सूफी प्रेम काव्य एक कथा रूपक के रूप में निर्मित हुये हैं।

इन सूफी कवियों में जायसी का पद्मावत कथा योजना तथा काव्य सौष्ठव की दृष्टि से श्रेष्ठ है। जायसी के पूर्ववर्ती काव्य में भी पद्मावत का सा सौन्दर्य नहीं है। इसमें राजा रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम कथा है। इसके अतिरिक्त जायसी के पूर्ववर्ती सूफी काव्य तो पूर्णतः जायसी के पद्मावत से प्रभावित जान पड़ते हैं। "उसमान" का "चित्रावली" काव्य तो पद्मावत के अनुसार ही घटनाओं एवं सूफी सिद्धान्तों की योजना की है। इतना ही नहीं पद्मावत की ही भाँति इन परवर्ती काव्यों में नायक–नायिका के संयोग–वियोग, आमोद–प्रमोद, विघ्न–बाधा आदि का उल्लेख किया गया है। किन्तु कोई भी जायसी का परवर्ती कवि जायसी की समता नहीं कर सकता। जायसी का पद्मावत काव्य सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय है। उसमें सरल एवं आलंकारिक भाषा के अन्तर्गत इतिवृत्तात्मकता के साथ–साथ रसात्मकता एवं कौतूहल की सृष्टि की गई है, वैसी अन्यत्र कहीं किसी सूफी काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके साथ ही जायसी ने नागमती के विरह का जैसा मनोवैज्ञानिक एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है वैसा कोई भी सूफी कवि नहीं कर सका है। इतना ही नहीं जायसी ने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा की है। जायसी कृत पद्मावत समस्त हिन्दी सूफी काव्य में सर्वश्रेष्ठ है। उसमें प्रेम काव्य का सुन्दर एवं जीवन्त आदर्श प्रस्तुत किया गया है। अपनी उर्वर कल्पना, प्रखर प्रतिभा एवं उत्कृष्ट कवित्व शक्ति के कारण ही जायसी हिन्दी के सम्पूर्ण सूफी कवियों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं और इसी कारण वे हिन्दी की सूफी प्रेम काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

"जायसी का रहस्यवाद एवं दर्शन"

प्रश्न ३. जायसी के रहस्यवाद एवं दर्शन पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – ज्ञान और चेतना के उदय काल में सम्पूर्ण जगत में व्याप्त अज्ञानता, असीम एवं गोचर सत्ता का अनिर्वचनीय सौन्दर्य देख कर मानव में आकर्षण, जिज्ञासा और आश्चर्य का उदय हुआ। इस अज्ञात का रहस्य जानने के लिये मानव आदि–काल से ही प्रयत्नशील हुआ। वह सत्य की खोज करना चाहता था। जिस समय उसने बौद्धिकता को जिज्ञासा की कसौटी पर रखा तब दर्शन का जन्म हुआ। जब उपयोगिता और जीवन रक्षा का आधार मानकर प्रयत्नशील हुआ तब सामाजिकता और विज्ञान का उदय् हुआ। किन्तु इतने पर भी उस रहस्यमय की पूर्णता ज्ञात न हुई। भावुक मानव में प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके सान्त से अनन्त तक ससीम से असीम तक के विविध सम्बन्धों की आवतारणा की। इस भावात्मक अनुभूति में सुख–दुख, हर्ष विषाद, हास–परिहास, मिलन और वियोग की अनुभूतियाँ व्यक्त हो उठीं। इस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा–परमात्मा की अद्वैतता की स्थापना हुई और भावात्मक क्षेत्र की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद की संज्ञा दी गई।

वस्तुतः रहस्यवाद का सम्बन्ध भावना जगत से है। इसी भाव को परिभाषाबद्ध करते हुए **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने कहा था, "साधना के क्षेत्र में अथवा चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में या काव्य में रहस्यावाद है।"

डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार – "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।"

श्री जयशंकर प्रसाद के मत में – "रहस्यवाद आत्म की उस मूल संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा हैं।"

डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में – "रहस्यवाद साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार उस मनःप्रवृत्ति का प्रकाशन है, जो अव्यक्त और सर्वव्यापी ब्रह्मवाद से परिचित होने के लिये प्रयास करती है। यह प्रवृत्ति मन का गुण है। इस प्रकाशन काव्य से होता है। यह प्रयास जिस भाव साधना के सोपानों से अग्रसर होता है, वह एक उच्च स्तर की मानसिक स्थिति होती है। यह स्थिति साधारणजन के लिये रहस्यवाद है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान देने से यह निष्कर्ष निकलता है कि रहस्यवाद का मूल प्रतिपाद्य ज्ञानातीत सत्य है। ज्ञानातीत सत्य आध्यात्मिक चिन्तन नहीं वरन् अनुभूति का विषय है। वह जीवात्मा और परमात्मा का भावात्मक ऐक्यानुभूति का प्रकाशन है। रहस्यवाद के स्वरूप को विविध रूपों में प्रस्तुत किया जाता है – भावात्मक रहस्यवाद, साधनात्मक रहस्यवाद, प्रकृति मूलक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, यौगिक रहस्यवाद और अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद।

इस दृष्टि से जायसी पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि जायसी भावनामूलक रहस्यवादी कवि हैं। जायसी सूफी कवि है। इसके काव्य की आधार भूमि प्रेम है। जीवात्मा प्रेमाभिभूत हो कर उस अनंत सौन्दर्यमय प्रिय के दर्शन–साक्षात्कार करने की उत्कृष्ट अभिलाषा रखती है। इतना ही नहीं प्रेम में तन्मय हो उस परम सत्ता से जो स्वयं प्रेम स्वरूप है तदाकार हो ऐक्य स्थापन करना चाहती है। जायसी की इस प्रक्रिया में प्रेम मूलक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है।

यहाँ जायसी के रहस्यवाद पर विचार प्रस्तुत हैं – उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि जायसी के महाकाव्य पद्मावत को पढ़कर अनायास ही रहस्यवाद का पता लगाया जा सकता है। पद्मावत मे अनेक स्थलों पर रहस्यात्मक उक्तियाँ मिलती हैं। इन उक्तियों में कहीं तो "रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती" कहकर उस अव्यक्त, अगोचर सत्ता की ओर संकेत किया है जो अनन्त आलोकमयी है। जिसके दिव्य आलोक में सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ आलोकित है। जायसी कहीं तो "ना वह मिला न बेहिरा ऐस रहा भरपूर" कह कर उस परम सत्ता की सर्वव्यापकता की ओर इंगित कर रहे हैं कहीं उसकी सर्व विद्यमानता पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं –

"परगट गुपुत सकल महं पूरि रहा सो नाँव।
जहं देखौ तहं ओही दूसरि तहिं जहं जाँव।।"

कहीं – "उन बानन्ह अस की जो न मारा, बेधि रहा सगरौ संसारा।" कहकर जगत के अणु–अणु एवं कण–कण में उसकी सत्ता के आभास एवं व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है। कहीं जायसी उसी मूल सत्ता का प्रतिबिम्ब ही सृष्टि का समस्त सौन्दर्य बताया है – यथा – "नयन जो देखा कमल भा" या "हंस जो देखा हंसत भा" आदि। और कहीं "पिउ हिरदय में भेंट न होई" कहकर प्रत्येक जीवात्मा के अन्तर्गत अद्वैत भाव के साथ विद्यमान उस परम सत्ता की ओर संकेत किया है। इस प्रकार सर्वात्यवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अद्वैतवाद के सहारे जायसी ने उस अगम अगोचर सत्ता को अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त बताया है। जीव–जगत के साथ उसका अद्वैत भाव बताते हुए विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को उसी परम सत्ता का प्रतिबिम्ब सिद्ध किया है।

जायसी ने अपनी रहस्यात्मक उक्तियों के द्वारा परम सत्ता के उस अव्यक्त अगोचर एवं अगम्य स्थान की ओर भी संकेत किया है। जहाँ न सूर्य चन्द्र पहुंच पाते हैं न पवन ही जा सकता है। जहाँ साधना के बिना कोई भी नहीं पहुंच सक़ता है। इसीलिए – "चाँद सूरज औ नखत तराई, तेहि डर अन्तरिख फिरइ सवाई।" तथा "पौन जाइ तहं पहुंचै चाहा, मारा तैस लोटि भुई रहा" कहकर प्रकृति के इन तत्वों के लिए उसे अगम्य सिद्ध किया है। अग्नि और धुवां तथा पानी के पानी के लिए भी वह स्थान अगम्य है। इतना ही नहीं जायसी ने " जेहि वह पाइ छाँह अनूपा, फिरि नहिं आइ सके यह धूपा।" कह कर उस विराट सत्ता के स्थान का अनुपम छाया से युक्त बताया है। जो भी साधक अपनी साधन के द्वारा वहाँ पहुँच जाता है फिर उसे सांसारिक सन्तापों के सहने के लिए यहाँ नही आना पड़ता। और वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। परन्तु इतना ऊँचा होने पर भी

वह स्थान कहीं दूर नहीं है, वह हमारे ही हृदय में विद्यमान है। किन्तु प्रज्ञा–चक्षु वाले ही इसे देख पाते हैं। इसी कारण जायसी ने "अहुठ हाथ तन सरवर हिया कवंल तेहि मांह, नैनहि जानहु नीयरे कर पहुंचत औगाह।" कहकर प्रत्येक जीवात्मा के शरीर सरोवर के हृदय कमल के रूप में उस ब्रह्म का स्थान बताया है। जो स्थूल नेत्रों से तो निकट जान पडता है। किन्तु अगाह जल में अवगाहन किये बिना हाथ से कोई ग्रहण नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जायसी ने – "होइ विवाह पुनि होइहिं गवना, गवनब तहाँ बहुरि नहिं अवना।" कहकर भी उसी स्थान की ओर संकेत किया है। जहाँ आत्मा परमात्मा के साथ एकाकार हो जाने पर पुनः इस भौतिक जगत में नहीं आती।

इसके अतिरिक्त जायसी ने अपनी रहस्यात्मक उक्तियों में उस परम सत्ता के साधक, साधनापथ एवं साधना पथ के विघ्नों का बड़ा जीवान्त चित्रण किया है। "प्रेम–खण्ड" में – परम सत्ता को प्राप्त करने के लिए हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर पागलों की सी दशा होती है। इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन जायसी ने किया है। जिसमें – "उठा रोइ हो ग्यान सो खोआ" कहकर साधक को बालक की तरह रोते हुए दिखाया है। तथा "हों तो अहा अमर पुर जहाँ, इहाँ मरन पुर आएहुं काहाँ।" कह कर साधक की उस "हाल" की स्थिति की ओर संकेत किया है। जिसमें वह कुछ क्षणों के लिए उस परम सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके इस दृश्य जगत के प्रपंचों से मुक्त हो जाता है और अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करना है। साधना का यह पंथ सरल एवं सुगम नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति जायसी ने इस प्रकार की है –

"ओहि पथ जाय जो होइ उदासी।
जोगी जती तथा सन्यासी।।"

आदि को ही इस साधना पथ का वर्तमान पथिक बताया है। साथ ही जायसी ने –
"है आगे परबत कै बटा, विषय पहार अगम सुढ़ि घाटा।
बिच बिच नदी खोई औ नारा, ठावहिं ठांव बैठ बटपारा।।"
तथा "हनुवंत कर सुनव पुनि हाँका, दहुं को पार होई को थाका।।"
साधना पथ की अनेकानेक बाधाओं को उल्लेख किया है।

जायसी ने अपने रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा–परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन की स्थिति का भी बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। इसीलिए कवि स्वयं आत्मा के मुख से ये उद्गार व्यक्ति करा रहा है – "श्रृंगार करके उस प्रियतम के पास किस स्थान पर जाऊं अब तो हम उसकी स्थान–स्थान पर सर्वत्र देख रही हैं। मेरे हृदय में वहीं प्राण प्यारा बैठा है। शरीर में भी वहीं है। जो मुझसे अलग नहीं हो सकता है। आँखों में देखों तो वहीं बसा हुआ है। मैं तो जहाँ देखती हूँ उसके सिवाय कुछ भी नहीं देखती। मेरे अन्तर मे समाये हुए अपने रस को पान नहीं कर रहा है। आज जीवात्मा ने ब्रह्म को सभी कुछ सौंप दिया है। यथा -

"करि सिंगार तापहं का जाऊं । ओही देखहुं नवहिनऊं।
जौ जिउ माहं है तो उहै पियारा, तन मन सों नहिं निनारा।।

नैन मांह है उहै समाना, देखौ तहाँ नहिं कोउ आना।
आपुन रस आपु पै लेई, अधर सोई जागै रस देई।।
हिया थार कुच कंचन लाडू, अगमन भेंहि दीन्ह कै चाँडू।
हुलसी लंक लंक सौ लसी, रावन कहसि कसौटी कसी।।
जोवन पर्व मिला ओहि जाई, हौं रे बीच हुंतगहउं हेराई।
जस कछु देह धरै कह, आपन लेइ संभारि।
तस सिंगार सब लीन्हेसि, मोहि कीन्हेसि ठठियारि।।"

इस प्रकार पद्मावत में रहस्यवाद की सभी स्थितियाँ विद्यमान हैं। जायसी ने साधक की जिज्ञासा साध्य के महत्व का प्रदर्शन, उसके दर्शन या मिलन का प्रयत्न, भौतिक विघ्न बाधाओं की विवृत्ति, साध्य के दर्शन अभ्यास, सांसारिक प्रपंचों का ज्ञान और अपरोक्ष की अनुभूति द्वारा साध्य–साधक के मिलने की, आनन्दमयी स्थिति आदि बड़े ही सजीव एवं मार्मिक चित्र अंकित किये हैं। उत्कंठा एवं विरह की विहलता को बढ़ा चढ़ाकर लिखा है। हठयोग एवं रसायन आदि का आश्रय लेकर साधना पथ का भी निरूपण किया है। अन्तरतम में विद्यमान उस प्रकाशमयी सत्ता के सामीप्य भाव की अनुभूति द्वारा उत्पन्न अपरिमित आनन्द की व्यंजना भी बड़े ही मार्मिक शब्दों में की है। अतः जायसी के रहस्यवाद में रहस्यात्मक अनुभूति का प्राधान्य है। उस अनुभूति में भावना का प्राधान्य है। भावुकता के वर्णन में रहस्यात्मक संकेतों एवं भावात्मक अभिव्यक्ति का प्राधान्य है। इसी से जायसी का रहस्यवाद सरस एवं रोचक है। सरस एवं मधुर उक्तियों का बाहुल्य है। साथ ही संवेदनशीलता एवं सहानुभूति के साथ रमणीयता एवं रसमयता के दर्शन होते हैं।

निष्कर्षत : जायसी के रहस्यवाद की निम्नांकित विशेषतायें हैं –

१– जायसी उच्च कोटि के साधक भक्त कवि हैं। अतएव साधना के क्षेत्र में साधनात्मक रहस्यवाद को मानने वाले हैं। जिसमें भावुकता का प्राधान्य है।

२– इनके रहस्यवाद में हठयोग, तंत्र, रसायन का उल्लेख है।

३– जायसी की प्रेमानुभूति एवं प्रेम की तन्मयता उच्च कोटि की है अपने साध्य के लिये सर्वस्व समर्पण की भावना, लौकिक प्रेम की अलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम में परिणत करने की अपूर्व क्षमता है। आत्मा–परमात्मा के मिलन की रमणीयता है।

४– आत्मा–परमात्मा के मिलन में माया को बाधक कहा है। **"माया अलादीन सुल्तानु।"**

५– आत्मा–परमात्मा से विमुक्त होकर परमात्मा के विछोह में पागल एवं विहल दिखाया है। मिलन के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न में बाधाओं का चित्रण है। तदन्तर अपनी एकाग्रता, अनन्यता के कारण विघ्नों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा के साथ एकात्म भाव स्थापित करते हुय दिखाया है।

६– दाम्पत्य भाव द्वारा आत्मा–परमात्मा के मिलन की अभिव्यंजना की है। अतएव माधुर्य एवं रति भाव का महत्ता स्थापित कर आत्मा के मिलन के क्षणों का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।

७– उस रहस्यमयी सत्ता को सर्व व्यापी, सर्वान्तरयामी, सार्वभौम सत्तामयी सिद्ध किया है। अहं ब्रह्मास्मि का अनुसरण करते हुये अपने ही भीतर उस परम सत्ता के दर्शन किये हैं। हृदय में ही आत्मा–परमात्मा का मिलन संजोया है। इस रुप में इनके रहस्यवाद में अद्वैतवाद का प्रभाव है।

८– गुरु का महत्व आत्मा–परमात्मा के मिलाने में स्वीकार किया है।

६– रहस्यमयी सत्ता के संकेत के लिये अन्योक्ति का सहारा लिया है। अतएव दूरारुढ़ व्यंजना के दर्शन होते हैं।

१०– जायसी के रहस्यवाद में सूफी–भावना का प्रभाव होने के कारण समष्टि मूलकता एवं सांकेतिकता का प्राधान्य है।

११– जायसी के फारसी पद्वति के आधार पर ब्रह्म को स्त्री एवं जीव को पुरुष रूप में महत्व दिया है।

१२– एक प्रेमाख्यान के माध्यम से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। अतएव इसमें नाटकीयता एवं माधुर्य अधिक है।

१३– दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर जायसी के रहस्यवाद के सर्वात्मवाद, अद्वैतवाद, प्रतिबिम्बवाद का सम्मिश्रण है।

जायसी का दर्शन – जायसी सूफी कवि थे, जाति से मुसलमान थे। इसके विचारों एवं सिद्धान्तों में इस्लाम और हिन्दुत्व का अद्भुत सम्मिश्रण है। यह अपनी वाणी से लोक जीवन का रस मग्न करते रहे।

सूफी परम्परा के कवि होने के कारण जायसी के लौकिक प्रेम और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक रुप में देखा और ध्वनित किया। सूफी संतो का सम्प्रदाय हिन्दू धर्म से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद के निकट पहुंच जाते हैं। इस्लाम धर्म से निकलकर हिन्दू धर्म से प्रभावित होकर सूफी धर्म इस्लाम और हिन्दू धर्म का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार निर्गुण ज्ञान मार्गी संत कवियों ने हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया, उसी प्रकार सूफी कवियों ने सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न किया। उनके मतानुसार आत्मा–परमात्मा के मिलन में शैतान बाधक है। सच्चे गुरु ही मानव की आत्मा का परमात्मा से मिलन करा सकता है। सूफी संतों ने हिन्दुओं के घरों को प्रेम गाथाओं को लेकर अपने अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की। जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे। उनके दार्शनिक विचारों का ईश्वर, जीव, सृष्टि, माया शैतान पीन आदि के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार प्रस्तुत करेंगे।

ईश्वर – सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है, जिसका नाम हक है – जायसी के शब्दों में "संवरी" आदि एक करतारु, जेइ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारु" आत्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। आत्मा उसके सामने अपने को बन्दे के रुप में प्रस्तुत करती है। वह जीव प्रेम के द्वारा उस ईश्वर तक पहुंचने का प्रयास करता है। ईश्वर तक पहुंचने के लिये बन्दे को चार अवस्थायें पार करनी पड़ती हैं – शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारीफत। मारीफत मे रूह जीवन प्राप्त करने के लिए "फना" हो जाती है। इस फना होने में उसका प्रेम ही सहायक है।

सूफी संतों का ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, अलख, अनादि, शक्तिमान, अजन्मा सर्वव्यापी, अनन्त और अवर्णनीय होने पर भी उनका प्रियतम है। यथा –

"अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सौं सब आहि सो बरता।
परगट गुपुन सो सरब वियापी, धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी।।

....

जो ओहि चह्म सो कीन्हेसि करिअ जो चाहिय कीन्ह।
बरजन हार न कोई सबई चाहि जिअ दीन्ह।।"

सूफियों की एक विशेष बात है कि उनके ईश्वर के प्राप्ति का एकमात्र साधन है – प्रेम।

जीव – कुरान में ब्रह्म जीव का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है। उसमें अल्लाह और मुहम्मद का सम्बन्ध स्पष्ट है। अल्लाह सर्वोपरि है तथा मुहम्मद उसका रसूल है। सूफियों ने वेदान्तियों की भाँति जीव को ब्रह्म माना है। जीव उसी ईश्वर का प्रतिरुप है। अद्वैतवाद से प्रभावित जायसी में इसी भावना का पल्लवन है। परन्तु साधना पक्ष में वह वेदान्त के केवलाद्वैत के बहुत निकट है। यद्यपि वेदान्त ज्ञानाश्रित है। सूफी कवि जायसी भावाश्रित हैं।

सृष्टि – सूफी कवियों की दृष्टि में सृष्टि का उपादान कारण "रूह" है। "रूह" का अभिप्राय है अलौकिक शक्ति, जो मानव में अंश रूप में स्थित है। मानव का आत्मा से जो सम्बन्ध है वहीं "रूह" आत्मा का सृष्टि से है। ईश्वर ने अपनी सत्ता को सर्वप्रथम रूह का रुप दिया, जिससे सृष्टि, फरिश्तों और कल्व की उत्पत्ति हुई। सृष्टि के सारे उपकरण अल्लाह के अंग प्रत्यंग की झलक हैं। सृष्टि में प्रतिबिम्बित अल्लाह के सौन्दर्य पर सूफी मोहित हो जाता है और तन्मय होकर इस प्रकार "हक्क" तक पहुंच जाता है। जायसी के मतानुसार सृष्टि वह दर्पण है जिससे अल्लाह के आत्मदर्शन की कामना पूर्ण होती है। इस दर्पण के अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही इन्सान है।

शैतान और पीर – शंकर मत के अनुसार आत्मा–परमात्मा के मिलन में माया बाधक है। सूफी बन्दे और ईश्वर के सम्मिलन में शैतान को बाधक मानते हैं। शैतान साधक को उसके पथ से विचलित कर देता है। जायसी ने अपने महाकाव्य "पद्मावत" में राघवचेतन को शैतान के रुप में प्रस्तुत किया है। जो राजा रत्नसेन को उसके पथ से विचलित करता है। यथा –

"राघव दूत–सोइ सैतानू, माया अलाउदी सुल्तानू।।"

माया के रुप में अलाउद्दीन को स्वीकारा है इस शैतान से बचने के लिए गुरु पीर की आवश्यकता होती है। इसीलिये सूफियों ने पीर का बड़ा सम्मान किया है। जायसी नें हीरामन शुक का गुरु रुप में मिश्रित किया है –

"गुरु सुआ जेहि पंच देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?"

अन अल् हक्क – अल्लाह और इन्सान एक ही तत्व के बने है। कुछ सूफी कवि कहते हैं। कि परमसत्ता में जीव का सर्वथा लोप की जाता है, कुछ अंशतः मानते हैं सूफियों

की साधना यही है। कि साधक न अल हक्क मैं ब्रह्म हूं अहं ब्रह्मास्मि को स्वयं अनभव करे अतः उसे साधना की आवश्यकता पड़ती है।

जो विरह की साधना हैं। जो अन्ततः जीव ब्रह्म को एक कर देगी और वह आत्मसाक्षात्कार करके यह अनुभव कर सकेगा कि मैं ब्रह्म हूँ।

प्रेम – उक्त विचारों के अतिरिक्त जायसी का मूल जीवन दर्शन ही प्रेम है। वस्तुतः सूफी कवि प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं। इसी से इनका काव्य प्रेम गाथाओं के रुप में प्राप्त होता है। यह प्रेम निःस्वार्थ है। इसी प्रेम के मद में मस्त हो सूफी साधक परमात्मा में लौ लगा लेते है। उन्हें शरीर आदि वाह्य संसार की बातों का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रेम का गायन जायसी करते हैं –

"उन्ह सौं मैं पाई जब करनी, उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी।।" तथा
"प्रेम छाड़ि किछु और न लीन्हा जौ देखौ मन बूझि।"

प्रेम दर्शन के मौलिक तत्व का निरूपण जायसी ने किया है। सूफी मत में प्रेम के सम्बन्ध में एक बात और है, वह यह कि सूफियों ने ईश्वर को स्त्री रूप में माना है अतः भक्त उस स्त्री प्रियतमा की प्रसन्नता के लिये बहुत प्रयत्न करता है। ईश्वर उसके समक्ष एक दैवी स्त्री के रुप में उपस्थित होता है।

"जायसी का रस निरुपण एवं वियोग वर्णन"

प्रश्न ४. जायसी का स्थान रस निरूपण एवं वियोग वर्णन के अप्रतिम कवि हैं। सिद्ध कीजिये।

उत्तर – भारतीय साहित्याचार्यों का विश्वास रहा है – **"वाक्यं रसात्मकं काव्य"**। रसवाद अथवा आनन्दवाद को भारतीय साहित्य, जीवन तथा दर्शन का एक मात्र आधार स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि भरत मुनि से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक जितने भी आचार्य हुये हैं, सभी ने रस को सर्वोच्च स्थान दिया है। रस अति सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त रहता है। यद्यपि आचार्य में रसों की संख्या के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है तथापि नाट्यशास्त्र में श्रृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स इन चारों को प्रमुख रस माना गया है। इन्हीं का विस्तार करके आठ रसों की स्थापना करके शान्त को भी नवम् रस माना गया है। रसों को संख्या के विवेचन में एक बात सर्वमान्य है – श्रृंगार का रस राजत्व।

जायसी का रस निरुपण – वही कवि महानता प्राप्त करता है, जो अपने भाव क्षेत्र को पूर्ण मानवता तक व्याप्त कर दे। ऐसा करने में कवि अपने समाज अथवा वर्ण्य विषय से पूर्ण एकात्मकता स्थापित कर लेता है, तभी उसकी अभिव्यक्ति सजीव बन पाती है। जायसी ऐसे ही रससिद्ध कवि माने जाते हैं। जायसी की अमर कृति "पद्मावत" एक प्रेमाख्यान है। प्रेम गाथा होने के कारण उसका अंगी रस "श्रृंगार" ही है। किन्तु कवित ने अन्य रसों की भी सफल अभिव्यक्ति की है। श्रृंगार का मूल भाव रति है। रति भाव के दो पक्ष माने जाने हैं – **"आत्म पक्ष"** और **"पर पक्ष"**।

आत्म पक्ष के अन्तर्गत प्रेमोत्पत्ति के क्रम और उसके स्वरुप पर विचार किया जाता है। परपक्ष के अन्तर्गत आलम्बन के प्रति आश्रय की अनुरक्ति की मीमांसा की जाती है। जायसी ने पद्मावत में दोनों पक्षों की भावनाओं का प्रभावपूर्ण रूप में चित्रण किया है। जायसी की रति भावना को समझने के लिये यह नहीं भूलना चाहिये कि वे रसिक ही नहीं उच्च कोटि के साधक भी थे। उनका रति भाव सूफी साधक की दिव्यानुरक्ति और महाकवि की मधुर भावना का मिश्रित पाक है। लौकिकता और अलौकिकता के बीच समाहित जायसी रति भाव अनिर्वचनीय है। सूफी साधना के अनुसार प्रेम ही जीवन का सर्वोत्तम जीवन दर्शन, साधना मार्ग अथवा साध्य हैं। इसी मान्यता के कारण पद्मावत का मुख्य भाव रति तथा रस श्रृंगार माना जाता है।

पद्मावत में श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। इसके दो पक्ष संयोग एवं वियोग दोनों का ही आकर्षक चित्रण जायसी ने किया है। यहाँ प्रथम विचार्य है संयोग श्रृंगार।

संयोग श्रृंगार – पद्मावत में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम का चित्रांकन हुआ है। प्रत्यक्ष रुप से इसके आलम्बन और आश्रय तो नायक–नायिका हैं किन्तु अप्रत्यक्ष रुप से इसमें आत्मा–परमात्मा के मिलन का ही वर्णन किया गया है। पद्मावत नामक राजा रत्नसेन और नायिकाओं नागमती और पद्मावती की प्रणय गाथा है। नागमती स्वकीया नायिका है और पद्मावती पहले तो परकीया नायिका है। तदुपरान्त स्वकीया हो जाती है। नागमती रत्नसेन की पत्नी है। इसीलिये उसके श्रृंगार का उन्मुक्त वर्णन मर्यादा के विपरीत होता। पद्मावती के प्रेम वर्णन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं लौकिकता में अलौकिकता की झलक दिखा सकने वाला निर्बाध और स्वतंत्र प्रेम वर्णन इसी में सम्भव था। यही कारण है कि जायसी ने पद्मावती के रति भाव के माध्यम से लौकिक प्रेम एवं संयोग श्रृंगार के चपल चित्र उतारे हैं।

संयोग श्रृंगार के नायिका नायक का सामीप्य चित्रित किया जाता है। दोनों के रति भाव का मूल प्रेरक सौन्दर्य होता है। जायसी सौन्दर्योपासक थे, उन्होने पद्मावती के सौन्दर्य में विराट सौन्दर्य की झांकी प्रस्तुत की है। पद्मावती का नख शिख, श्रृंगार, हास परिहास, रति क्रीड़ा आदि का वर्णन पद्मावत के संयोग श्रृंगार को साकार प्रस्तुत करता है। पद्मावत में वसन्त खण्ड, विवाह खण्ड तथा पद्मावती रत्नसेन भेंट खण्ड षड्ऋतु वर्णन खण्ड, लक्ष्म समुद्र खण्ड, चित्तौड़ आगमन खण्ड, पद्मावती मिलन खण्ड आदि प्रसंगों में संयोग वर्णन के सभी शास्त्रीय, शारीरिक–मानसिक अंगों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। राजा रत्नसेन की बारात को देखकर पद्मावती में प्रेमोल्लास की आतुरता इस प्रकार प्रकट हुई है –

"हुलसे नैन दरस मद माते, हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओप रबि पाई, हुलसि हिया कुंचकि न समाई।
हुलसे कुच कसनी बन्द टूटे, हुलसी भुजा वलय कर फूटे।
आजु चाँद घर आवा सूरु, आजु सिंगार होई सब चूरु।
अंग अंग सब हुलसे कोइ कतहुं न समाई।
नवहिं ठाव विमोही, गइ मुरछा न आइ।।"

प्रेमोल्लास के अतिरिक्त कवि ने राजा रत्नसेन–पद्मावती के संयोग चित्रों का अत्यन्त मादक चित्रण किया है। मिलन से पूर्व नायिका के मन में उत्सुकता, आशंका आदि की स्वाभाविकता को इस छन्द में देखा जा सकता है।

"हौं बरी और दुलहिनि, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौं कस होइहि, चढ़त कंत के सेज।।"

संयोग वर्णन में आलम्बन का सौन्दर्य वर्णन आवश्यक होता है। जायसी ने पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन करते हुये उसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। सुन्दरता, कोमलता, लावण्य, यौवन भार से सम्पन्न पद्मावती का प्रत्येक अंग कवि ने जिस रुप में चित्रित किया है, वह अत्यन्त आकर्षक, मादक तथा मनोहारी है। इस प्रकार संयोग श्रृंगार का सर्वांग चित्रण करने में जायसी को अपूर्व सफलता मिली है। श्रृंगार के विप्रलम्भ पक्ष का वर्णन हम आगे "वियोग वर्णन के अंतर्गत करेंगे।

श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का निरुपण भी पद्मावत में प्रसंगतः हुआ है। यथा–

करुण रस : श्रृंगार के उपरांत जायसी की वृत्ति करुण रस में रमी है। पद्मावत के अंतिम अंश को आचार्य शुक्ल ने करुण रस युक्त माना है। नागमती और पद्मावती के सहगमन का दृश्य करुण रस के साथ–साथ संसार की निस्सारता को भी प्रकट करता है। जिससे शांत रस की व्युत्पत्ति होती है। पद्मावत में दो स्थलों पर करुण रस की अभिव्यंजना हुई है।

(१) जिस प्रकार रत्नसेन सिंहल के लिये प्रस्थान करता है, उस समय चित्तौड़ का दृश्य वर्णन। (२) रत्नसेन की सिंहल से विदाई के समय का वातावरण। करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है।

जायसी ने इसके विभिन्न रुपों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। "जोगी खण्ड" में रत्नसेन चित्तौड़ से प्रस्थान कर रहा है, उस समय रानियों का रुदन, आभूषण तोड़ना आदि को वियोग मूलक करुण रस कह सकते हैं। यथा –

"रावहि रानी तजे पराना, नोचहिं बार करहिं खरिहाना।"
"टूटे मन नौ मोती, फूटे मन रस काँच।
लीन्ह समेटि सब आभरन, होइगा दुख कर नाँच।।"

जायसी ने वात्सल्य मूलक करुण रस की भी सृष्टि की है।

"रोवत माय, न बहुरत बरा, रतन चला, उर भा अंधियारा।
बर मोर जो राजहिं रता, सो लै चला हुआ परबता।।"

शोक मूलक करुण रस का दृश्य तब उपस्थित होता है, जब राजा की अत्येष्टि होती है उसका शव चिता पर रखा जा चुका है। पद्मावती–नागमती उसके कण्ठ से लिपट कर विलाप करती है। इस प्रकार करुण रस का पूर्ण परिपाक भी जायसी के पद्मावत में मिलता है।

वीर रस – वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। श्रृंगार के समान वीर रस का भी हिन्दी साहित्य में महत्व है। पद्मावत प्रेमाख्यान है परन्तु जिस कथा को पद्मावत

अपनाया गया है, उसका झुकाव ऐतिहासिकता की ओर होने के कारण वीर रस परिपाक आवश्यक था। जायसी ने वीर रस का चित्रण पद्मावत मे अलाउद्दीन के साथ युद्ध वर्णन में, गोरा बदल प्रसंग में, तथा रत्नसेन गन्धर्व सेन युद्ध वर्णन में किया है। वीर रस के निरूपण में शत्रु का प्रभाव, शक्ति अहंकार आदि उद्दीपन माने गये है। स्थैर्य, रोमांच, इनके अनुभव हैं। गर्व, घृति, तक, स्मृति, हर्ष, दया, असूया, आवेग आदि संचारी भाव माने गये हैं। जायसी ने वीर रस की अभिव्यक्ति में सेना और युद्ध की तैयारी, चढ़ाई की हलचल, घोर युद्ध की भयंकरता, शस्त्राशस्त्रों के प्रहार आदि का वर्णन अत्यन्त सफलता से किया है। वीर रस के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"ओनइ आए दूनौं दल साजे, हिन्दू तुरक दुवौ रन गाजे
दुवौ समुंद दधि उदधि अपारा, दूनौ मेरु खिंखिंद पहारा।
कोपि जुझार दुवो दिसि मेले, औ हस्ती हस्ती सहुं पेले।
आँसुक चमकि बीजु अस बाजै, गरजहिं हस्ति मेघ जनु गाजै।
कोई मैमंत संभारहि नाहीं, तब जानहिं जब गुद सिर जाहीं।"
"गगन रुधिर अस बरसै धरती बहै मिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहिं तस पानी पंक बिलाइ।।"

तथा

"अंगद कोपि पांव जस राखा, टेकौं कटक छत्तीसौ लाखा
को मोहि सौंह मेमता, फंारौं सूंड उखारौ दन्ता।।"

गोरा – बादल प्रसंग वीर रस की दृष्टि से पद्मावत का सर्वोत्तम अंश है।

वात्सल्य रस : जायसी ने वात्सल्य रस की भी मार्मिक व्यंजना पद्मावत में की है। राजा रत्नसेन के योगी होकर चित्तौड़ गमन पर उनकी माता की वाणी में वियोग वात्सल्य की ही अभिव्यक्ति हुई है। जिस समय बादल युद्ध के लिए तत्पर होकर अपनी माता से विदा मांगने आता है, उस समय अपने पुत्र के अनिष्ट की आंशका से माता दुखी हो जाती है। रत्नसेन की माता का वियोग वात्सल्य निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है।

"कैसे धूप सहब बिनु छाहां कैसे नींद परहिं मुइमाहां।
के ओढ़ाव कथा। कैसे पांव चलब तुम्ह पंथा।
कैसे सहब खिनहिं खिन भूखा, कैसे साख कुरकुटा रुखा।।"

बादल की माता की वात्सल्य के कारण पुत्र को युद्ध में जाने से रोकती है –

"बादल राय। मोर तुइ बारा। का जानिसि कस होइ जुझारा।
जहाँ दलवती दलि अरहिं, तहाँ तोर का काज।
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज।।"

जायसी ने वियोग वात्सल्य की मार्मिक एवं सफल अभिव्यक्ति की है।

अन्य रसों की योजना भी जायसी ने यथा स्थान किया है। गोरा बादल तथा अलाउद्दीन के युद्ध वर्णन तथा नागमती के विरह वर्णन में कवि ने वीभत्स रस की योजना की है। पद्मावती के वियोग में जब रत्नसेन जलता है, उस समय भी वीभत्स रस का चित्रण

हुआ हैं। पद्मावती के लाल–लाल अंगुलियों के चित्रण में भी वीभत्स रस की झ
है। इसमें कवि पर फारसी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यथा –

"गिरि गिरि परै रकत के आंसू, विरह सरागन्हि भूजै माँसू।
हिया कापि जनु लीन्हेसि हाथा, रुहिर भरी अंगूरी तेहि साथा।।"

"पद्मावत" लौकिक प्रेम गाथा होकर भी अलौकिक प्रेम तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इसमें हास्य रस का अभाव है। रौद्र रस का वर्णन उस स्थान पर हुआ है, जब अलाउद्दीन का दूत रत्नसेन के पास संदेश लाता है। उस समय अपमानजनक सन्देश सुनकर रत्नसेन क्रुद्ध होकर गर्जना करता है। यहाँ रौद्र रस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है –

"सुनि असि लिखा उठा जरि राजा, जानौं देउं तड़पि घन गाजा
का मोहि सिंध देखा वासि आई, कहौ तो सारदूल धरि खाई।
तुरुक। जाई कहु मरै न धाई, होइहि इसकन्दर की नाई।।"

सात समुद्र खण्ड में जायसी ने सातों समुद्र के वर्णन में किया है। इस प्रकार विविध रसों का परिपाक करते हुये जायसी ने पद्मावत के अन्त से शान्त रस की अभिव्यक्ति की है। रत्नसेन "बैकुण्ठ धाम खण्ड" में शान्त रस का दृश्य देखा जा सकता है। राजा बैकुण्ठ वासी हुये सांसारिक धन–वैभव, ऐश्वर्य, विलास भावना, घर–बार, स्वजन–सम्बन्धी किसी पर भी उसका अधिकार नहीं रहता। संसार की निस्सारता के अनुभव से निर्वेद भाव जाग्रत होता है। जो शांत रस का स्थायी भाव है। पद्मावत की निम्नलिखित पंक्तियाँ शान्त रस का उदाहरण है –

"पद्मावत पुनि पहिरि पटोरी, चली साथ पिउ के होइ जोरी
छोटे केस मोति लर छूटी, जानहुं रैनि नखत सब टूटी
दुवौ सवति चढ़ि खाट बईठी, और सिव लोक परा तिन्ह दीठी।

....

राती पिउ के नेह गइं, सरग भयउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार।।"

निष्कर्ष रूप में पद्मावत में श्रृंगार वीर करुण वात्सल्य शान्त आदि रसों की यथास्थान योजना की गयी है। श्रृंगारेत्तर रसों का परिपाक करने के कवि का मुख्य उद्देश्य श्रृंगार रस का पोषण ही है। जायसी की कृति पद्मावत मुख्यतः श्रृंगार रस प्रधान ही है। अन्य जीवन व्यापी भावों का उत्कर्ष दिखाना तो कवि का उद्देश्य न था। इस प्रकार जायसी की पद्मावत भारतीय रस परम्परा की उत्तम कृति है।

जायसी का वियोग वर्णन – सूफी कवि होने के कारण जायसी का भावुक हृदय "प्रेम की पीर" एवं वियोग वेदना में पूर्णतः निमज्जित दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों जायसी के हृदय में विरह व्यथा स्वयं साकार हो उठी है। इसी से जायसी विरह वियोग के गीत इतनी मर्मस्पर्शी वाणी से गा सके हैं, उतने अन्य गीत नहीं गा सके। पद्मावत एक विरह प्रधान काव्य है। इसमें जायसी ने राज रत्नसेन की विरह दशा का

चित्रण छः स्थलों पर हुआ है। **प्रथम** – प्रेम खण्ड में हीरामन सुआ के मुख से पद्मावती का अलौकिक रुप सौन्दर्य सुनकर राजा का मूर्च्छित हो जाना तथा विरह में लीन हो जाना। **दूसरा** – राजा गजपति खण्ड में राजा गजपति से वार्तालाप करते समय राजा रत्नसेन की वियोग स्थिति का चित्रण किया गया है। **तीसरा** "राजा रत्नसेन सती खण्ड" में पद्मावती के चले जाने पर राजा रत्नसेन की वियोग व्यथा का चित्रांकन हुआ है। **चौथा** – "पार्वती महेश खण्ड" में महादेव जी से वार्तालाप करते समय राजा रत्नसेन का प्रेम विह्वल विरहावस्था का चित्रण हुआ है। **पांचवा** "राजा गढ़ छेका खण्ड" में तोते के गले में प्रेम पात्र बाँधकर उससे पद्मावती के लए संदेश देते समय राजा रत्नसेन की विरह दशा चित्रांकित की गई है। **छठे** – लक्ष्मी समुद्र खण्ड में पद्मावती से समुद्र में बिछुड़े जाने पर राजा रत्नसेन की विरह व्याकुल स्थिति का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार रानी पद्मावती की वियोग व्यथा का रुपांकन कवि ने पांच स्थलों पर किया है। जो क्रमशः इस प्रकार है – पद्मावती वियोग खण्ड, गन्धर्व मैत्री खण्ड, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, पद्यावती नागमती वियोग खण्ड तथा पद्मावती गोरा – बादल संवाद खण्ड। इन सभी में राजा रत्नसेन के वियोग में पद्मावती को विरह व्यथित दिखाया गया है।

इसी प्रकार रानी नागमती का वियोग वर्णन तीन स्थलों पर चित्रित हुआ है। जो क्रमशः "नागमती वियोग खण्ड", "नागमती सन्देश खण्ड" तथा "पद्मावती–नागमती विलाप खण्ड" हैं।

इसके अतिरिक्त बादशाह अलाउद्दीन की विरहाकुल स्थिति का चित्रण भी "पद्मावती रुप चर्चा खण्ड" में मिलता है। जहाँ राघव चेतन पद्मावती के अपूर्व रुप सौन्दर्य की चर्चा बादशाह के सम्मुख करता है। जिसे सुनते ही बादशाह विरह व्यथित होकर तड़पने लगता है। इस प्रकार जायसी के विभिन्न पात्रों के माध्यंम में अपने हृदय में स्थित वियोगाग्नि तथा प्रेम की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। इनमें से नागमती की विरह व्यथा सर्वोपरि है। एक भारतीय रमणी अपने पति विछोह में बड़ी करुणा के साथ अपनी विरह व्यथा प्रकट करती है। उसके पुनीत अश्रु प्रवाह में सभी भावुक हृदय निमग्न होकर अपना धैर्य खो बैठते हैं। इसीलिएं नागमती के वियोग वर्णन को हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु कहा गया है, और विरह निवेदन की दृष्टि से उसे हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि ठहराया गया है। समष्टिगत रुप से जायसी के वियोग वर्णन की विशिष्टतायें इस प्रकार है –

(१) रुदन का प्राधान्य – पद्मावत के स्त्री एवं पुरुष पात्र वियोग में अत्यधिक अश्रु बहाते हुये अपनी वेदना व्यक्त करते हैं। उनक आंसुओं के प्रवाह में कहीं–कहीं तो पर्वत शिखर भी डूब जाते हैं। समुद्र मर्यादा को लांघ जाता है, सारी सृष्टि विरही के आंसुओं में डूब जाती है – यथा–

"पादिक पदारथ कर हुंत खोवा।
टूटहिं रतन, रतन तस रोवा।
गगन मेघ जस बरसै भला, पुहुमी पूरि सलिल बहि चला।
सायर टूट सिखरगा पाटा। सूझ न बार पार कहुं घाटा।।"

(२) विरह ताप की अतिशयता – जायसी के विरह की तीव्रता इतनी उ... जाती है। कि उसमें केवल विरहिणी ही सन्तप्त नहीं होती अपितु सारी सृष्टि उस विरह... में प्रज्जवलित होती दिखाई देती है। उदाहरण स्वरूप नागमती का विरह वर्णन का यह अंश प्रस्तुत है –

"अस परजरा विरह कर गठा, मेघ साम भए धूम जो उठा।।
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा, सूरज जरा चाँद जरि आधा।।
औ सब नखत तराई जरहीं, टूटहिं लूक धरनि महं परही।।
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊं, दहकि पलास जरै तेहि दाऊं।।"

(३) विरह की सर्वव्यापकता – जायसी की दृष्टि से सारा विश्व जड़ चेतन मात्र विरहिणी की अग्नि में ही नहीं जलता वरन् अखिल ब्रह्माण्ड में विरह परिव्याप्त है। यथा –

"विरह के आग सूर जरि कांपा, राति दिवस जरै ओही तापा।
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा, थिर न रहै यहि आगि अपारा।"

(४) विरह का मर्मस्पर्शी चित्रण – जायसी ने केवल विरह ताप का ही चित्रण नहीं किया अषितु विरहीजनों की पीड़ा, वेदना, कसक, की मार्मिक अभिव्यक्ति किया है।

नागमती के हृदय में व्याप्त विरह वेदना के कारण उसकी दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्र दृष्टव्य है :–

"विरह बान तस लाग न डोली, रकत पसीज भीजि गई चोली।।
सूखंहिं हिया, हार भाभारी, हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी।।
खन एक आव पेट मंह साँसा, खनहिं जाई जिउ होइ निरासा।
पवन डोलवहिं खीचहिं चोला, पहर एक समुझहिं मुख बोला।।"

यह कितना प्रभावशाली है।

रत्नसेन का अन्तर भी विरह की दारुण अग्नि से झुलस रहा है –

"विरह मौंर होइ भांवरि देई, खिन खिन जीउ हिलोरा लेई।
खिनहिं उसाँस बूड़ि जिउ जाई, खिनहिं उठे निसरे बौराई।।
खिनहिं पीन खिन होइ मुख सेता, खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता।।"

(५) प्रकृति के संवेदना – प्रकृति भी जायसी के विरह विदग्ध पात्रों के साथ पूर्णतः सम्वेदना प्रकट करती हुई जान पड़ती है। इसीलिए "पद्मावत" में पशु–पक्षी, पेड़–पत्ते, पौधे, पुष्प, लता, आदि सभी प्राकृतिक पदार्थ विरही जनों के निकट सम्बन्धी बन गये हैं। साथ ही विरही जनों की व्यथा बडी तत्परता के साथ सुनते हैं। नागमती के विरह सन्देश को सुनकर पक्षी उसके विरह की आग से जलने लगते हैं। वृक्ष अपने पत्ते गिराने लगते हैं।

"जेहि पंखी के निअर होइ कहै विरह की बात।
सोई पंखी जाइ जरि तखिर होइ निपात।।"

इतना ही नहीं एक पक्षी नागमती का संदेश लेकर सिंहल द्वीप तक जाता है और राजा रत्नसेन को नागमती की विरह कथा सुनाकर ही चैन लेता है –

"लेइ जो संदेस विहंगम चला, उठी आगि सगरौ सिंघला।।"

× × ×

"कहि संदेश विहंगम चला, उठी आगि सगरौ सिंघला।।
घरी एक राजा गोहरावा, भा अलोप, पुनि दिष्ट न आवा।।
पंखी नावं न देखा पाँखा, राजा रोइ फिरा कै साँखा।।"

(६) विरही जनों की अत्यधिक कृशता – जायसी ने विरह वेदना का बड़ा ही व्यापक एवं हृदय विदारक चित्रण किया है, और अपने विरही जनों की कृशता को अत्यधिक बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया है। देखिए विरह में बेचारी नागमती जल कर कोयला हो गई है। उसका शरीर अत्यधिक क्षीण हो गया है। यथा –

"दहि कोइला भई कंत सनेहा, तोला मांसु रही नहिं देहा।
रकत न रहा, विरह तन गरा, रती रती होइ नैनन ढरा।।"

इसी तरह पद्मावती भी प्रिय वियोग में सूखकर रस्सी के समान दुर्बल हो गई है।

"लेजुरि भई नाह बिनु तोही, कुआ परी, धरि काढ़सि मोही।।"

(७) ऋतुओं एवं तीज पर्वों पर विरह का स्वाभावतः आधिक्य – यह स्वाभाविक है कि विरही जन तीज त्योहारों तथा ऋतु विशेष पर अपने प्रिय वियोग में और भी उद्विग्न हो उठते हैं। जायसी ने षट्ऋतु तथा बारह मासा पद्धति द्वारा बड़े स्वाभाविक ढंग से अपने विरही पात्रों का चित्रण किया है जो पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। कारण संयोग के सुखद उत्सव, पर्व त्योहार, सुखद क्षण वियोगावस्था में दुखदायी हो जाते हैं। जायसी ने नागमती की विरह व्यथा तथा विषम वेदना का चित्रण इस प्रकार किया है –

"अबहूं निठुर आउ एहि बारा, परब दिवारी होइ संसारा।"

अथवा

"सखि झूमक गावहि अंग मोरी। हौं झुरौवै बिछुरी मोरी जोरी।।"

वर्षा ऋतु के आते ही नागमती की सबसे बड़ी चिन्ता यही है कि अब उसका छप्पर कौन छायेगा। इसलिये वह व्यग्र होकर पुकार उठती है –

"तपै लागि अब जेठ असाढी, मोहि पिउ बिनु छाजति भई गाढ़ी।।"

....

"कोरौं कहाँ ठाट नव साजा, तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा।।"

(८) विरह में सात्विकता का प्राधान्य – जायसी ने जिस विरह का निरुपण किया है, उसमें भोग–विलास की प्रधानता नहीं है, अपितु सात्विकता का प्राधान्य है। जायसी के विरही पात्र वियोगाग्नि में जलकर इतन विनम्र, इतने शुद्ध एवं इतने सात्विक बन जाते हैं कि उनके हृदय में गर्व का लेशमात्र भी नहीं रह जाता, विषयों के प्रति किंचित रुचि नहीं रह जाती अपितु वे आग में तपाये हुये कुन्दन से हो जाते हैं। उनका रजोगुण एवं तमोगुण वियोगाग्नि में जलकर भस्म हो जाता है, केवल सात्विक भाव ही शेष रह जाता है। इसी कारण तो वियोगिनी नागमती भोगों के प्रति अपनी उदासीनता व्यक्त करती हुई कह रही है –

"मोहि भोग सों काज न बारी, सौंह दीठि की चाहन हारी।।"

इतना ही नहीं वह अपने शरीर को जलाकर भस्म कर देना चाहती है और सात्विक भाव से भरकर वह पवन से कहती है –

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारंग उड़ि पड़ै, कंत धरै जहं पांव।।"

ऐसी ही सात्विक भावना का उदय हम विरही रत्नसेन में भी देख सकते हैं –

"जब भा चेति उठा बैरागा। बाउर जनौ सोइ उठि जागा।
आवत जग बालक जस रोआ, उठा रोइ हा ग्यान सो खोआ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ, इहाँ मरनपुर आएउं कहाँ।।"

जायसी के विरह वर्णन में फारसी वर्णन पद्धति का प्रभाव – जायसी के विरह वर्णन में फारसी विरह वर्णन की पद्धति का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। जायसी के विरह में अतिशयता का उल्लेख इतना है कि विरहियों ने नेत्रों से प्रवाहित अश्रुओं के स्थान पर रक्त की धार बहने का वर्णन है। रत्नसेन विरह विदग्ध होकर जब रोता है तो उसकी आँखों से रक्त के अश्रु गिरते हैं। जिसके भूमि पर गिरने से घुंघची या गुचा के ढेर बन जाते हैं –

"कहुक कहुक जस कोइल रोई, रकत आंस घुंघची बन बोई।।
जहं जहं ठाढ़ होय बनवासी, तंह तहं होय घुंघची कै रासी।।"

निम्नांकित पंक्ति पूर्णतयः फारसी विरह पद्धति के प्रभाव की द्योतक है –

"विरह सरागन्हि भूंजेसि माँसू, ढरि ढरि परहिं रकत कै आँसू।।"

इस प्रकार जायसी के वियोग वर्णन में वेदना, व्यथा, पीड़ा का आधिक्य है। उसमें कोमलता, सरसता एवं गम्भीरता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। षड्ऋतु एवं बारह मासे के रुप में प्रकृति का भी अत्यधिक सहयोग लिया गया है। इसके साथ ही चिन्ता, व्यथा, गुण कथन, मूर्च्छा, व्याधि आदि दस काम दशायें भी विद्यमान हैं परन्तु कवि ने प्रायः अतिश्योक्ति एवं अत्युक्ति का सहारा लेकर वियोग व्यथा को अत्यधिक बढ़ा कर लिखा है। फिर भी जायसी के वियोग–वर्णन में संवेदनशीलता एवं प्रभावोत्पादकता अधिक है। उसके प्रत्येक शब्द में हृदय को द्रवीभूत करने की पूर्ण क्षमता है और उसके प्रत्येक स्थल विरह की व्याकुलता, कसक, तड़पन, आह एवं पीड़ा से भरे हुये हैं। अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जायसी ने बड़ी लगन, तत्परता और निष्ठा के साथ वियोग का वर्णन किया है। उनकी विरह–व्यथा में जड़ चेतन सभी को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है – जायसी द्वारा विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसका मूल्यांकन करते हुये डॉ. कमल कुलश्रेष्ठ कहते हैं – "व्यथा अपनी सारी मधुरता, विरह अपनी सारी मिठास, प्रणय अपने सारे स्थायित्व और नारी चरम भावुकता के साथ इन शब्दों में साकार होकर बोल रही है।"

वेदना का जितना निरीह, निरावरण, मार्मिक, गम्भीर निर्मल एवं पावन स्वरूप इस विरह वर्णन में मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

"पद्मावत अन्योक्ति एवं समासोक्ति"

प्रश्न ५. जायसी कृत पद्मावत साहित्य की अमूल्य निधि है। इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – सूफी काव्य धारा अथवा प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी कृत पद्मावत भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। जायसी ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को प्रेम भावना के माध्यम से व्यक्त करते हुये लौकिक प्रेम पर अलौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा की है। सामान्य दृष्टि से देखने पर "पद्मावत" एक प्रेम कथा मात्र प्रतीत होती है किन्तु व्यापकता, सूक्ष्मता तथा प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से इसमें सूफी दर्शन इस प्रकार घुल मिल गया है, कि दार्शनिकता और भावात्मकता में भेद कर पाना कठिन है। पद्मावत की प्रेम गाथा में आध्यात्मिकता की अभिव्यंजना होने से विद्वानों का एक वर्ग इसे अन्योक्ति कहता है तो दूसरा इसे समासोक्ति प्रधान रचना मानते हैं। इस विवाद का मूलाधार पद्मावत के अन्त में लिखा निम्नांकित अंश है।

"तन चितवर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पदिमनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धन्धा, बांचा सोई न एहि चित बन्धा।
राघव दूत सोई सैतानू, माया अलादीन सुल्तानू।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहू, बूझि लेहु जौ बंझै पारहु।।"

उक्त छन्द में शरीर चित्तौड़ है, राजा रत्नसेन मन है, तन में स्थित मन साधारण रुप से सांसारिक विषय वासनाओं में लिपटा रहता है। रत्नसेन केवल तन में स्थित हैं उसकी वृत्तियाँ केवल कायिक हैं। नागमति दुनिया धन्धा है। वह उसी में लिप्त है। ईश्वरीय कृपा से रत्नसेन को एक अपूर्व सौन्दर्य का ज्ञान होता है। वह सौन्दर्य पद्मावती का है। उसे जीवन का लक्ष्य मान कर रत्नसेन का मन व्याकुल हो उठता है। हीरामन सुआ जिसे सूफी साधना के अनुसार गुरु का प्रतीक माना है। उसी के मार्गदर्शन में अनेक बाधाओं को पार करता हुआ साधक रत्नसेन लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। साधक के मार्ग में नफ्स नागमती और अक्ल पद्मावती दो बाधायें रहती हैं। सुआ गुरु मिलने पर नफ्स नागमती से मुक्ति मिली और वह रूह में स्थित पद्मावती को प्राप्त करने की चेष्ट करता है। नफ्स और मुआरिफ दोनों ही सुन्दर और मोहक हैं। एक बार पद्मावती को देख लेने पर साधक उसी पथ पर अग्रसर हो जाता है। राघव चेतन रूपी शैतान तथा अलाउद्दीन रूपी माया सबसे बड़ा अवरोध है। इन्हें पार करके ही लक्ष्य की सिद्धि होती है। यह रूपक अन्योक्ति है या समासोक्ति। यह पद्मावत का विवादास्पद विषय है। प्रथम अन्योक्ति या समायोक्ति का परिचय प्राप्त करते हैं।

अन्योक्ति – शास्त्रीय दृष्टि से अन्योक्त अलंकार में अप्रस्तुत वर्णन के माध्यम से प्रस्तुत वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। अन्योक्ति में ऊपर से वर्णन तो अप्रस्तुत विषय का होता है। किन्तु वास्तव में उसके द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाती है।

समासोक्ति : शब्द समास + उक्ति इन दो शब्दों के संयोग से बना है। इसका अर्थ है संक्षेप में कही गयी उक्ति। इसे परिभाषाबद्ध करते हुये चन्द्रलोककार ने लिखा है कि जहाँ कहीं प्रस्तुत विषय को उठाकर उसी वाक्य में लिंग क्रिया आदि के रूप में गर्भित किसी अन्य विषय की झलक दिखाई जाती है, अथवा संक्षिप्त रूप से कही जाती है। वहाँ समासोक्ति अलंकार कहलाता है। जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषण से अप्रस्तुत का भी बोध कराया जाय, वहाँ समासोक्ति अलंकार कहलाता है।

इसी अलंकार की चर्चा प्राचीन आचार्यों ने भी की है भामह तथा उदभट ने इसके स्वरूप को समझाते हुये लिखा है – "प्रकृत परम वाक्य के द्वारा अप्रकृत अर्थ के अभिद्यान को जो विशेषण की सामर्थ्य से प्रकट होता है, उसे समासोक्ति कहते हैं।" रुय्यक ने समासोक्ति की परिभाषा में विशेषण साम्य को बहुत महत्व दिया है। मम्मट ने लिखा है – समासोक्ति वह अलंकार है जिसे श्लेष श्लिष्ट प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थों में संगत विशेषणों की परोक्ति अर्थात् अप्रकृत वस्तुगत व्यवहार रूप अर्थ की अभिव्यक्ति कहते हैं।

प्रायः सभी विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रस्तुतार्थ बोधक अर्थ के द्वारा किसी दूसरे से प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना हो। यह व्यंजना विशेस्य वाचक पद की सामर्थ्य से नहीं वरन् विशेषण वाचक पदों की महिमा से श्लेष के सहारे प्रकट किया जाय। जिससे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ सरलता से प्रकट हो जाय।

अन्योक्ति – समासोक्ति का स्वरूप जानने के उपरान्त यह विचार्य है कि पद्मावत की कथा अन्योक्ति है या समासोक्ति।

पद्मावत का अन्योक्ति पक्ष – कतिपय विद्वान पद्मावत को विशुद्ध अन्योक्ति काव्य मानते हैं। सम्पूर्ण कथा में एक व्यवस्थित प्रस्तुत अर्थ स्वीकार करते हैं। और कथा को सर्वथा अप्रस्तुत रूप मानते हैं कवि ने अपनी भौतिक भावनाओं पर आध्यात्मिकता का आवरण चढ़ाने के लिये अपनी कथा के अन्त में एक विस्तृत अन्योक्ति का क्रम देने की चेष्टा की है।

पद्मावत समासोक्ति के रूप में – कुछ विद्वान पद्मावत को समासोक्ति काव्य मानते हैं उनके अनुसार कवि ने प्रस्तुत वर्ण्यों में यत्र–तत्र सर्वत्र एक अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना की है। जिससे अन्योक्ति के साथ ही साथ कवि समासोक्ति के नियोजन में भी सफल हो गया है।

पद्मावत आध्यात्म प्रिय साधकों के लिये अन्योक्ति है, और लौकिक अर्थ में रमने वालों के लिए समासोक्ति है। अन्योक्ति की सांकेतिकता की विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत करना चाहें तो वह इस प्रकार है –

पद्मावती – बुद्धि, रत्नसेन – मन
सिंहल – हृदय, चित्तौड़ – तन
नागमती – दुनिया धन्धा, अलाउद्दीन – माया
राघव चेतन – शैतान, हीरामन – गुरू

सम्पूर्ण अन्योक्ति में कवि ने तीन पक्ष रखे हैं –

(१) प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष – पंडितों द्वारा किया गया अर्थ।

(२) प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष – सूफी साधनापरक अर्थ।

(३) अप्रस्तुत पक्ष – कथा परक।

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष विशुद्ध भारतीय है। भारतीय दर्शन में बुद्धि मन की अपेक्षा ऊंची है। कन्ठोपनिषद में लिखा है – "शरीर से इन्द्रियाँ बलवान हैं, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि तथा बुद्धि से परे आत्मा है। इसी बुद्धि से परे रूप जो आत्मा है वही ज्ञातव्य है। भारतीय दर्शन जितना अधिक उदात्त है, उतना ही अधिक उदात्त तत्व को उसमें महत्व दिया गया है। इसी आधार पर कुछ दर्शन आत्मवादी है, कुछ बुद्धिवादी, कुछ मनवादी, कुछ इन्द्रियवादी। जायसी बुद्धिवाद से प्रभावित जान पड़ते हैं। इसके दो कारण जान पड़ते हैं –

(१) बुद्धिवादिता की प्रतिष्ठा आत्मवादी दर्शनों में भी है और शुद्ध बुद्धिवादी दर्शनों में भी। सूफियों का एक सम्प्रदाय भी शुद्ध बुद्धिवादी है। वे लोग बुद्धि को ही परमात्मा का अत्यांतिक रूप मानते हैं।

(२) ब्रह्म की विराट भावना भी बुद्धिगम्य है। कवि गीता के बुद्धि योग से भी प्रभावित है। कवि ने पद्मावती को बुद्धि रूप कहा है। उसकी स्थिति हृदय रूप सिंहल में बताई है। मन को इसी हृदयस्थ बुद्धि में केन्द्रिय करना ही अध्यात्म योग है। उपनिषदों को अध यात्म योग ही यौगिक ग्रन्थों का राजयोग है।

गीता में इसी संमत्व बुद्धि योग को विशेष महत्व दिया गया है। समत्व भाव के कई रूप हो सकते हैं – (१) विषयीगत और (२) विषय गत। गीता में दोनों रूपों विषयी और विषयगत के समत्व भाव पर बल दिया गया है। सब कुछ वासुदेव रूप समझना श्रेष्ठ ज्ञान है। वहाँ विषयीगत समत्ववाद का एक सुन्दर रूप मिलता है। कवि सम्पूर्ण विश्व में पद्मावती के रूप की ही झांकी देखता है। सम्पूर्ण प्रकृति उसी के रूप से रूपवान है। उसी के प्रेम में पागल है। उसी के विरह में विधुर है, उसी के मिलन में सुहागवती है किन्तु इस प्रकार के विषयीगत समत्व बुद्धि को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। वह तभी प्राप्त हो सकती हैं जब मनरूपी राजा योगस्थित हो। जायसी दुनियाँ के धन्धारूपी नागमती के मायाजाल में फंसे हुये अपने को समत्व बुद्धि रूपी पद्मावत की साधना में प्रेरित करके अनेक कठिनाइयों का सामना करके वैराग्य, अभ्यास और योग के द्वारा समत्व बुद्धि रूपी पद्मावती को प्राप्त करता है।

एकनिष्ठता ही अध्यात्म योग की पराकाष्ठा है। जायसी के अन्योक्ति का प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष, जायसी का अप्रत्यक्ष लक्ष्य हिन्दू जनता में अपने सूफी सिद्धान्तों का प्रचार करता था। उन्होंने अपनी अन्योक्ति के प्रस्तुत अप्रत्यक्ष रूप से सूफी सिद्धान्तों की विवेचना की है।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि जायसी कृत पद्मावत न केवल अन्योक्ति है, न केवल समासोक्ति। दोनो दृष्टियों में कुछ अभाव अवश्य है। हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने पद्मावत में अन्योक्ति और समासोक्ति का समन्वय प्रतिपादित किया है। डॉ.

कमल कुलश्रेष्ठ के अनुसार – "पद्मावत के ग्यारहवें खण्ड तक ही समासोक्ति का निर्वाह हुआ है। सम्पूर्ण कथा पर आरोप करने से पाठक उसका रसास्वादन नहीं कर पाएगा। पद्मावत में अन्योक्ति एव समासोक्ति शैली का विवेचन करते हुये डॉ. मुंशीराम शर्मा सोम का कथन है – "अन्योक्ति की इस धुन के कारण अव्यक्त के प्रति बार–बार लक्ष्य करने से क्या प्रसंग को आध्यात्मवाद की ओर ले जाने में जायसी कथानक को उठाने में बुरी तरह असफल हुये हैं। ऐसे स्थलों पर न तो कथा प्रसंगों की समीचीनता ही प्रकट हुई है, न संदर्भ स्पष्ट हुआ है। न आध्यात्मवाद की ओर उसकी अन्योक्ति ही सुचारु रूप से अभिव्यक्त हो सकी है इसका मुख्य कारण है आवश्यक तथा अनावश्यक रुप से परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करना और दिखलाना कि वह सत्ता प्राकृतिक और चेतन जगत के साधारण व्यापारों में भी विद्यमान है।...... यह सब होने पर भी अनेक अवसरों पर परोक्ष सत्ता के प्रति किये गये जायसी के संकेत बड़े ही मधुर हैं, और वे समासोक्ति एवं हेतूत्प्रेक्षा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।"

इस संदर्भ में **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** का मत विशेष महत्वपूर्ण है – उनके अनुसार – "यदि कवि के स्पष्टीकरण के अनुसार व्यंग्य अर्थ को ही प्रधान या प्रस्तुत मानें तो जहाँ–जहाँ दूसरे अर्थ भी निकलते हैं, वहाँ–वहाँ अन्योक्ति माननी पड़ेगी। ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा के अप्रस्तुत होने की धारणा किसी पाठक को हो ही नहीं सकती। अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ को अप्रस्तुत नहीं कह सकते। इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंगार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिये।"

अतएव पद्मावत एक ऐसा कथाकाव्य है, जहाँ स्थान–स्थान पर समासोक्ति का सफल और सुन्दर निर्वाह हुआ है। समासोक्ति प्रसंगों में रहस्यवाद और सूफी साधना पद्धति की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

"पद्मावत का महाकाव्यत्व"

प्रश्न ६. जायसी द्वारा रचित पद्मावत का काव्य में स्थान निर्धारित करते हुए इसके काव्यत्व पर समीक्षा कीजिये।

उत्तर – पद्मावत हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की सर्वश्रेष्ठ रचना है। मसनवी पद्धति पर लिखा हुआ जायसी का प्रबन्ध काव्य पद्मावत एक महाकाव्य है। अतः इसमें सर्गबद्धता तो नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण कथा वस्तु वर्णनों एवं घटनाओं के आधार पर खण्डों में विभाजित है। यथा– सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड, जन्म खण्ड, मान सरोदक खण्ड, रत्नसेन–जन्म खण्ड, नख शिख खण्ड, पद्मावती वियोग खण्ड, राजागढ छेका खण्ड, बादशाह चढ़ाई खण्ड, गोरा बादल युद्ध खण्ड, आदि इस प्रकार इनकी सम्पूर्ण कथा ५८ खण्डों में विभक्त है। इसका कथानक मुख्यतयः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। रत्नसेन द्वारा पद्मावती की प्राप्ति और पद्मावती को लेकर चित्तौड़ आने पर की कथा

इसका पूर्वार्द्ध है, जो पूर्णतयः काल्पनिक है, तथा राघव चेतन के चित्तौड़ निष्कासन से लेकर सती खण्ड तक कथा का उत्तरार्द्ध है। जो ऐतिहासिक आधार पर स्थित है अतएव इसकी कथा में कल्पना और इतिहास का सुन्दर समन्वय मिलता है इसमें रत्नसेन और पद्मावती की अनन्य प्रेम गाथा है। साथ ही कुमारियों को स्वच्छन्द क्रीड़ा, पति के विदेश गमन पर पत्नी शोक, प्रेम मार्ग के कष्ट, प्रिय के दण्ड सम्बन्धी सम्वाद को सुनकर प्रियतमा की करुण सहानुभूति, प्रिय के विच्छेद पर पत्नी की विरहावस्था युद्ध वर्णन, प्रियतमा की सतीत्व परीक्षा, प्रिय की मृत्यु पर प्रियतमाओं का सहगमन आदि से परिपूर्ण होने के कारण गुरुता एवं गम्भीरता से ओतप्रोत है।

इस महाकाव्य का नायक राजा रत्नसेन वीर, उत्साही शौर्य पराक्रम से युक्त, दया दान–दक्षिणा स्वाभिमान आदि श्रेष्ठ गुणों से विभूषित क्षत्रिय कुलोद्भव वीर पुरुष है। पद्मावत की नायिका पद्मावती अद्भुत एवं अलौकिक रुप सौन्दर्य के साथ साथ अनुपम प्रेम, शौर्य, तेज, पति परायणा है। इसमें श्रृंगार, वीर, शांत, अद्भुत आदि सभी रसों का सजीव वर्णन मिलता है किन्तु प्रधानता श्रृंगार एवं वीर रस की है। नाटक की सभी सन्धियों की योजना का तो सफल निर्वाह नहीं हुआ है, परन्तु कथा का विभाजन एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ है। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में से इसका फल तो मोक्ष है, किन्तु शेष तीनों का वर्णन तो यथोचित रूप से मिल जाता है।

इस महाकाव्य में प्रथमतः मंगलाचरण है – **"सुमिरौ आदि एक करतारु"**। तदुपरान्त खल–निन्दा, सज्जन प्रशंसा, आदि का भी उल्लेख मिलता है। मसनवी पद्धति पर रचित होने के कारण पहले सर्वव्यापी कर्ता का स्तवन किया गया है। तदनन्तर तत्कालीन शेरशाह बादशाह की प्रशंसा की गई है। जो शाहे–वक्त कहलाती है। जिसमें उसके प्रताप, शौर्य, एवं दानशीलता का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् कवि ने अपनी संक्षिप्त जीवन गाथा दी है तथा अपने घनिष्ठ मित्रों का उल्लेख किया है।

"पद्मावत" काव्य का नामकरण नायिका के आधार पर किया गया है जैसा कि सभी सूफी प्रेमाख्यानों में है यथा – चांदायन – मधुमालती, मृगावती आदि। शेष सभी खण्डों के नाम घटना एवं वस्तु–वर्णनों के आधार पर है।

इस काव्य का उद्देश्य था लौकिक प्रेम कथा के माध्यम से पारलौकिक प्रेम की सृष्टि। एक प्रेम कथा के मिस कवि ने आध्यात्मिक प्रेम की प्रतिष्ठा किया है। भारतीय लोक कथाओं के माध्यम से सूफी सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये प्रेम को सर्वोपरि सिद्ध करना ही इसका महान लक्ष्य है और आत्म बलिदान तथा अनन्य प्रेम द्वारा ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है इसका यही महान सन्देश हैं यद्यपि इसमें आये हुये लम्बे–लम्बे वर्णन तथा अध्यात्मिक संकेत इसके कथा प्रवाह में बाधक हुये हैं तथापि सम्बन्ध निर्वाह में कवि को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। कोई भी प्रसंग अनावश्यक प्रतीत नहीं होता।

विद्वानों के विचारानुसार "पद्मावत" की पूर्वार्द्ध तो कल्पित है ही परन्तु उत्तरार्द्ध भी पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। उसकी कई घटनायें कपोल कल्पित हैं। इनकी पुष्टि इतिहास द्वारा नहीं होती। फिर भी "पद्मावत" महाकाव्य दार्शनिक विचारों,

आध्यात्मिक अनुभूतियों, चारित्रिक विशिष्टताओं, जीवन की विविधताओं, प्रेम श्रृंगार तथा विलास के मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक वर्णनों आदि के साथ–साथ अलंकृत एवं उत्कृष्ट काव्य शैली के कारण उच्च कोटि का महाकाव्य है। वह महान उद्देश्य, महती प्रेरणा एवं उन्नत कल्पना से संयुक्त होकर है। "पद्मावत" के महाकाव्यत्व पर डॉ. शम्भूनाथ सिंह के विचार इस प्रकार हैं – "उसमें पृथ्वीराज रासो जैसी हलचल, उथल–पुथल और उद्दाम वेग नहीं है। न रामचरित मानस जैसा प्रशान्त गाम्भीर्य और प्रकाशमान ओज ही है। इसके विपरीत इसमें कुमार सम्भव के ढंग का सौकुमार्य मार्दव और माधुर्य है। इस तरह की शैली की मधुर कान्ति और कोमलता के कारण पद्मावत को प्रगीतात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है किन्तु उसकी कोमलता ओज में समन्वित मधुरता शक्ति से युक्त और कान्ति गारिमामयी है।"

निष्कर्षत – विषयवस्तु संघटन उद्देश्य शैली आदि सभी दृष्टियों से "पद्मावत" हिन्दी की श्रेष्ठ रचना हैं जिसमें भारतीय चरित काव्यों और फारसी की मसनवियों के विभिन्न तत्वों का समावेश करके महाकाव्यत्व का स्वरूप दिया है।

"पद्मावत का काव्य–सौष्ठव"

प्रश्न ७. पद्मावत के काव्य सौष्ठव पर एक निबन्ध लिखिये।

अथवा

जायसी के पद्मावत के काव्य–सौष्ठव पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – "पद्मावत" जायसी का उत्कृष्टतम महाकाव्य है। कवि ने अपनी उर्वर कल्पना एवं प्रखर प्रतिभा द्वारा इस महाकाव्य में इतिवृत्तात्मकता के साथ–साथ रसात्मकता की अद्भुत सृष्टि की है। इसका प्रधान कारण है – उक्त काव्य का श्रेष्ठ काव्य–सौष्ठव। पद्मावत के काव्य–सौन्दर्य के अनुशीलनार्थ सुविधा की दृष्टि से सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –

(१) वस्तु वर्णन, (२) प्रकृति–चित्रण, (३) भाव एवं रस नियोजन, (४) अलंकार योजना, (५) छन्द योजना, (६) भाषा शैली, (७) शब्द शक्ति।

(१) वस्तु वर्णन – पद्मावत में वस्तु–वर्णन का प्राचुर्य है। उसमें वर्णित द्वीप, नगर, राज–भवन, दुर्ग, सरोवर, यात्रा, समुद्र, आक्रमण, युद्ध मन्त्रणा, दूत प्रेषण, पुत्र जन्म, विवाह, जल–क्रीड़ा, संयोग–वियोग, जय–पराजय, रूप–सौन्दर्य आदि का विस्तार मिलेगा। इतना ही नहीं "पद्मावत" में वन–उपवन, वाटिका, अमराई, पनघट, हाट, बाजार, देवालय, देव–पूजा, भोज्य सामग्री, वस्त्राभूषण, यात्रा, शकुन, पुरुष भेद, स्त्री भेद, विभिन्न उत्सव, लोकाचार, लोक प्रथा आदि का बाहुल्य है। इनमें उत्कृष्ट है नख–शिख वर्णन, युद्ध वर्णन तथा नागमती का विरह वर्णन।

जायसी का नख–शिख वर्णन दो स्थलों पर मिलता है। प्रथम हीरामन शुक राजा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के कौमार्य रूप की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत करता है। जिसमें

उसे अनुपम रूप सौन्दर्य के साथ–साथ "रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती" अथवा "गगन नखत जो जाहिं न गने, वै सब बान ओही के हने" आदि कहकर पद्मावती को ब्रह्म सिद्ध किया गया है।

इसके अतिरिक्त द्वितीय "नख शिख" वर्णन "पद्मावती के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा करता है। यहाँ पर भी कवि ने पद्मावती को एक अलौकिक रूप सौन्दर्य सम्पन्न रानी के समान चित्रित करते हुये – "कंठ सारदा मोहै जीभ सुरसती काह, इन्द्र चन्द्र रवि देवता सवै जगत मुख चाह" कहकर उसे शारदा एवं सरस्वती से बढ़कर बताया है। तथा इन्द्रचन्द्र सूर्य आदि सभी देवताओं एवं सम्पूर्ण संसार को उसका मुख निहारते हुये अंकित किया है। इस प्रकार जायसी ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य की लोकोत्तर कल्पना करते हुये उसका विश्वव्यापी प्रभाव बताया है। उसमें परम्परागत उपमानों के साथ–साथ कुछ लोक व्यवहार सम्बन्धी उपमानों का भी प्रयोग हुआ है। यथा – माँग के लिये "असिधार" बरौनियों के लिये धुनष बाणों से सुसज्जित राम–रावण की सेना, नासिका के लिये सेतुबन्ध और तलवार उरोजों के लिये कमल के लड्डू इत्यादि। उक्त दो स्थानों के अतिरिक्त छः स्थानों पर भी कवि ने "नख–शिख" का वर्णन किया है। यथा – सिंहल की वेश्याओं के रूप वर्णन में, यौवानागम के समय पद्मावती के रुप चित्रण में, मानसरोवर में स्नान करने के लिये जूड़ा खोलती हुई पदमावती के सौन्दर्य चित्रण में, सिंहल द्वीप से लौटते समय समुद्र की दुर्घटना में क्लान्त पद्मावती के रूप चित्रण में, नागमती और पद्मावती के विवाद के समय तँथा पद्मावती का नागमती में आत्मश्लाघां के रुप में। इनमें से पद्मावती के सौन्दर्य चित्रण में ही जायसी अधिक तन्मय दिखाई देते हैं। पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन द्वारा कवि ने उस शाश्वत ब्रह्म के असीम सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत की है।

जायसी का युद्ध वर्णन भी अन्य वर्णनों की अपेक्षा अधिक सजीव हुआ है। युद्ध वर्णन पद्मावत में तीन स्थलों पर मिलता है –

(१) राजा बादशाह युद्ध खण्ड में।

(२) गोरा बादल युद्ध खण्ड में।

(३) रत्नसेन देवपाल युद्ध खण्ड में।

इन वर्णनों में युद्ध क्षेत्र का बड़ा ही रोमांचकारी चित्र अंकित हुआ है। इनमें दोनों ओर की सेनाओं के आक्रमण, हाथियों का गर्जन, उनका परस्पर भिड़ना, उनके दांतों एवं शुण्डों का टूट कर पृथ्वी पर गिरना, पैदल सेना का तलवार, बर्छी एवं भालों से परस्पर भिड़ना, घुड़सवारों की भिड़न्त, हथियारों की चमक, रुण्ड, मुण्डों का भूमि पर गिरना, कबन्धों का चक्कर काटना, पशु पक्षियों का माँस भक्षण करना आदि अनेक व्यापारों का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ हुआ है। इन युद्ध वर्णनों में गोरा बादल के युद्ध का वर्णन बडा ही मर्मस्पर्शी है। इसमें कवि ने ओजस्वी भाषा में गोरा के वीरोत्साह का साकार रूप प्रदान कर दिया है। अकेले ही शत्रु से लोहा लेने, भयंकर मार–काट मचाने, क्षत्र–विक्षत होकर भी घोर युद्ध करना, गौरव के साथ वीरगति प्राप्त करना आदि का बड़ा ही मूर्तिमान चित्र जायसी ने खींचा है। वह अत्यधिक प्रभावोत्पादक एवं उत्साहवर्द्धक है।

इसी प्रकार नागमती का विरह वर्णन बड़ा ही कारुणिक एवं हृदयग्राही है। बारह मासा शैली में प्रस्तुत नागमती का विरह लोक जीवन की अपनी वस्तु है।

(२) प्रकृति चित्रण – जायसी का अन्तर भी प्रकृति की मंजुल मनोहर क्रीड़ाओं को देखकर भाव–विभोर हो गया है। मानव की चिर सहचरी प्रकृति नटी की भंगिमाओं को बड़े भावुक होकर कवि ने देखा है। प्रकृति के व्यापारों के साथ–साथ मानव व्यपारों का साम्य स्थापित करते हुये सूक्ष्म मनोभावों के रसपूर्ण सुन्दर चित्र जायसी की लेखनी द्वारा उतरे हैं। जायसी ने प्रकृति को विभिन्न रूपों में अंकित किया है, यथा –

आलम्बन रूप में – पद्मावत में जहाँ कहीं भी प्रकृति के दर्शन आलम्बन रूप में हुये हैं, वहाँ दो रूपों में अंकित हुये हैं। प्रथम तो कवि ने प्रकृति के संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत किये हैं। दूसरे नाम परिगणन प्रणाली को अपनाकर प्राकृतिक वस्तुओं की केवल नाम गणना ही कर दी है। उदाहरणार्थ – मानसरोदक का वर्णन प्रस्तुत है –

"मान सरोदक बरनौ काहा, भरा समुद्र अस अवगाहा।
पानी मोती अस निरमल तासू, अमरित आनि कपूर सुवासू।।
लंकदीप कै सिला अनाई, बाँधा सखर घाट बनाई।।
खंड खंड सीढ़ी भई गरेटी, उतरहिं चढ़हिं लोग चहुं फेरी।
फूला कंवल रहा होइ राता, सहस सहस पंखुरनि कर छाता।।"

इसमें प्रकृति के रम्य रूप की झाँसी प्रस्तुत है। इसके अनन्तर प्रकृति के भयानक रूप का दृश्यांकन करते हुये जायसी ने किलकिला समुद्र का वर्णन किया है। यथा –

"पुनि किलकिला समुन्द महं आये, गा धीरज देखत डर खाये।
भा किलकिला उस उठै हिलोरा, जनु अकास टूटे चहुं ओरा।।
उठै लहरि परबत कै नाई, फिरि आवै जोजन सौ ताई।।
धरती लेइ सरग लहि बढ़ा, सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा।।"

इसके अतिरिक्त नाम परिगणन प्रणाली का प्रयोग करते हुये कवि ने सिंहल द्वीप के उपवनों में विद्यमान समस्त वृक्षों के नाम गिना डाले हैं। यथा –

"फरे आँब अति सघन सोहायु औ जस फबे अधिक सिर नाये।
कटहर डार पींड सन पाके, बड़हर सो अनूप अति ताके।
खिरनी पाकि खांड अस मीठी, जामुन पाक भंवर अति डीठी।
नरिअर फरे फरी फरहरी, फुरै जानु इन्द्रसन जुटी।।
लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आस पास धन इमली, औ खन तार खजूर।।"

उक्त छन्द में जायसी ने किसी व्यापक एवं संश्लिष्ट प्रभाव स्थापित करने का प्रयास नहीं किया।

उद्दीपन रूप में – जायसी ने जहँा पर प्रकृति के उद्दीपन रूप की झाँकी अंकित की है वहाँ कहीं तो प्रकृति सुख को उद्दीप्त करती हुई जान पड़ती है और कहीं दुःखद भावनाओं को उद्दीप्त करती हुई दृष्टिगोचर होती है। राजा रत्नसेन और पद्मावती के संयोग

के क्षणों में दोनों के हृदय में प्रकृति सुखदायी भावों को उद्दीप्त करती है। उन्हें आकाश–पृथ्वी सभी सुशोभित से लगते हैं। विद्युत चमक के साथ बरसता हुआ जल ऐसा प्रतीत होता है मानों सोना बरस रहा है। दादुर मोर के मधुर शब्द प्रिय लगते हैं, सारी सृष्टि हरी भरी दिखती है। यथा –

"पद्मावत चाहत रितु आई, गगन सोहावत भूमि सोहाई।
चमकि बीजु बरसै जल सेना, दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रंगराती पीतम संग जागी, गरजै गगन चौंकि गर लागी।
सीतल बूंद ऊंच चौपरा, हरिअर सब देखहिं संयसरा।।"

यही प्रकृति पति वियोग में नागमती को कितनी दुखदायी लग रही है, यथा –

"खड़ग बीजु चमकै चहुं ओरा, बुन्दवान बरसहिं घन घोरा।
ओनइ घटा आइ चहुं फेरी, कंत उबारु मदन हौं घेरी।
दादुर मोर कोकिला पीऊ, गिरै बीजु घट रहै न जीऊ।।"

विरह विदग्धा नागमती के अन्तर में प्रकृति के उक्त उपादान कष्टकर हो गये हैं।

रहस्यात्मक रूप में – जायसी ने प्रकृति का चित्रण अपने काव्य पद्मावत में रहस्यात्मक रूप में उन स्थलों पर किया है, जहाँ उन्होंने रहस्यात्मक सत्ता की ओर संकेत किया है, जो परोक्ष रूप से संसार का नियमन करती हुई अपने दिव्य सौन्दर्य एवं अनन्त आलोक के साथ संसार में परिव्याप्त है। इसीलिय कवि कहता है – "रवि ससि दिपहिं ओहि जोती" कहकर उसके अनन्त प्रकाश की ओर इंगित करते हैं। "जहुं जहुं विहंसि सुभावहि हंसी, तहं तहं छिटकि जोति परगसी" कहकर उसकी सर्वव्यापकता की ओर लक्ष्य किया है तथा "अस्ति अस्ति सब साथी बोले" कहकर उस परोक्ष सत्ता के अस्तित्व की ओर संकेत करते है।

उपदेशात्मक रूप में – प्रकृति के उपदेशात्मक रूप की झांकी अंकित करते हुये कवि ने स्थान–स्थान पर प्रकृति के माध्यम से अनेक उपदेश दिया है। सुआ खण्ड में तोते के बन्धन में पड़ने की स्थिति का चित्रण करते हुए मानव मात्र को उपदेश दिया है कि धन के गर्व में लीन होकर मानव सुखोपभोग में ऐसा लीन हो जाता है कि उसे अपने दाता ईश्वर ही क्या, अपनी मृत्यु तक ध्यान नहीं रहता।

इन्हीं भोगों में फंसे जीव के गले में अचानक मृत्यु का फन्दा पड़ जाता है। यथा–

"सुखी निचिंत जोरि धन करना, यह न चिंत आगे है मरना।
भूले हमहुं गरब तोहि सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ।
होइ निचिंत बैठि तेहि आड़ा, तब जाना खीचा हिय गाड़ा।
चरत न खुरुक कीन्ह जिउ, तबरे चरा सुख होइ।
अब जौ फाँद परा गिउ, तब रोये का होइ।

प्रतीकात्मक रूप में – कवि ने प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप को अंकित करते हुये ऐसे प्रतीकों की सृष्टि की है, जिनके द्वारा एक ओर कथा भाग आगे बढ़ता है तो दूसरी ओर प्रतीकों के माध्यम से अपना आशय स्पष्ट किया है। जैसे सिंहलगढ़ को जायसी ने

परमधाम या ब्रह्म लोक माना है। अतः उनके बारे में "नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरु" तथा "सोगढ़ देख गगन ते ऊंचा। नैनन्ह देखा कर न पहुंचा।।" अथवा "चाँद सुरिज और नखत तराई, ओहि डर अंतरिख फिरहि सवाई।" आदि कहकर जायसी ने अपनी अत्यन्त उन्नत स्थिति की ओर संकेत करते हुये उसे ब्रह्माण्ड से भी परे सिद्ध किया है। ऐसे ही एक स्थल पर सिंहलगढ़ को शरीर का प्रतीक बताया है यथा –

"गर तस बाँकि जैसि तोरी काया, पुरुष देखि ओहीं की छाया।
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा, ओ तहं फिरहि पाँच कोटवारा।
दसवें दुआर गुपुत एक ताका, अगम चढ़ाद बार सुठि बाँका।
गढ़ तर कुण्ड सुरंग तेहि माहाँ, तहं वह पन्थ कहौं तोहि पाहाँ।।"

संवेदनात्मक रूप में – प्रकृति के इस प्रकार के चित्रों में कवि ने विरह विदग्धा नागमती के प्रति संवेदना प्रकट करते हुये दिखाया है। इसीलिये यहाँ एक पक्षी नागमती से उसकी विरह व्यथा के बारे में पूछता है। यथा –

"तू फिरि फिरि दाहै सब पौंखी, केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।"

साथ ही इन कष्टों को जान कर नागमती का संदेश लेकर पक्षी सिंहल द्वीप तक ले जाने को तैयार है।

सन्देशवाहक दूत के रूप में – जायसी ने प्रकृति को संदेशवाह के रूप में दूत के भी प्रस्तुत किया है यथा –

"लेइ सो संदेस विहंगम चला, उठी आगि सगरौ सिंघला।"

रानी नागमती का संदेश लेकर पक्षी सिंहल द्वीप चला और राजा रत्नसेन की चित्तौड़ आने के लिये बाध्य किया।

अलंकारों के रूप में – जायसी ने प्रकृति के उपादानों को अलंकार रूप में भी प्रयोग किया है। पद्मावती के रूप सौन्दर्य के चित्रण में उपदान के रूप में प्रकृति के अनेक उपादान प्रस्तुत हुये हैं। यथा – "जनु धन मांहि दामिनी परगसां" या "जमुना माँझ सुरसती" कहकर जायसी ने पद्मावती की माँग का वर्णन किया है। "दुइजि कै जेति" कहकर ललाट की प्रशंसा की है। "सरद चन्द मंह खंजन जोरी" कह उसके मुख का सौन्दय तथा नेत्रों का सौन्दर्य प्रकट किया है।

सारांश – जायसी ने प्रकृति का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। इस प्रकार रम्य एवं भयानक रूप में प्रकृति के चित्र जायसी ने उतारे हैं। जायसी का सर्वाधिक ध्यान षट्ऋतु वर्णन एवं बारह मासे के चित्रण की ओर गया है। ये ऋतु वर्णन की रागात्मिका वृत्ति के आलम्बन रूप में अंकित होने के कारण अत्यन्त सरस तथा प्रभावोत्पादक हैं। इसमें कवि को सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के साथ ही प्राकृतिक परिवर्तनों की जानकारी भी विद्यमान है देखिये – ग्रीष्मकालीन सूखे तालाबों में पड़ी दरारों को वर्षा का प्रथम जल किस प्रकार एक कर देता है –

"सखर हिया घटत नित जाई, टूक टूक होइ कै बिहराई।
विहरत हिया करहु पिउ टेका, दीठि दंवगरा मेखहु एका।।"

इसी तरह कवि ने समुद्र, पर्वत, वन, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, मध्याहन, संध्या, रात्रि, उद्यान, पनघट, नगर आदि का भी विशद वर्णन किया है। कवि ने प्रकृति में ऐसी विराट सत्ता के दर्शन किये हैं जिसके उदर में समूचा विश्व समाया हुआ है तथा जो अनन्त सौन्दर्य के साथ ही साथ प्रकृति के कण–कण में परिव्याप्त है।

वस्तुत – जायसी का यह प्रकृति वर्णन देशगत, कालगत एवं सांस्कृतिक विशेषताओं से पूर्ण है साथ इसमें फारसी एवं भारतीय दोनों पद्धतियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जायसी का यह प्रकृति वर्णन सरस, जीवन्त एवं प्रभावपूर्ण है।

(३) भाव एवं रस निरूपण – जायसी कृत पद्मावत श्रृंगार रस प्रधान काव्य है। इसमें आद्यन्त "रति" नामक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हुई है परन्तु नायक रत्नसेन की मृत्यु के कारण तथा नागमती और पद्मावती के सती हो जाने के कारण इस महाकाव्य की परिसमाप्ति करुण रस में होती है और काव्य का अन्त दुःखद हुआ है।

पद्मावत में सूफी सिद्धान्तों का निर्वाह हुआ है, इसीलिए इसका दुःखद अन्त उसके विषम शोक का सूचक न होकर, आत्मा–परमात्मा के चिर मिलन की ओर संकेत करता है। जो चिर शांति का प्रतीक है। फिर भी जायसी ने उक्त ग्रन्थ में श्रृंगार रस का उसके संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का चित्रण बड़ी गहनता एवं तन्मयता के साथ किया है। इसीलिये नागमती का वियोग वर्णन हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि माना गया है। श्रृंगार के अतिरिक्त युद्ध वर्णन में वीर रस की ओजस्वी झांकियाँ पद्मावत में उपलब्ध हैं। गोरा–बादल का युद्ध वर्णन वीर रस का अच्छा उदाहरण है। भयानक एवं अद्भुत रस का निरूपण "समुद्र वर्णन" के अन्तर्गत दृष्टव्य है।

यदि जायसी का चरम लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना माना जाय, तो स्पष्ट ही सारा काव्य शान्त रस की मधुर अभिव्यक्ति से परिपूर्ण है, तथा श्रृंगार, वीर, भयानक, अद्भुत आदि सभी रस उसके अंग ही माने जायेगे। अतः लौकिक कथा की दृष्टि से पद्मावत श्रृंगार प्रधान रचना है और आध्यात्म की दृष्टि से शान्त ही इस महाकाव्य का अंगीरस माना जायगा। इस महाकाव्य में श्रृंगार रस का अपना ही आकर्षण है जिसे पढ़कर पाठक आत्म विभोर हो कवि के वर्ण्य विषय से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इन रसों के अतिरिक्त वात्सल्य रस का भी परिपाक पद्मावत में है। इसकी अभिव्यजंना एक ओर तो राजा रत्नसेन का योगी बनकर निकलते समय उसकी माँ के उद्गारों में हुई है। दूसरी ओर युवक बादल अपने चाचा गोरा के साथ राजा रत्नसेन को बन्दीगृह से छुड़ाने के लिये दिल्ली जाता है, तब उसकी माँ यशोवती के उद्गारों से वात्सल्य रस की धारा उमड़ पड़ती है। पद्मावत में युद्ध वर्णन के समय डाकिनी, प्रेम, पिशाच आदि के द्वारा वीरों के माँस मज्जा आदि का भक्षण दिखाने में यत्किंचित वीभत्स रस का भी वर्णन मिल जाता है परन्तु हास्य रस का इस कृति में सर्वथा अभाव है। इसके साथ ही "पद्मावत" में विभाव, अनुभाव, संचारी भावों की भी बड़ी ही मनोरम झांकियाँ अंकित हुई हैं। पद्मावत का भाव–सौन्दर्य इस बात का प्रमाण है कि जायसी एक भावुक सुहृदय कवि हैं। अतएव उन्होंने विभिन्न भावों के चित्रण में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। परन्तु प्रेम और विरह सम्बन्धी भावों की अभिव्यक्ति मे जायसी को अधिक सफलता मिली है। साथ ही इसके अन्तर्गत गम्भीरता,

निर्मलता एवं प्रभावोन्विति के साथ–साथ मन को अभीभूत करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगोचर होती है।

(४) अलंकार निरूपण – "पद्मावत" में प्रायः सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक हुआ है। इनके द्वारा मानव मनोभावों की बडी ही सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इन सादृश्यमूलक अलंकारों में से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिश्योक्ति तथा सांग रुपकों को प्रयोग अतिशय हुआ है। इन अलंकारों का प्रयोग अर्थ गम्भीर्य के साथ–साथ भावोत्कर्ष में भी अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इन सभी अलंकारों में कवि का कौशल रूपकातिश्योक्ति में दर्शनीय है। यथा –

"साम भुअंगिनि रोमावली, नामिहि निकसि कंवल कहं चली।।
आइ दुवौ नारंग बिच भई, देखि मयूर ठमकि रहि गई।।"

इसके अतिरिक्त जायसी ने उत्प्रेक्षा अलंकारों की तो पंक्ति ही खड़ी कर दी है। वस्तुतः जायसी की कल्पना का आकर्षण उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा ही व्यक्त हुआ है। यथा–

"बरुनी का बरनौ इमि बनी, साधे बान जान दुई अनी।।
जुरी राम रावन कै सेना, बीच समुद्र भये दोउ नैना।।"

इसी प्रकार सांगरूपकों द्वारा भी जायसी ने अद्‌भुत चमत्कारों की सृष्टि की है। नागमती के विरह वर्णन में असाढ़ का चित्रण एक आक्रमणकारी वीर के रूप में कवि ने किया है। यहाँ सांगरूपक अलंकार का सौन्दर्य दृष्टव्य है।

"चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा, सांजा विरह दुन्द दल बाजा।।
धूम साम घौरे घन धाये, सेव घजा बग पांति देखाये।
खड़्ग बीजु चमकै चहुंओरा, बुंद बान बरसै घन घोरा।।"

जायसी ने कहीं–कहीं सांगरूपकों की दृष्टि में एक अजीब भद्देपन एवं अश्लीलता की गन्ध आती है। उदाहरणार्थ एक युवा नारी ने तोप की समस्त सामग्री का आरोप लगाते हुए कवि ने सांगरूपकों की योजना इस प्रकार की है –

"सेन्दुर आगि सीस उपराहीं, पहिया तरबिन चमकत जाहीं।।
कुच गोचा दुइ हिरदय लाई, अंचल धुजा रहा छिटकाई।।
रसना लूक रहहिं मुख खोले, लंक जरै सों उनसे बोलै।
अलक जंजीर बहुगिउ बाँधे, खीचहिं हस्ती टूटहिं कांधे।।"

इसके अतिरिक्त "का सरवरि तेहि देउं भयंकू चाँद कलंकी वह निकलंकू।" कह व्यतिरेक अलंकार की तथा "नयन जो देखा कंवन भा निरमल नीर सरीर" कहकर तदगुण अलंकार की योजना की है। विभावना, संदेह, मुद्रा तथा दृष्टांत अलंकार पद्मावत में सहज ही देखे जा सकते हैं। यथा –

"की कालिन्दी विरह सताई, चलि पयाग अरइल बिच आई।"
– सन्देह अलंकार

"जीउ नाहिं पै जियै गोसाई, कर नाहीं पै करे सवाई।।" – विभावना

"जाहि बया होइ पिउ कंठलावा, करे मेराव सोई गौरवा।।" – मुद्रालंकार

"का भा जोग कथनि के कथे, निकसै घिउ न बिना दधि मथे।।"

— दृष्टांत अलंकार

उक्त अलंकारों द्वारा अद्भुत सौन्दर्य चित्रण के साथ ही मनोरम भावों की व्यंजना पद्मावत में हुई है। यद्यपि कहीं--कहीं फारसी प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, यथा -- "विरह सरागिनी भंजेसि माँसू" तथा "रकत कै आसूँ" आदि तथापि जायसी ने भारतीय अलंकारिक परम्परा का ही पर्याप्त अनुसरण किया है। कुछ मौलिक तथा अद्भुत उपमानों का भी संग्रह किया है, जिसके कारण जायसी की अलंकार योजना अधिक प्रभावोत्पादक हो गई है।

(५) छन्द योजना – "पद्मावत" महाकाव्य की सरंचना जायसी ने चौपाई तथा दोहा छन्द में ही की है। **डॉ. शम्भूनाथ सिंह** ने इसे "कड़वक बद्ध पद्धति" कहा है तथा अपभ्रंश और पद्मावत की छन्द पद्धति अन्तर बताते हुये संकेत किया है कि "अपभ्रंश काव्यों में कड़वक के भीतर पंझटिका पद्धडिया, अडिल्ल, चउपई, मदनक, त्रोटक, आदि ऐसे कई छन्दों का प्रयोग होता है, जिनमें दो–दो चरण सममात्रिक और समतुकान्त होते हैं। यद्यपि कडवक में घत्ता के पहले आद्यन्त एक ही छन्द होता है। "पद्मावत" में आदि से अन्त तक सभी कड़वकों में चौपाई छन्द का और कड़वकान्त में घत्ता के रूप में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ हैं।" **हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप–विकास पृ० ४७५।**

(६) भाषा शैली – भाव काव्य का प्राण है, तो भाषा उसका शरीर है। भाषा काव्य के भावों को मूर्तिमान करती है। यह तभी सार्थक हो सकता है जब भाषा भावानुकूल तथा अभिव्यक्ति की अनुकूलता भी परमावश्यक मानी गई है।

जायसी की भाषा – जायसी हिन्दी साहित्य और भाषा में मूर्धन्य स्थान रखते हैं। वास्तव में जायसी और तुलसी अवधी भाषा को साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने वाले सिद्ध हुये हैं। सामान्य जनता में प्रचलित भाषा को उसकी मूल सरलता, स्पष्टता, सरसता तथा सुबोधता के साथ प्रतिष्ठित किया है। जायसी की भाषा के सम्बन्ध में कतिपय विचारकों के मत इस प्रकार हैं –

सर जार्ज ग्रियर्सन – "पद्मावत" १६वीं शती में बोली जाने वाली अवधी का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करती है।

डॉ. श्याम सुन्दर दास – ने "पद्मावत" की अवधी को प्रामाणिक अवधी भाषा कहना अधिक युक्ति संगत स्वीकार किया है।

डॉ. राम कुमार वर्मा – "पद्मावत" का महत्व उसके सुरक्षित रूप में है। अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सकता है। हिन्दी साहित्य के जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं, जिनकी कृति वास्तविक रूप में हमारे सामने है। जायसी ने तत्कालीन बोल–चाल की अवधी में अपनी रचना की। इनकी कृति स्वाभाविक बोलचाल के यथातथ्य शब्दों से पूर्ण है।

उपर्युक्त वक्तव्यों से स्पष्ट है कि जायसी ने जन–सामान्य की भाषा भावानुगामिनी बनाकर उसमें प्रेम की पीर की, अभिव्यक्ति की, सामर्थ्य लाने के लिये उसका श्रृंगार और परिष्कार किया है। भाषा की उक्त विशेषता के कारण ही डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने जायसी

को हिन्दी साहित्य के महान कलाकारों में माना है।

जायसी लोक भाषा के कवि है। पद्मावत में लोक भाषा अवधी का सहज सौन्दर्य सुरक्षित है। वस्तुतः जायसी ठेठ अवधी भाषा के कवि हैं। भाषा–विकास की दृष्टि से यह पूरबी हिन्दी के अन्तर्गत आता है। जायसी को भली भाँति समझने के लिए अवधी की मुख्य विशिष्टताओं को समझ लेना चाहिए। जो इस प्रकार है। शुद्ध अवधी की बोलचाल में क्रिया का रूप सदा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है, यथा –

> ***"देखउं तोरे मन्दिर धमोई, औ हम देखा, सखी सरेखा।***
> ***चाहेसि परा नरक के कुआँ, धातु कमाय सिखै ते जोगी।।***
> ***आयसु लिहे रहिउ निति हाथा, सेवा करिउ ताइ मुई माथा।।"***

पश्चिमी हिन्दी सकर्मक भूत कालिक क्रिया में पुरुष भेद नहीं रहता। जैसे मैंने किया, तुमने किया। अवधी के इस रूप के अतिरिक्त तुलसी और जायसी ने एक सामान्य अकरान्त रूप का प्रयोग भी किया है। यथा –

> ***"हम तो तिहिं दिखावा पीअ।***
> ***तुम सिरजा यह समुद अपारा।***
> ***तिन्ह पावा उत्तम कबिलासू।।"***

वर्तमान कालिक क्रिया ब्रज भाषा के समान होती है। केवल मध्यम पुरुष एक वचन के रूप में "सि" का प्रयोग होता है। जैसे करिसि, जासि, चहसि आदि।

विधि और आज्ञा में भी यही रूप रहता है। कभी–कभी संस्कृत के समान "हि" के अन्त होने वाला रूप भी आता है। यथा – "तू सपू माता कर अस परदेस न लेहि।"

संयुक्त क्रिया में भी जहाँ पहले साधारण क्रिया का रूप रहता है। वहाँ भी अवधी में यही वर्तमान का सा रूप ही रहता है।

> ***"तपे लागि अब जेठ असाढ़ी।***
> ***मरै चहहिं, पै मरहिं न पावहिं।।"***

शैली – साहित्य के मूलभूत तत्वों में कल्पना, बुद्धि और भाव को मन मस्तिष्क और प्राण मान लिया जाय तो शैली उसका शरीर मानी जायेगी। भाषा ही नहीं उसकी शैली में भी जायसी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। "पद्मावत" की शैली गरिमामयी और उदात्त है। जायसी साधारण कथा कहने वालों से बहुत आगे थे। जायसी का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना मात्र नहीं था। एक महाकाव्यकार के नाते उन्होंने कथा के मार्मिक स्थलों, परिस्थितियों, भावनाओं और मानसिक उद्वेलनों को साकार करने में सफलता प्राप्त की है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने जायसी की शैली पर अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है – "उसमें पृथ्वीराज रासो जैसी हलचल, उथल पुथल और उद्दाम वेग नहीं हैं। न रामचरित मानस जैसा प्रशान्त गाम्भीर्य और प्रकाशमान ओज ही है। इसके विपरीत उसमें "कुमार सम्भव" के ढंग का सौकुमार्य, मार्दव और माधुर्य है।"

(७) शब्द शक्ति – पद्मावत में समर्थ भाषा के सभी गुण विद्यमान है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में – "पद्मावत" की भाषा ऊपर में देखने में तो बोलचाल की

देहाती अवधी कही जाती है, किन्तु वस्तुतः वह अत्यन्त प्रौढ़ और अर्थ सम्पत्ति से समर्थ शैली है। अनेक स्थलों पर जायसी ने ऐसी श्लेषात्मक भाषा का वर्णन किया है जिसके अर्थ लगातार कई दोहों तक से अधिक अर्थों में पूरे उतरते हैं।" ऐसा क्यों हुआ, वस्तुतः काव्य का सर्वस्य शब्द, अर्थ होते हैं। शब्दार्थ का सौन्दर्य शब्द शक्तियों पर आधारित होता है। शब्द शक्तियाँ कवि के कवित्व की कसौटी मानी गई हैं। इनके ज्ञान के अभाव में कवि में काव्य सौन्दर्य और अभिव्यक्ति में मार्मिकता नहीं आ पाती। आचार्यो ने भाषा की तीन शब्द शक्तियाँ मानी हैं। **अनिद्या, लक्षणा और व्यंजना**। जायसी ने इन सभी का समुचित प्रयोग किया है।

अनिद्या शक्ति – इसमें मुख्यार्थ प्रधान होता है। साहित्य दर्पणकार ने इसे अग्रिमा या मुख्या का नाम दिया है। अनिद्यामूलक सुन्दरता को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है। अलकारों में रूप में तथा वक्रोक्ति के रूप में। जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है। जायसी को सादृश्यमूलक अलंकारों में बहुत सफलता मिली है। रूप और गुण का सादृश्य प्रस्तुत करते हुय जायसी ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिभा का परिचय दिया है।

लक्षणा शक्ति – अनिद्या से केवल वाच्यार्थ प्राप्त होता है किन्तु कभी कभी प्रयोजन के साथ–साथ उसके आरोपित अर्थ की भी आवश्यकता पड़ती है "काव्य–निर्णय" के अनुसार– "जहाँ मुख्य अर्थ में बाधा पड़ने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। विद्वानों ने प्रयोजन के आधार पर इसके अनेक अर्थ बताये हैं। "पद्मावत" में लक्षणा का सौन्दर्य यत्र तत्र सर्वत्र दिखाई पड़ता है, यथा –

रुढ़ा लक्षणा –

"यहि नैहर रहना दिन चारी।"
"देखि अंकोर भरा जस पानी।।"

प्रयोजनवती लक्षणा –

"सुनत सरोवर हिय गा पूरी।"
"अब सों चाँ गगन मंह छपा।।"

गौणी साध्यवसाना –

"पन्नग पंकज मुख गहै – खंजन तहाँ बईछ।"
छत्र सिंहासन राज धन ताकई होय जो दीठ।।"

शुद्ध लक्षणा –

"जनहु लंक सब लूटी।"
"मोहि मुख बरसे नेह।।"

व्यंजना शक्ति – साहित्याचार्यों की दृष्टि में अनिद्या और लक्षणा से व्यंजना शक्ति सर्वोत्तम मानी गई है। वास्तव में व्यंगार्थ में ही काव्य का सौन्दर्य निहित होता है। व्यंजना केवल शब्द और अर्थ तक ही सीमित नहीं रहता वरन् प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग चेष्टा आदि में भी उसकी व्यापकता परिलक्षित होती है।

वक्रोक्ति सौन्दर्य – आचार्य भामह के अनुसार शब्द वक्रता और अर्थ वक्रता के समन्वित रूप को ही क्रोक्ति माना है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार– "वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र या विचित्र उक्ति।" इस व क्रता वैचित्य में तीन गुण सन्निहित हैं –

(१) लोक व्यवहार तथा शास्त्र में अर्थ प्रयोगों से भिन्नता।

(२) कवि का प्रतिभाजन्य चमत्कार।

(३) सहृदय के मन प्रसादन की क्षमता।

जायसी की वाग्विदग्धता के अनेक स्वरूपों में से कुछ की झलक यहाँ प्रस्तुत है – "सरवरि नहिं समाय संसारा।"

निष्कर्षत – लोकभाषा को ही जायसी ने अपने काव्य का आधार बनाया। इसे सभी प्रकार के गुणों से समन्वित करके कवि ने अपनी भाषा को समद्ध बना दिया है। वास्तव में जायसी अवधी भाषा को समृद्ध बनाने वाले श्रेष्ठतम कवि हैं। जायसी की रचना पद्मावत महाकाव्य भावभाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की अन्यतम कृति है।

"पद्मावत" की कथा वस्तु वर्णन, प्रकृति चित्रण, भाव एवं रस निरूपण, अलंकार–छन्द, भाषा–शैली तथा शब्द–शक्तियों में उसका काव्य सुष्ठता दृष्टक है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १. सूफी साधना पद्धति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – सूफी साधना पद्धति – भारतीय वेदान्त के समान्तर मध्य युग में जब इस्लाम का आगमन भारत में हुआ और मुस्लिम शासकों के माध्यम से इस्लामी संस्कृति का प्रसार होने लगा तो कट्टर हिन्दुओं में रोष की भावना बढ़ीं। इस्लामी का उग्र रूप भारत में अत्यधिक निन्दा का कारण बना और हिन्दू, मुसलमान में दूरी बढ़ती गयी। इस दूरी को कम करने का श्रेय सूफी सन्तों को है। सूफियों ने फारसी शैली में भारतीय प्रेम गाथाओं को वर्णित करना और इसके माध्यम से सूफी दर्शन के भारत में आगमन के साथ हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों में एकता की नींव पड़ी और यहीं से सूफी सम्प्रदाय का भारतीय इतिहास प्रारम्भ हो गया। सूफी मूलतः प्रेम के कवि थे। अतः हिन्दी साहित्य में इसे प्रेममार्गी धारा के नाम से जाना जाता है। हिन्दी में इस परम्परा के अग्रणी कवि मलिक मुहम्मद जायसी थे। जायसी ने लौकिक जीवन स्वरूपों के माध्यम से पारलौकिक स्वरूपों का उद्घाटन किया है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि जायसी ने धार्मिक ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन किया था। इसी कारण धार्मिक उल्लेख नें अनेक स्थलों पर असंगति भी प्राप्त होता है। निम्न पंक्तियों में जायसी के आध्यात्मिक विचार प्रतिबिम्बित होते हैं।

"सबै जगत दरसन कर लेखा, आपन दरसन आपहि देखा।।"

जायसी ने सूफी साधना पद्धति तथा तांत्रिक साधना पद्धति से प्रभावित हठयोगी की साधना पद्धति का भी यथास्थान उल्लेख किया है। सरोवर और सिंहल द्वीप का वर्णन

योग की पद्धति पर ही प्रस्तुत किया है। उन्होंने साधना पद्धति में पिंगला और सुसुम्णा नाड़ियों का भी यथा स्थान वर्णन किया है। वे अपने समय के योग सम्प्रदाय से प्रभावित अवश्य थे।

जायसी विश्व के कण–कण में प्रभु की सत्ता का आभास प्राप्त करते हैं। उन्हें सर्वत्र ही आराध्य की मोहित मूर्ति दिखाई पड़ती है। जायसी द्वारा वर्णित "मानसरोदक खण्ड" तथा "सिंघल द्वीप वर्णन खण्ड" की पक्तियाँ भी जायसी की रहस्यात्मक दृष्टि का उद्घाटन करती हैं –

"नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर शरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन ज्योति नगर हीर।।

जायसी ने अपनी अध्यात्मपरक भावना को स्पष्ट करने के लिए अद्वैतवाद के अन्तर्गत प्रतिबिम्बवाद, कनक कुण्डल न्याय, अग्नि चिनगारी या बूँद में समुद्र आदि जितने भी वाद प्रचलित हुए उन सबका समन्वय हम जायसी के ग्रन्थों में पाते हैं।

जायसी की यह आध्यात्मिक दृष्टि प्रकृति के कण–कण तक फैली है और कोई पदार्थ विश्व में ऐसा नहीं है जो उस आलौकिक सत्ता से विद्या न हो। जायसी ने सूफी दर्शन की शरीयत, मारफत, तरीकत और हकीकत रहस्य के चार सोपानों द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न २ पद्मावत के विरह–वर्णन की विशेषतायें बताइये।

उत्तर – जायसी "प्रेम की पीर" के कवि हैं। वास्तव में सूफी दर्शन ही प्रेम की पीड़ा का दर्शन है। प्रियतम के विरह में दग्ध ह्रदय ही उसे प्राप्त कर सकता है। यह पीड़ा सारी लौकिक मर्यादाओं का नाश कर देती है। प्रेमी को लोक बंधन नहीं बाँध पाते। जायसी के काव्य में प्रेम की यह उत्कट पीड़ा चरम उत्कर्ष पर पहुँची है। इसका मुख्य कारण रहस्यवाद तो है ही उनी विलक्षण अभिव्यक्ति है। जायसी ने इस पीड़ा को व्यक्त करने के लिए विरह के शास्त्रीय मानदण्डों को नहीं अपनाया है उनका विरह वर्णन मानव ह्रदय की सच्ची अनुभूति है। लोक जीवन में व्याप्त प्रेम और विरह को उन्होंने स्वीकारा है। महलों में रहने वाले राजा और रानी की विरह वेदना लोक कण्ठ की वेदना बन गयी है। प्रकृति और पशु–पक्षी उनके विरह के साक्षी बन गये हैं। उनके विरह वर्णन में अतिश्योक्ति नहीं गम्भीरता है। जहाँ अत्युक्ति है भी वह तीव्र वेदना की संकेत मात्र है। उनके काव्य में वर्णित नागमती की विरह वर्णन एक सामान्य नारी के ह्रदय की निश्छल अभिव्यक्ति है। प्रकृति उसकी सहचरी है। इसीलिये हिन्दी जगत में जायसी के विरह वर्णन को अद्वितीय माना गया है।

प्रश्न ३. पद्मावत के नख–शिख वर्णन पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – जायसी के काव्य में ईश्वर को स्त्री माना गया है और जीवात्मा पुरुष है। इसलिये पद्मावत में पद्मावती के रूप में ईश्वरीय ज्योति या नूर का चित्रण किया गया

है। स्त्री रूप में ईश्वर का वर्णन करने के कारण जायसी ने परमात्मा को सर्वांग सुन्दर बताने के लिये पद्मावती के सौन्दर्य का चित्रण किया है। इस रूप में पद्मावत में सौन्दर्य अलौकिक विधान की श्रेणी में आता है, परन्तु जायसी ने अपनी अद्भुत लेखनी से पद्मावती का जो सौन्दर्य वर्णन किया है वह लौकिक आधार पर भी नारी सौन्दर्य का अप्रतिम चित्रण है। पद्मावती का सौन्दर्य निरूपण नख–शिख वर्णन और पद्मावती रूप चर्चा खण्ड में हुआ है। नख–शिख वर्णन में पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन केवल कलात्मक नहीं है। उसमें भावात्मक सौन्दर्य का भी वर्णन है। परम्परागत उपमानों और ऊहा के साथ देह द्युति एवं दीपति का वर्णन स्वाभाविक भी है। इस प्रकार पद्मावती के सौन्दर्य में जो सहज लावण्य है वह अन्य कवियों के काव्य में नहीं मिलता। प्रेम के अनोखे कवि जायसी के काव्य से यदि सूफी तत्व निकाल दें तो प्रेम और सौन्दर्य के क्षेत्र में वे हिन्दी के समर्थ कवि सिद्ध होते हैं।

प्रश्न ४. जायसी के रहस्यवाद पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – सूफी काव्य में प्रेमिका के रूप में परमात्मा और प्रेमी के रुप में जीवात्मा की परिकल्पना की गयी है। जब प्रेमी की पीड़ा में तड़पने लगता है और सारे लोक बन्धनों को त्यागकर केवल प्रेमिका से मिलने की चाह लिये जीने लगता है तो इसी पीड़ा से प्रियतमा परमात्मा से मिलन होता है। सूफी कवियों ने इस सिद्धान्त को प्रेम के ऐतिहासिक आख्यानों के माध्यम से व्यक्त किया है। विख्यात प्रेम कथाओं के माध्यम से सूफी कवियों का यह दर्शन प्रतिकल्पित हुआ है। अतः प्रत्यक्ष में तो वे प्रेमाख्यान ही करते हैं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उनका संदेश ईश्वर प्राप्ति है। इस परोक्ष कथन के कारण उनका काव्य रहस्यवादी है। रहस्यवाद की दो स्थितियाँ हैं – साधनात्मक एवं भावात्मक। योगादि के माध्यम से प्रियतम तक पहुँचना साधनात्मक मार्ग है और प्रेम मार्ग से पहुँचना भावात्मक। सूफी काव्य में भावात्मक रहस्यवाद के ही दर्शन होते हैं। जायसी ने सूफी काव्य की इसी परम्परा को स्वीकार किया है। जायसी ने रत्नसेन–पद्मावती की प्रेमकथा के माध्यम से इसी दर्शन का प्रतिपादन किया है। सूफी रहस्यवाद की चार स्थिति मानते हैं – शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। जायसी में चारों स्थितियों का चित्रण है। जायसी पर भारतीय दर्शन का भी प्रभाव है, इसीलिये वे योग मार्ग का भी उल्लेख करते हैं, परन्तु मूल रूप में जायसी में सूफी प्रेम की पीर और भावात्मक रहस्यवाद के ही दर्शन होते हैं।

प्रश्न ५. जायसी के काव्य में प्रकृति–चित्रण की विशेषतायें बताइये।

उत्तर : जायसी भारतीय जन–जीवन में रचे–बसे कवि हैं। उनके काव्य में अवध क्षेत्र का पूरे परिवेश समाहित है। ग्राम्य जीवन, ग्राम्य शब्दावली और सहज–सलोनी प्रकृति का उन्होंने सजीव चित्रण किया है। उद्यानों और उपवनों से दूर जायसी ग्राम्यॉचल के कवि हैं। इसलिये जायसी का प्रकृति वर्णन अनूठा है। जायसी के काव्य में प्रकृति का निम्न रूपों का वर्णन हुआ है – (१) उद्दीपन रूप में, (२) आलम्बन रूप में, (३) वस्तु परिमाणात्मक

रूप में, (४) उपदेशात्मक रूप में, (५) अलांकारिक रूप में, (६) रहस्यात्मक रूप में, (७) प्रतीकात्मक रूप में, (८) मानवीकरण रूप में, (९) संदेशवाहक रूप में, (१०) संवेदनात्मक रूप में।

इस प्रकार जायसी के काव्य में प्रकृति का नाना रुपों में वर्णन हुआ है और वे प्रकृति के अत्यतम रचनाकार हैं।

प्रश्न ६. 'मानसरोदक खंड' की कथा का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

उत्तर – "पद्मावत" जायसी का प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। मानसरोदक खंड 'उसी का एक अंश है। पूर्णिमा की तिथि के दिन पदमावती अपनी समस्त सखियों के संग मानसरोवर में स्नान करने चल पड़ती है। उसकी समस्त सखियाँ इस प्रकार सजी–धजी चल रही थीं मानों कोई फूलों से पुष्पित फुलवारी हो। पद्मावती सरोवर के निकट आई। वहाँ आकर उसने अपने जूड़े को खोल दिया और केश बिखरा दिये। उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर और शरीर मलयगिरि के समान सुगन्धित था। सारी सखियाँ जल के भीतर क्रीड़ा करने लगीं। उन्होंने आपस में हार–जीत की बाजी बदी कि जो खेल में हार जायेगी, वह शर्त के अनुसार जीतने वाली को अपने गले का हार दे देगी। यह कहकर उन्होंने खेल आरम्भ कर दिया। साँवली में से एक सखी उस खेल को नहीं जानती थी। वह खेलते–खेलते गाफिल हो गयी और इस दिग्भ्रम की अवस्था में उसका मणियों का हार कहीं खो गया। यह देखकर वह व्याकुल हो उठी और अचेत होने से बचने के लिये उसने कमलनाल का सहारा ले लिया और कहने लगी कि अब मैं अपना हार किससे माँगूगी घर में प्रवेश करते ही सभी परिजन मेरे हार के विषय में जानकारी लेंगे।

सारी सखियाँ हार की खोज में लग गयीं और प्रयत्न करने पर हार नहीं मिला तो तट पर मध्यस्थ के रूप में बैठी पद्मावती स्वयं सरोवर के जल मे उतरी। उसे अपने अंक में पा मानसरोवर ने कहा कि मेरी मनोकांक्षा पूर्ण हो गयी। पारस के समान स्वयं पद्मावती मेरे पास आ गयी और उसके चरणों का स्पर्श कर वह निर्मल और धन्य हो गया। मानसरोवर ने पद्मावती का स्पर्श प्राप्त करने के लिये ही हार चुरा लिया था। जब उसकी मनोकामना पूर्ण हो गयी तो उसी क्षण जल के ऊपर उतराने लगा। सखियों ने उसे उठा लिया और चन्द्रमा रूपी पद्मावती हँसने लगी।

जायसी का आशय यही है कि प्रेम की उस कठिन साधना साधक को यह खेल समझ–बूझकर खेलना चाहिए क्योंकि उस कठिन योग साधना साधक में जरा–सा भी दिग्भ्रमिक होते ही साधक अपना सब कुछ गवां सकता है। इसलिए साधक को बार–बार प्रयास करना चाहिये। जिसकी जैसी साधना होती है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसलिए प्रेम मार्ग पर बड़ा सतर्क आर तन्मय होकर चलना चाहिये और इसी साधना द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है।

सूरदास

"सूर का जीवन वृत्तः वाह्य साक्ष्य एवं अन्तः साक्ष्य के आधार पर"

प्रश्न १. महाकवि सूरदास के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालिये।

अथवा

किसी कवि के जीवन वृत्त को जानने के लिए वाह्य एवं अन्तःसाक्ष्य प्रमुख आधार हैं। समीक्षा कीजिये।

उत्तर — भारतीय संस्कृति के पोषक एवं उन्नायक कवियों की प्रकृति अध्यात्म प्रधान रही है। वह लौकिक सुखों से दूर रहकर निर्लिप्त भाव से स्वान्तः सुखाय ही अपनी रचनायें किया करते हैं। ये कविगण अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखते थे। यही कारण है कि इनका जीवन वृत्त अस्पष्ट सा रहा है। अनुमान का सहारा लेने के कारण विवाद का विषय बढ़ता ही रहता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का क्रमिक अध्ययन करने वालों के लिये यह एक बड़ी समस्या रही है कि वह हिन्दी साहित्य के कवियों विशेषतः प्राचीन एवं मध्यकालीन के जीवन के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण्य मत स्थापित नहीं कर पाते हैं। अनुमान का अवलम्ब ही लेना पड़ता है।

किसी कवि के जीवन वृत्त को जानने के लिए दो साधन हैं — वाह्य साक्ष्य एवं अन्तः साक्ष्य, वाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत कवि के समसामयिक तथा परवर्ती विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है।

अन्तः साक्ष्य में कवि का अपनी कृतियों में अपने सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से कहा गया कथन। इन दोनों साधनों में अन्तः साक्ष्य का अधिक मूल्य है। वाह्य साक्ष्य में समसामयिक विद्वानों का कथन ही प्रमाण्य माना जाता है।

सूर के जीवन से सम्बन्धित अनेक तथ्य सन्देहास्पद है, किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि महात्मा सूरदास अत्यन्त प्रसिद्ध वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यह सत्य ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रमाणभूत है।

सूर के जीवन से सम्बन्धित सामग्री वाह्य साक्ष्य तथा अन्तः साक्ष्य दोनों ही रूपों में उपलब्ध होती है। वाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत प्राप्त सामग्री जो समसामयिक तथा परवर्ती मध्यकालीन लेखकों द्वारा रची गई है— इसमें पुष्टि सम्प्रदाय का साहित्य, वार्ता साहित्य, मध्य कालीन भक्तों और कवियों की रचनायें तथा तत्कालीन इतिहास ग्रन्थ है। यह वाह्य साक्ष्य की प्रथम श्रेणी है। दूसरी में आधुनिक साहित्य तथा इतिहास ग्रन्थों की सामग्री है। इसी में आलोचनात्मक प्रबन्ध भी सम्मिलित है। साम्प्रदायिक साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं — वल्लभ दिग्विजय, संस्कृत वार्ता— मणि माला, अष्ट सखामृत, सम्प्रदाय कल्पद्रुम, जमुनादास

कृत धौल, भाव संग्रह तथा वैष्णावार्दिक पद। वार्ता साहित्य में – चौरासी वैष्णवों की वार्ता, निज वार्ता तथा श्री हरि राय जी कृत भावप्रकाश आते हैं। साम्प्रदायिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य समकालीन तथा परवर्ती ग्रन्थ हैं। भक्तमाल नाभादास, प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका, ध्रुवदास कृत भक्त नामावली, ठाकुर रघुराजसिंह कृत राम रसिकावली, भक्त विनोद कवि मियाँ सिंह, नगर समुच्चय नागरी दास तथा आइने अकबरी आदि।

अन्तः साक्ष्य में : सूर के आत्मविषयक कथन आते हैं। ऐसे कथन सूर के पदों में जहाँ–तहाँ उपलब्ध होते हैं। इनकी तिथियाँ एवं क्रमबद्धता अस्पष्ट है। वास्तव में ये कथन कहीं –कहीं एक से अधिक अर्थ भी देते हैं। अतएव जहाँ ये कथन कोई आध्यात्मिक अर्थ देते हैं, वहाँ कवि के लौकिक जीवन की जानकारी उन पदों से प्राप्त नहीं होती। जीवन वृत की प्रमाणभूत सामग्री के लिए अन्तः साक्ष्य में वही पद लेने चाहिए, जिनसे किसी प्रकार का लौकिक अर्थ प्रकट होता है।

अन्तः साक्ष्य के रुप में सूरदास की तीन रचनायें ही प्रामाणिक मानी जाती हैं– (१) **सूर सारावली, (२) साहित्य लहरी, (३) सूर–सागर।** सूरदास की जीवन से सम्बन्धित सभी तथ्यों की जानकारी के लिए उनके जन्म स्थान, जन्मतिथि, जाति तथा वंश, अंधत्व, वैराग्य और सम्प्रदाय प्रवेश तथा गोलोकवास पर विचार आपेक्षित है।

जन्म स्थान : इस सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। सूर की जन्मभूमि के विषय में चार स्थानों का उल्लेख किया गया है।

(१) गोपाचल या ग्वालियर, (२) मथुरा प्रान्त का कोई ग्राम, (३) रुनकता या रेणुका क्षेत्र, (४) सीही।

गोपाचल ग्वालियर का ही पुराना नाम है। साहित्य लहरी के वंश परिचय वाले पद में सूर के पिता का निवास स्थल "गोपाचल" माना गया है। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इसी ग्वालियर या गोपाचल को सूर की जन्म भूमि माना है। दूसरे स्थान के सम्बन्ध में कवि मियां सिंह कृत भक्त विनोद की उक्ति प्रसिद्ध है –

"मथुरा प्रान्त विप्र कर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा।"

इस उक्ति में किसी विशेष स्थल का नाम नही है। केवल इतना ही कहा गया है कि मथुरा प्रान्त में किसी ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ है। आलोचकों की दृष्टि में इस उक्ति का अधिक महत्व नहीं है। तीसरा स्थान रुनकता है जिसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास दोनों का मत एक है। आधुनिक आलोचक इसके पक्ष में नहीं है। रुनकता को सूर का जन्म स्थान मानने का कारण सम्भवतः यही रहा होगा कि सूरदास जी बहुत समय तक गऊ घाट पर रहे, जोकि रुनकता के समीप ही है। यह स्थान आगरा और मथुरा के बीच में है। वार्ता साहित्य के अनुसार सूरदास जी का जन्म स्थान सीही माना जाता है। भाव प्रकाश में सूरदास जी का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस दूर सीही नामक ग्राम कहा जाता है। भाव प्रकाश हरिराय जी की है। यह रचना सूरदास से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् हुई। उस समय तक महाकवि सूरदास बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। सम्भवतः इसीलिये हरिराय जी ने जो सूचनायें सूर सम्बन्धी एकत्र की हैं उनमें

किंचित अतिश्योक्ति हो, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इस ग्रन्थ को महत्व देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी अपने ग्रन्थ "अष्टसखामृत" में सूर का जन्म स्थान सीही माना है। सीही के सम्बन्ध में भी आलोचकों में मतभेद है। हरिराय जी के भाव प्रकाश में इनकी स्थिति दिल्ली से चार कोस पर बताई गई है। और यह भी कहा है कि वहाँ परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने सर्प यज्ञ किया था। आजकल की स्थिति के अनुसार यह सीही नामक गाँव बल्लभगढ़ के निकट है। वहाँ यह जनश्रुति प्रचलित है कि सूर का जन्म यहीं हुआ था और जनमेजय का सर्प यज्ञ भी यहीं हुआ था। किन्तु यह स्थान दिल्ली से लगभग अठारह मील की दूरी पर है। कुछ आलोचक दूरी का प्रमाण न सिद्ध होने के कारण महत्व नहीं देते। किन्तु दिल्ली कई स्थानों पर बसी चुकी है। अतः दूरी के सम्बन्ध में आशंका व्यर्थ है। अधिकांश समलोचक सीरी को ही सूरदास का जन्म स्थान मानते हैं।

जन्म तिथि – सूरदास की जन्मतिथि के सम्बन्ध में वार्ता साहित्य में कोई स्पष्ट बात नहीं लिखी गई है। इसमें सम्प्रदाय से सम्बन्धित ही सूर की जीवनी दी गई है। किन्तु पुष्टि–सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूरदास जी वल्लभाचार्य जी से केवल दस दिन छोटे माने जाते हैं। आचार्य वल्लभ की जन्मतिथि बैसाख कृष्ण १० संवत् १५३५ है। इसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। इसके अनुसार सूर की जन्मतिथि बैसाख शुक्ला पाँच संवत् १५३५ हुई। सूर की इस जन्मतिथि के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य के वंशज भट्ट जी महाराज ने लिखा है –

"प्रगटे भक्त शिरोमणि राय।
माधव शुक्ला पंचमी ऊपर भट्ट अधिक सुखदाय।

श्री द्वारकेश जी के "भाव संग्रह" और श्री गोकुल नाथ जी की "निज वार्ता" से भी इसी तिथि की पुष्टि होती है।

हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने सूरदास जी का जन्म सं० १५४० माना है। मिश्र बन्धुओं ने भी अनुमानतः इसी तिथि का समर्थन किया है। रामचन्द्र शुक्ल भी इसी तिथि की पुष्टि करते हैं। उन्होंने इस सं. का निर्णय "सूर–सारावली" के इस पद के आधार पर किया है–

"गुर परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।"

जिन विद्वानों ने सूर का जन्म सं० १५४० माना है। उन्होंने "सूर–सारावली" तथा "साहित्य लहरी" दोनों ग्रन्थों की रचना लगभग साथ–साथ ही मानी है। साहित्य लहरी का रचना काल– "मुनि पुनि रसन के रस लेख" वाले पद से सम्वत् १६०७ निश्चित किया गया है। और यह भी विचार किया है कि "सूर सारावली" भी सं० १६०७ में ही लिखी गई थी। सूर सारावली वाले पद से यह स्पष्ट है कि उस समय सूर ६७ वर्ष के थे। अब १६०७ में से ६७ घटा देने से १५४० प्राप्त हो जाते हैं। इस गणना के आधार पर सूरदास का जन्म सं० १५४० माना जाता है। प्रभू दयाल मित्तल और द्वारका दास पारीख ने अपने ग्रन्थ "सूर निर्णय" में सूर सारावली के रचना काल को थोड़ा भिन्न मानकर सूर का जन्म सं० १५३५

ही निश्चित किया गया है। निष्कर्षतः साम्प्रदायिक आधार तथा कुछ विद्वानों के मत से **१५३५** ही माना गया है।

नाम, जाति तथा वंश – अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सूरदास के चार नाम उपलब्ध होते हैं – यह नाम हैं – सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम। इन नामों के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मत वैभिन्य है। जब सूर की रचना के किसी अंश को प्रक्षिप्त कहा जाता है तब उसमें आये हुये नाम के विषय में भी विवाद उठना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार उनकी जाति तथा वंश के बारे में भी पर्याप्त मतभेद हैं। "साहित्य लहरी" के ११८वें पद में जो वंश सम्बन्धी उल्लेख मिलता है उसके अनुसार उनको ब्रह्मभट्ट कहा गया है। इसमें चन्दवरदाई का भी संकेत मिलता है। कुछ विद्वान उन्हें चन्दवरदाई का वंशज मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वान उक्त कथन को प्रामाणिक नहीं मानते। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" में इसी पद के सहारे सूर की वंशावली उपस्थित की थी। उन्होंने भी सूर को चन्द्र का वंशज ही दिखाया है। महामहोपाध्याय श्री हरि प्रसाद शास्त्री ने भी इस वंशावली का समर्थन किया है। शास्त्री जी को पंडित नानू राम भट्ट से जो वंशावली प्राप्त हुई वह साहित्य लहरी के पद से बहुत कुछ मेल खाती है। उसमें सूरदास जी के पिता का नाम "रामचन्द्र" लिखा है। किन्तु तत्कालीन इतिहास ग्रन्थों में सूरदास के पिता का नाम रामदास मिलता है। श्री हरि प्रसाद शास्त्री ने रामचन्द्र और रामदास नाम को एक ही माना है। जबकि डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इतिहास ग्रन्थों में दिये हुये रामदास नाम को ही महत्व दिया है।

जहाँ तक जाति का सम्बन्ध है डॉ० वृजेश्वर वर्मा ने अन्तः साक्ष्य के आधार पर सूर को किसी निम्न जाति का सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों ने सूर के कुछ पदों के आधार पर इन्हें ढाढी आदि सम्बोधित किया है। उसे जाति सूचक नहीं माना। "सूर निर्णय" के लेखकों ने स्पष्ट किया है कि कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास आदि भक्तों में भी अपने को ढाढी कहा है किन्तु वे निम्न जाति के नहीं थें। वास्तव में इस शब्द के द्वारा सूरदास जी ने अपनी दीनता दिखाई है। सेवकाई का भाव व्यक्त किया है।

जहाँ तक वार्ता साहित्य का सम्बन्ध हैं उसके अनुसार सूरदास को अधिकांश विद्वानों ने सारस्वत ब्राह्मण ही माना है। इस बात के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश में सारस्वत ब्राह्मण अधिक हैं अन्य प्रदेशों में कम।

कतिपय आलोचक सूरदास को विवाहित मानते हैं, किन्तु इस विषय में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलते। यह कल्पना जनश्रुतियों के आधार पर की गई है।

अन्धत्व – सूर का जन्मान्ध होना भी हिन्दी विद्वानों में विवाद का विषय रहा है। कुछ लोग इन्हें जन्मांध मानते हैं और कुछ का विचार है कि सूरदास ने बड़ी आयु में अपने नेत्र खो दिये हैं। "वार्ता साहित्य" के अनुसार तो सूर न केवल जन्मांध थे, वरन् वे इस प्रकार के अन्धे थे जिनके नेत्रों का उभरा हुआ अंश भी नहीं था। सूर सम्बन्धी अनेक जन श्रुतियों के आधार पर वे जन्मांध थे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुछ आलोचक इनके जन्मांध होने के कारण का विश्लेषण

करते हैं। उनके कथनानुसार सूर ने जो विभिन्न रूप–वर्णन तथा अंग–प्रत्यंग के सौन्दर्य का चित्रण किया है, वह कोई जन्मांध व्यक्ति नहीं कर सकता। डॉ० मुंशीराम शर्मा "सोम" का विचार इस प्रकार है– "यह तो साधारण मनुष्यों की बात हुई। सूर जैसे उच्च कोटि के संत की बात ही निराली है। वे भगवद् भक्त थे, अघटित घटना घटा देने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते। साधारण कवि जिस वस्तु को नेत्र रहते हुये भी नहीं देख सकता उसे क्रांतिदर्शी व्यक्ति एवं महात्मा अनायास ही देख लेते हैं।" सूरसागर के अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनसे सूर का अन्धत्व निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। प्रश्न इस बात का है कि वे जन्मांध थे अथवा बाद में अन्धे हुये। जन्मांधता का संकेत देने वाले पद इस प्रकार हैं–

(१) "विप्र सुदामा कियो अयाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौ बहुत निठुरता, नैननि हू क हानि।।"
(२)"सूर की ठिरिया निठुर है बैठे जनम अंध करयो।
कोटि कोटि तुम पतित उधारे, कह हूं कवन कहां कौ।
रहौ जात एक पतित जनम कौ आंधरौ सूर सदा कौ।।
(३)"नाथ मोंहिं अबकी बेर उबारो।
तुम नाथन के नाथ स्वामी दाता नाम तिहारो।।
करम हीन जनम कौ अंधौ मोते कौन नकारौ।
तीन लोक के तुम प्रतिपालक, मैं तो दास तिहारौ।।"

वाह्य साक्ष्य से –

(४) जनम अन्ध हम ज्योति विहीना – भक्त विनोद
(५) जनमहिं ते हैं नैन विहीन – राम रसिकावली

इन अन्तः साक्ष्यों एवं वाह्य साक्ष्यों के आधार पर तथा विद्वानों का ऐसा अनुभव है कि आज भी ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं, जो जन्मांध होते हुये भी अपूर्व ज्ञान रखते हैं।

वैराग्य एवं सम्प्रदाय प्रवेश – भाव प्रकाश के अनुसार सूर छः वर्ष की छोटी आयु में ही अपने गाँव से चार कोस दूरी पर एक तालाब के किनारे रहने लगे थे। अठारह वर्ष की आयु तक वे उस स्थान पर रहे। इसके उपरांत मथुरा और आगरा के बीच जमुना के किनारे गऊ घाट पर रहने लगे। इस प्रकार सं० १५५३ के लगभग वे गऊ घाट पर आये थे। कुछ वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य उस स्थान पर आये। सूरदास यहीं वल्लभाचार्य जी से मिले। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा "वल्लभ दिग्विजय" के वर्णन से अनुमान लगाया जाता है कि सं० १५६७ या ६८ में सूरदास जी ने आचार्य वल्लभ जी से दीक्षा ली। कुछ विद्वानों ने सूरदास जी का शरणागति काल संवत् १५७७ माना है किंतु एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि सूर यदि सं० १५७७ में सम्प्रदाय में दीक्षित हुये तो सं० १५७२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्राकट्य अवसर पर बधाई का पद कैसे गाया। अतः सूरदास का शरणागति काल अधिकांश आलोचकों ने संवत् १५६७ ही माना है।

"सूरदास की वार्ता" के अनुसार सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त सूरदास जी आजीवन श्री नाथ जी की सेवा में रहे। वैसे उनका स्थायी निवास स्थान इस कला में

गोवर्द्धन के पास पारसौली ग्राम में था। वे नित्य पारसौली से गोवर्द्धन श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा के लिये जाते थे। इसके अतिरिक्त सूर के जीवन से सम्बन्धित कुछ अन्य जनश्रुतियों भी प्रचलित हैं। जिनमें उनके अनेक स्थलों पर जाने का उल्लेख है किन्तु यह तथ्य संदिग्ध है। यहाँ एक प्रसंग जो "सूरदास वार्ता" में मिलता है, उल्लेखनीय है – वह सूरदास और अकबर की भेंट के विषय में। वार्ता के अनुसार अकबर दिल्ली से आगरा जाते समय सूरदास जी से मिले थे। डॉ० दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि यह भेंट संवत् १५५५ और १५७२ के मध्य हुई। सूर और तुलसी की भेंट के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। "मूल गोंसाई चरित" के अनुसार सूरदास जी तुलसीदास जी से चित्रकूट में मिले थे। इसके विपरीत "प्राचीन वार्ता रहस्य" में तुलसी और सूर की भेंट के सम्बन्ध में लिखा है कि तुलसीदास जी अपने भाई नन्ददास जी से मिलने जब व्रज में आये थे तब पारसौली ग्राम में वे सूरदास जी से मिले थे।

गोलोकवास – महाकवि सूरदास जी के गोलोकवास के सम्बन्ध में भी विद्वानों एवं सुधी समीक्षकों में पर्याप्त मतभेद है। मिश्र बन्धुओं ने उनका निधन संवत् १६२० माना है। आचार्य शुक्ल का भी यही अनुमान है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सूर की निधन तिथि संवत् १६४० मानी है श्री प्रभूदयाल मित्तल तथा द्वारिका दास पारिख ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने के पश्चात् सूर को गोलोकवास संवत् १६४० ही माना है। अधिकांश विद्वान इस मत के प्रबल समर्थक हैं कि सूरदास जी का निधन संवत् १६४० के लगभग पारसौली में हुआ था।

"सूर का अन्धत्व"

प्रश्न २. महाकवि सूरदास जन्मान्ध थे या बाद में अन्धे हुए। इस कथन की समीक्षा कीजिये।

उत्तर – महाकवि सूरदास जन्मान्ध थे, अथवा पीछे अन्धे हुये– यह विषय हिन्दी के विद्वानों के सम्मुख विवाद का रहा है।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर निर्णय लें तो सूर के अनेक पद उनकी अन्धता प्रमाणित करते हैं। यह पद सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व लिखे गये थे। जिन्हें विनय के पद कहते हैं। इन पदों से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि महाकवि सूर अन्धे ही थे, किन्तु ऐसी घटना का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, जिससे कि उनका अधिक आयु में अन्धा होना सिद्ध किया जा सके। विनय के पदों में इस प्रकार की उक्तियाँ मिलती हैं –

(१) "यहै जिय जानि कै अंध भव त्रास तै।
सूर कामी कुटिल सरन आया।।"

(२) "सूरदास सौं कहाँ निहारौ नैनन हूं की हाँनि।।"

(३) "सूर कूर आंधरौ, मैं द्वार पारयो गाँऊ।"

(४) "कर जोरि सूर विनती करै,
सुनहु न हो रुकुमिनी रवन।

कटौ न फंद मों अंध के, अब विलम्ब–कारन करन।"

(५) "सूरदास अंध अपराधी, सो काहे बिसरायो।"

(६) "ऐसे अंध अधम अविवेकी खोटी न करत खरे।"

(७) "इत उत देखत जनम गयो।
या झूठी माया के कारन दुहू हम अन्ध भयो।"

उपर्युक्त पंक्तियों से यह निश्चित है कि सूरदास जी निश्चय ही अन्धे थे किन्तु सूर के पदों में कुछ ऐसी भी पंक्तिया मिलती हैं जिनसे यह विदित होता है कि वह सम्भवतः जन्म के कुछ समय बाद ही अन्धे हुये होंगे। उपर्युक्त अंकित पद्यांश क्रमांक संख्या सात में यह बात कही गई है कि "इत उत देखत जनम गयो" – इधर उधर देखते हुये जीवन व्यतीत हो गया। और इस झूठी माया के कारण मैं दोनों नेत्रों से अन्धा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इधर उधर भटकते हुये सूर के जीवन में कोई ऐसी घटना घटी होगी, जिसमें उन्हें नेत्र ज्योति खोनी पड़ी। इसके उपरांत वह संसार से विरक्त हो गये।

श्री प्रभु दयाल मित्तल और द्वारका दास पारीख ने अपने ग्रन्थ "सूर–निर्णय" में कुछ ऐसे पद खोज निकाले हैं, जिनसे सूर की जन्मान्धता प्रमाणित होती है। इन पदों के अंश इस प्रकार हैं –

(१) "सूर की बिरिया निठुर ह्वै बैठे, जन्म अन्ध कर्‌यौ।"

(२) "रहौ जात एक पतित जनम कौ, आंधरौ सूर सदा को।"

(३) "करम हीन जनम कौ अन्धौ मोतो कौन न कारौ।"

अब वाह्य साक्ष्य के आधार पर विचार अपेक्षित है – वाह्य साक्ष्य सम्बन्धी ग्रन्थों में सबसे अधिक सामग्री "वार्ता साहित्य" में ही मिलती है। वार्ता साहित्य से सम्बन्धी हरिराय जी का भाव प्रकाश इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डालता है। हरिराय जी ने एक तो इस बात को स्पष्ट किया है कि वास्तव में सूर किस प्रकार के अन्धे को कहा जाता है। उनके विचारानुसार जिनकी जन्म से आंखें नहीं होती हैं उसी को सूर या सूरदास कहने की प्रथा रही है। जन्म के उपरान्त जो व्यक्ति बड़ी आयु में अन्धा होता है उसे सूर नहीं कहा जाता। यों तो इस बात के लिये समाज के कोई कठोर नियम नहीं हैं। परन्तु अधिकांश में जन्मान्ध को ही लोग सूरदास कहकर पुकारते हैं। दूसरी यह बात भी महत्वपूर्ण है कि हरिराय जी ने अपना ग्रन्थ सूर से लगभग सौ वर्ष बाद लिखा है। इस समय तक जो भी जनश्रुतियां रही होंगी सम्भवतः उनमें सत्य का अंश अधिक होगा। उन्हीं के आधार पर हरिराय जी ने सूर को जन्मान्ध बताया है। इसके अतिरिक्त सूरदास के समकालीन श्रीनाथ ने सूरदास जी को जन्मान्ध कहा है। उनकी उक्ति अधिक माननीय हो सकती है। उन्होंने अपनी पुस्तक "संस्कृत मणिमाला" में लिखा है – "जन्मान्धो सूरदासभूत"। विटठलनाथ जी के समकालीन कवि प्राण नाथ ने भी सूर को जन्मांध ही कहा है –

"बाहर नैन विहीन सों भीतर नैन विसाल।
जिन्हें न.जगु कछु देखिबे लखि हरि रूप निहाल।।"

निम्नलिखित पद्यांश भी विचारणीय है –

"अपने ही अज्ञान तिमिर में बिसर्‌यो परम ठिकानौ
सूरदास की एक आंखि हैं, ताहू में कछु कानौ।"

इस पंक्ति के आधार पर वास्तव में उन्हें एक आंख वाला माना है। इस पंक्ति से तात्पर्य है कि उनके पास केवल एक ज्ञान चक्षु ही है किन्तु उस ज्ञान चक्षु में भी अभी पूर्णता नहीं आ पाई है।

सबसे अधिक बहुमूल्य बात तो यह है कि प्रत्यक्ष अनुभवों के द्वारा हमें ऐसे जन्मांध व्यक्तियों के प्रमाण मिल जाते हैं, जिन्होंने अद्‌भुत सामर्थ्य के साथ सांसारिक जीवन का वर्णन किया है। "चौरासी वैष्णव की वार्ता" में उल्लेख आता है – "इनके हृदय में स्वरूपानन्द को अनुभव है। तासौं तुम जैसो श्रृंगार करौगो सो तासो ही पद सूरदास वर्णन करिकै गावेंगे।"

कतिपय आधुनिक विद्वान के मत भी महत्वपूर्ण हैं – डॉ. हरवंश लाल शर्मा लिखते हैं – "आज भी ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं, जिनकी जन्मान्धता प्रत्यक्ष प्रमाणित है, और जो अपनी क्रियाओं से चक्षुष्मान व्यक्तियों को भी आश्चर्य चकित कर देते हैं। मैंने स्वयं इस प्रकार के दो व्यक्तियों को देखा है। फिर सूर तो सूर थे। भगवान का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे। प्रकाशमय आराध्य में विलीन होकर स्वयं तेजोमय हो चुके थे। फिर उनके लिये संसार में क्या वस्तु अप्रकाशित रह जाती ?"

आचार्य नन्द दुलारे बाज़पेयी भी सूर को जन्मान्ध मानते हुये लिखते हैं – "अनेक प्रमाण उनका जन्मान्ध होना सिद्ध करते हैं। इसके विरोध में ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह कहा जा सके कि वे जन्मान्ध न थे।"

"गीत काव्य परम्परा में सूरदास"

प्रश्न ३. गीत काव्य परम्परा में सूरदास का स्थान निर्धारित कीजिये।

अथवा

काव्य में गीत काव्य का समावेश हृदय के भावों की मधुरतम् अभिव्यक्ति के साथ होता है। सूर काव्य के माध्यम से सिद्ध कीजिये।

उत्तर – मानव समाज में गीत का प्रारम्भ अत्यधिक प्राचीन है। यह भी सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ में गीत व्यक्तिगत मनोरंजन के साधन रहे हों, तत्पश्चात् उन्होंने सामाजिक मनोरंजन का रूप धारण कर लिया हो। अवश्य ही अनेक उत्सवों पर लोक गीतों का आयोजन प्राचीन काल से ही चला आ रहा है और आज तक विद्यमान है।

गीत संगीतात्मक छन्द को कहा जाता है। काव्य में संगीत का समावेश हृदय के भावों की मधुरतम अभिव्यक्ति के साथ होता है। अतः अनुभूति की कोमलता के साथ भाषा की सुकुमारता भी उसका अनिवार्य अंग बन जाती है। यही कारण है कि काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप "गीत" माना जाता है। श्रोता एवं पाठक के हृदय को भावावेश में लाने की सर्वाधिक शक्ति गीत में होती है। गीत का आकार भी लघु होता है। शब्द चयन, भावाभिव्यक्ति

एवं छन्द योजना के क्षेत्र में गीत की अपनी मर्यादा होती है। इन मर्यादाओं में बंधकर जब कवि की वाणी मुखर होती है तभी "गीत" का जन्म होता है।

भारतीय साहित्य में गीत की परम्परा बहुत प्राचीन है। आर्यों के आदि साहित्य "वेदों" से ही गीत का उद्भव माना जाता है। सामवेद गान विद्या का ही वेद है। ऋग्वेद की ऋचायें भी गेयताके गुण से युक्त हैं। संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् गीतों की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। प्राकृत आदि भाषाओं ने जब साहित्य को लोक जीवन के निकट प्रस्तुत किया तब लोकगीतों की परम्परा उद्भूत हुई है जो अब तक चली आ रही है। नाटकों की परम्परा संस्कृत में बहुत पुरानी है। उनमें भी गीतों को स्थान मिला है। कालीदास आदि श्रेष्ठ कवियों के काव्य एवं नाटक गीत तत्व से युक्त हैं। जयदेव की "गीत गोविन्द" संस्कृत की गीत काव्य सम्बन्धी अत्यधिक लोकप्रिय पुस्तक है, जिसने हिन्दी में विद्यापति जैसे गीतकारों को जन्म दिया। प्राकृत अपभ्रंश में रचित सिद्ध वाणी में इस परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ है। वहां से यह परम्परा संत कवियों में कबीर आदि में प्रतिफलित हुई। इसके उपरान्त भक्ति काल में इस परम्परा का विकास हुआ। हिन्दी का भक्ति काल गीत तत्व को अपनाने में सबसे आगे रहा है। इस काल के सभी प्रमुख कवियों की रचनाओं में गीत तत्व का विकास देखते हैं। सूर और मीरा इस युग के सबसे अधिक मधुर गायक माने जाते हैं। प्रज्ञा चक्षु सूरदास ने गीत परम्परा में सबसे अधिक आलोक भरा है। उनके पदों में भगवान की लीलाओं का गान इसी गीत शैली में हुआ है। जिसके द्वारा शृंगार की पवित्रता को प्राप्त हुआ। पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् सूर की धारणा यह बन गई कि वे सगुण लीला के पद गान करेंगे। यथा –

"सब विधि अगम बिचारहिं ताने, सूर सगुन लीला पद गावै।"

तुलसी भी अपने युग की इस गीतोन्मुखी प्रवृत्ति की अवहेलना नहीं कर सके। उनकी गीतावली, कृष्ण गीतावली, विनयपत्रिका आदि रचनायें गीत शैली के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

तुलसी के परवर्ती कवियों ने भी गीत परम्परा का क्रम नहीं तोड़ा। रीतिकाल में देव, पद्याकर, सेनापति आदि कवियों के कवित्त सवैये स्फुट रूप में उसी प्रवृत्ति का फल हैं, यद्यपि ये कवि अपने युग की कतिपय अन्य प्रवृत्तियों के कारण गेय पदों की रचना करने के लिए अधिक उत्साहित नहीं हुये।

आधुनिक युग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही उस परम्परा का पोषण पुनः आरम्भ हुआ, और छायावादी युग में आकर यह खूब फली फूली। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि छायावादी कवियों के अतिरिक्त माखन लाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहन आदि ने अनेक सुन्दर गीत लिखे। आजकल भी ये परम्परा आगे बढ रही है। अनके कवि सुन्दर एवं सरस गीतों की रचना करने में व्यस्त हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि आदि काल से आज तक अटूट रूप से चली आती हुई इस गीत परम्परा में महाकवि सूरदास का क्या स्थान है।

हिन्दी साहित्य में अद्यावधि प्रवाहित गीत परम्परा में सूरदास का स्थान बड़ा गौरवपूर्ण है। परम्परागत प्रभाव होते हुये भी सूरदास ने भाव पक्ष तथा गीत शैली में नवीनता

का संचार किया है। सूर के सूर सागर के पदों में बड़ी संख्या में राग रागनियों का महत्व अधिक है। कुछ राग रागनियाँ सूरदास की अपनी मौलिक सृष्टि हैं। सूरादास का काव्य प्रबन्ध नहीं वरन् मुक्तक हैं सूर के पदों में एक विशेष उद्देश्य प्रतीत होता है। उनका ध्येय अपने भगवान के प्रेम में लिप्त होकर उनके लीला सौन्दर्य का वर्णन करना ही था। जिस प्रकार की लीलाओं का गान सूरदास ने किया है, उसमें आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता स्वाभाविक थी। इस आत्माभिव्यक्ति के लिये मुक्तक काव्य अधिक सहज और उपयुक्त होता है। जहाँ सूरादास जी कृष्ण तथा उनके सखाओं की बाल लीलाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ वे स्वयं भी कृष्ण के एक सखा ही हैं। यह सख्य भाव सूर के गेय पदों में अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रकट हुआ है। **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने पदों को सबसे अधिक महत्व दिया है। जहाँ भ्रमर गीत के प्रसंग में सूरदास जी गोपिकाओं की विरह भावना को व्यक्त करते हैं, वहाँ उनका हृदय भी गोपिका का ही हृदय है। इस प्रकार की तन्मयता सूर के गीतों की विशेषता है।

गीतों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में सूर और तुलसी दोनों ही का शीर्ष स्थान है। किन्तु विनय पत्रिका और गीतावली के पद गीति शैली की दृष्टि से उतने सफल नहीं हैं, जितने सूर के पद। तुलसी की भक्ति में दास्य भाव की प्रधानता है जिसमें साधक–साध्य दोनों का अस्तित्व पृथक–पृथक है, किन्तु सूरदास जी की भक्ति प्रधान रूप से माधुर्य एवं सख्य भाव भी है। इसमें साधक–साध्य की इतनी निकटता रहती है जितनी अन्य भावों में नहीं। यहाँ इस प्रकार की अद्वैत भावनां की सृष्टि होती हैं इसलिये गीत शैली की दृष्टि से तुलसी की अपेक्षा सूर अधिक सफल रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सूर को गीतों में सफलता इसलिये भी प्राप्त हुई क्योंकि वे उच्च कोटि के संगीतज्ञ थे, उन्हें सभी प्रकार की राग रागनियों का शास्त्रीय ज्ञान था।

डॉ० हरवंश लाल शर्मा के में शब्दों में – " सूर के विशाल मानस में भाव रस का इतना उद्रेक था कि वह हठात वाणी के बाँध को तोड़ता हुआ फूट पड़ा है। कृष्ण के सौन्दर्य, भाव और व्यवहारों के चित्रण में ब्रजवासी नर नारियों की भावनाओं के प्रकाशन में, गोप बालकों के बाल सखा सुलभ केलि–कौतुक के अंकन में, किशोरी युवती और वृद्धाओं के चापल्य, औतसुक्य, वात्सल्य आदि के अभिव्यंजन में अपनी बन्द आँखों और उन्मुक्त कल्पना से भाव जगत के दृष्टा और सृष्टा सूर ने वह कमाल हासिल किया है कि हिन्दी के ही नहीं, विश्व भाषाओं के गीतकार मात्र हैं"। सूर का अकेला ही गीत वास्तव मे रस पूर्ण सृष्टि करने में समर्थ है।

मनोव्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के साथ–साथ सूरदास जी ने अलंकारों का इतना स्वाभाविक प्रयोग किया है कि उनके पदों की भाव प्रेषणीयता बढ़ गई है। वक्रोक्ति आदि के द्वारा गीतों के भाव अधिक मार्मिक हो गये हैं। बाल लीला के वर्णन में यशोदा माता जब हरि को पालने में झुलाती हैं तो उस समय की शिशु कृष्ण की चेष्टायें और यशोदा की वात्सल्य भावनायें सूर ने अद्भुत सामर्थ्य के साथ चित्रित की हैं, जैसे –

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हरावै जोई सोई कछु गावै।

मेरे लाल को आऊ निदरिया, काहे न आन सुलावै।
तू काहे नहिं बेगहिं आवै तो को कान्ह बुलावै।
कबहूं पलक हरि मूंद लेत हैं, कबहूं अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन है रहि रहि, करि करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि जसुमति मधुर गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नंद भामिनि पावै।

ऐसे ही पदों को देखकर शुक्ल जी ने कहा था– "जितने विस्तृत और विशद् रूप में बाल्य जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार्यावस्था तक के क्रम से लगे हुये न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है। कवि ने बालकों की अन्तः प्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है।" इससे सिद्ध होता है कि सूर का वात्सल्य वर्णन सबसे अधिक सफल रहा है। इसी प्रकार के पदों में गीतात्मकता भी प्रधान रूप से पाई जाती है। विरह के पदों में, जोकि भ्रमर गीत के प्रसंग में है, गेय पद शैली अन्तर्मुखी हो गई है। इसी कारण से सूर का विरह वर्णन अधिक मार्मिक है इन वर्णनों में भक्त की आत्मा के दर्शन होते हैं।

विप्रलम्भ श्रृंगार के ये पद काव्य शास्त्र की दृष्टि से भी बहुत महत्व रखते हैं। काव्य शास्त्र में श्रृंगार को ही रसराज माना गया है। इस दृष्टि से सूर के इन गेय पदों से रस की सृष्टि अखंडता के साथ हुई है। गेय पद शैली का जैसा रूप हमें सूर के काव्य में मिलता है, वैसा अन्यत्र दृष्टि गोचर नहीं होता।

"हिन्दी कृष्ण काव्य में सूरदास"

प्रश्न ४. हिन्दी कृष्ण काव्य में महाकवि सूरदास का स्थान अद्वितीय है। समीक्षा कीजिये।

अथवा

हिन्दी में कृष्ण काव्यधारा को भारतव्यापी बनाने का श्रेय महात्मा सूरदास को प्राप्त होता है। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – काव्य परम्परा की दृष्टि से कृष्ण काव्य का उदगम अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु हिन्दी साहित्य के अर्न्गत कृष्ण काव्य धारा को प्रवाहित करने वाले प्रथम कवि विद्यापति हैं। विद्यापति ने कृष्ण काव्य की जिस माधुर्य भावमयी रागात्मक धारा का आरम्भ किया था, उस पर गीत गोविन्दकार जयदेव का प्रभाव विशेष रूप से माना जाता है। डॉ. **रामकुमार वर्मा** के विचारानुसार कृष्ण काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिये। हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५०० निस्संदेह जयदेव के "कृष्ण प्रेम संगीत" ने हिन्दी की कृष्ण काव्य धारा को प्रेरणा प्रदान की, और इसी स्वर में स्वर मिलाकर मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपने गीतों का प्रणयन किया। किन्तु हिन्दी साहित्य के क्षेत्र

में कृष्ण काव्य के प्रथम प्रणेता विद्यापति ही हैं जयदेव का काव्य संस्कृत साहित्य की वस्तु है। उसे संस्कृत तथा हिन्दी के मध्य की कड़ी माना जा सकता है, किन्तु जयदेव को हिन्दी के कृष्ण काव्य का आदि कवि कहना उचित नहीं है।

वस्तुतः हिन्दी में कृष्णकाव्य का प्रारम्भ विद्यापति से ही हुआ है। विद्यापति के पश्चात् हिन्दी में कृष्ण काव्य धारा को भारत व्यापी बनाने का श्रेय महात्मा सूरदास को ही प्राप्त है। विद्यापति और सूरदास के मध्य कोई श्रृंखला नहीं दिखाई देती क्योंकि विद्यापति ने मैथिल भाषा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी माधुर्य भावना को अपने गीतों में संजोया है। और सूर ने ब्रज भाष्श में भक्ति भावनापूर्ण प्रेम तत्व का गान किया है। इसीलिए विद्वानों का मत है कि सूर मैथिल कोकिल विद्यापति की परम्परा में न आकर, ब्रज के उन लोक गीतकारों की परम्परा में आते हैं, जिनके नामों का अब पूर्णतः विस्मरण हो चुका है। किन्तु उनके गीत सूर से भी पहले ब्रज प्रदेश में घर–घर गाये जाते थे, जिनमें कृष्ण की भक्ति भावना पूर्णतः भरी हुई थी। इस तथ्य का समर्थन **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने भी किया है। उनके शब्दों में – "सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का – चाहे वह मौखिक ही रही हो – पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" **हिन्दी साहित्य का विकास पृ. १६५।** परन्तु अभी तक ब्रज के उन लोक गीतकारों का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं हुआ है। यही कारण है कि सूर को ब्रज के लोक गीतकारों का पूर्ण विकसित रूप मानते हुए भी हिन्दी साहित्य के कतिपय विद्वान अभी तक सूर को ही ब्रज भाषा के गीतों का प्रवर्तक मानते हैं। सूर के गीतों का सम्बन्ध विद्यापति के गीतों से ही जोड़ते हैं। कारण कदाचित यह है कि लिखित रूप में अभी तक यही प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध हुआ है।" **हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६६।**

सूर के उपरान्त हिन्दी कृष्ण काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा लिखित रूप से मिलती है। जिसमें सूर के अनुसरण पर ही श्रृंगार एवं वात्सल्य से परिपूर्ण मधुर गीत गाये गये हैं। इन गीतों को सूर की जूठन कहने में कोई अत्युक्ति दिखाई नहीं देती। इस परम्परा में अष्टछाप के सर्वप्रथम वे कवि आते है जिन पर बल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलदास की विशेष कृपा थी। ये कविगण दोनों आचार्यों के आग्रह पर अनुरोध पर विभिन्न राग रागनियों में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी गीतों का प्रणयन किया करते थे। इनमें सूर के अतिरिक्त कुम्भन दास, परमानन्द दास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीत स्वामी तथा चतुर्भुज दास प्रसिद्ध हैं। ये सभी कवि ब्रजभाषा के अन्तर्गत कृष्ण काव्य के प्रणेता माने जाते हैं। इन कवियों के गीत हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन गीतों में कृष्ण भक्ति के अतिरिक्त ब्रज संस्कृति भी जीवन्त रूप में व्यक्त हुई है। इन कवियों में सूर के उपरान्त साहित्यिक दृष्टि से नन्ददास श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी "रासपंचाध्यायी" तथा "भवरगीत" काव्य हिन्दी की अनुपम कृतियाँ हैं।

इन अष्टछापी कवियों के पश्चात् कृष्ण काव्य धारा में "मीराबाई" का विशेष महत्व है। मीरा ने दाम्पत्य भाव में विभोर होकर कृष्ण भक्ति सम्बन्धी मधुर एवं मर्मस्पर्शी गीतों की संरचना की। इनके गीतों में संयोग एवं वियोग श्रृंगार सजीव हो उठा है। मीराबाई के

उपरान्त क्रमशः नरोत्तम दास, हरिराय, गोविन्ददास, स्वामी हरिदास तथा हित हरिवंश आते हैं। इन कवियों में हित हरिवंश के पद अधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण हैं। वे राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी है। जिसका मुख्य केन्द्र वृन्दावन है।

तदन्तर कृष्ण काव्य धारा के अन्तर्गत क्रमशः श्रीभट्ट व्यास जी, निपट निरंजन, लक्ष्मी नारायण, बलभद्र मिश्र, कादिर, मुबारक, रसखान आदि आते हैं। इनमें रसखान अधिक प्रसिद्ध हैं। **"प्रेम वाटिका"** तथा **"सुजान रसखान"** नामक दोनों काव्यों में रसखान का उत्कट प्रेम तथा गहन भावानुभूति के साथ कृष्ण भक्ति मानों मूर्ति कमान हो गई है। तदुपरांत अहमद ध्रुवदास, सुन्दर दास, चतुर दास, धर्म दास, रसिक दास, रहीम दास आदि कितने ही कवि भूषण काव्य–धारा में मिलते हैं। इनमें महत्वपूर्ण स्थान रहीम का है। ये अरबी, फारसी, तुर्की और संस्कृत के साथ ब्रज और अवधी के भी ज्ञाता थे। इन्होंने दोनों भाषाओं में सरस कवितायें लिखी है। जिनमें भावुकता तथा सहृदयता विद्यमान है। इसके उपरांत, बीरबल टोडर मल, कवि गंग आदि आते हैं। इन कवियों की परिगणना भक्ति काल में ही की जाती है और इन्हें कृष्ण काव्यधारा के ही कवि माना जाता है। उपयुक्त इन कवियों की रचनाओं में सूर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सूर की ही भांति इन कवियों ने कृष्ण के बाल एवं किशोर रूप पर मुग्ध होकर ही अपनी रचनायें की हैं।

रीतिकाल में आकर इस धारा में परिवर्तन हो जाता है। कृष्ण काव्य धारा का प्रवाह भक्ति के पावन क्षेत्र को छोड़कर भौतिक विज्ञान की ओर मुड़ा है। जिसके फलस्वरूप ही रीति–ग्रन्थों एवं श्रृंगारपूर्ण मुक्तकों की रचना अत्यधिक हुई किन्तु इस युग के साहित्य में कृष्ण की भक्ति भावना लुप्त हो गई। इस युग में ग्वाल कवि, घनानन्द, भगवत रसिक, नागरीदास, अलबेली कवि, चाचा हित वृन्दावनदास, ब्रजवासी दास, कृष्णदास, गिरधरदास, सरयूराम आदि कितने ही कवि हुये हैं जिन्होंने कृष्ण भक्ति में तन्मय होकर कृष्ण काव्य की रचना की। इन कवियों में घनानन्द का विशिष्ट स्थान है। जिनके एक हजार से अधिक गाये पद मिलते हैं। घनानन्द के इन पदों में सरसता, सजीवता, सशक्तता है। विशुद्ध ब्रजभाषा में वियोग श्रृंगार का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन घनानन्द जी ने किया है। इन पदों में भक्ति भावना के साथ प्रेम की पीर भरी हुई है।

आधुनिक युग में भी कृष्ण काव्य का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इस युग के कितने ही कवियों ने कृष्ण भक्ति में तन्मय होकर अपने काव्य की रचना की है। फिर भी इस युग के कवियों में भक्ति युग के कवियों की भाँति न तो उनकी भावोत्कर्षता है और न वैसी तीव्रानुभूति। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर, अयोध्या सिंह उपाध्याय, वियोगी हरि, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद आदि कितने ही ऐसे कवि मिलते हैं जिन्होंने कृष्ण काव्य लिखा है। जिनकी रचनायें सूर आदि की ही परम्परा में आती हैं किन्तु कृष्ण काव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस धारा के प्रवर्तक सूरदास के काव्य में माधुर्य एवं सौन्दर्य के साथ भक्ति भावना का जो आकर्षक रूप विद्यमान है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

सूर ने कृष्ण की जन्म भूमि ब्रज, यमुना, मधुबन, कदम्ब, वृन्दावन आदि के प्रति

जो श्रद्धा जाग्रत की है, तथा कृष्ण के रूप में सौन्दर्य में जो आकर्षण उत्पन्न किया है, वैसा कार्य अन्य कोई कवि नहीं कर सका। अन्य सभी कृष्ण काव्य के रचयिता सूर के ऋणी प्रतीत होते हैं क्योंकि सूरदास ने अपनी राग रागनियों में कृष्ण और ऐश्वर्य–माधुरी, क्रीड़ा माधुरी, वेणु माधुरी, रूप माधुरी का वर्णन करते हुये अपने गीतों द्वारा एक अद्भुत आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि की है। कृष्ण के अत्यन्त मधुर एवं सौन्दर्य सम्पन्न आकर्षक रूप को लोक जीवन में समक्ष रखा है। जिससे अधिकांश व्यक्ति आकृष्ट होकर कृष्ण भक्ति में लीन हुये हैं।

अतएव महात्मा सूरदास ही वास्तव में हिन्दी कृष्ण काव्य धारा के प्रमुख प्रवर्तक हैं, और सूर ही यथार्थ में हिन्दी की कृष्ण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं।

"सूरसागर की विषय–वस्तु"

प्रश्न ५. सूर सागर की विषय–वस्तु पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

अथवा

महाकवि सूरदास की कृति सूरसागर का मूलाधार श्रीमद्भागवत है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – भक्त प्रवर महाकवि सूरदास की रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति उनका सूरसागर ही है। सूरसागर में अनेक प्रसंग हैं परन्तु सूरदास जी का प्रमुख उद्देश्य भगवान की लीलाओं का गान करना है। इस कृति का मूलाधार श्री मद्भागवत है। इस सम्बन्ध में सूरसागर के दशम् स्कन्ध में ऐसा उल्लेख हुआ है यथा –

(१) "व्यास कहं सुक देव सौं द्वादस स्कन्ध बनाय।
सूरदास सोई कहै पद–भाषा करि गाय।।"

(२) "स्तुति भागवत सवन सुख पायो सूरदास सों बरन सुनायों।।"

(३) "कहौं सुकथा सनौ चित धारी, सूर कह्यो भागवत अनुसारी।"

इससे स्पष्ट है कि सूर ने भागवत का आधार ग्रहण किया है। समस्त सूरसागर द्वादस स्कन्धों में वर्णित है। इसमें भगवान कृष्ण की लीलाओं के गान के अतिरिक्त अन्य कथा प्रसंग भी भागवत के अनुरूप आये हैं।

सूरसागर की विषय वस्तु को वर्ण्य विषय की दृष्टि से निम्नांकित वर्गों में रखकर उसकी विशेषता का अध्ययन किया जा सकता है

१– विनय सम्बन्धी पद, २– रामलीला सम्बन्धी पद, ३– कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, ४– अन्य अवतारों से सम्बन्धित पद, ५– भ्रमर गीत के पद, ६– द्वारिका लीला के पद, ७– दृष्टि कूट के पद, ८– अन्य प्रसंगों के पद।

इन पर संक्षिप्त विचार अपेक्षित है –

(१) विनय सम्बन्धी पद – ये सभी पद सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में प्रकाशित हैं। इन पदों पर भागवत का प्रभाव नहीं है। इन पदों में जो सूर की भावनायें व्यक्त हुई हैं वे

तत्कालीन सामाजिक स्थिति से प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त उन भावनाओं में सूरदास के व्यक्तिगत जीवन की कटु अनुभूतियाँ भी हैं। ये पद वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व के हैं। इनमें निराशा और वैराग्य की अभिव्यक्ति प्रधान रूप से हुई है। सूरसागर के इन विनय के पदों में – दीनता, मानमर्षता, भर्त्सना, भय दर्शन, आश्वासन, मनोराज और विचारणा से भक्ति की सातों भूमिकायें वर्णित हैं। माया से दूर भागने और वासनाओं को त्यागने का भाव कई पदों में वर्णित है भगवत् कृपा से ही इस माया को जीव हटा सकता है। इसीलिये सूरदास जी ने माया को एक ऐसी "गाय कहकर सम्बोधित किया है जिसे भगवान ही रोक सकते हैं। सूर ने इस भाव को इस रूप में प्रकट किया है –

"माधव जू नेकु हटको गाय।"

शरणागति से सम्बन्धित कुछ पद इस प्रकार हैं –

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पे आवै।"

इन पदों में दास्य भाव की भक्ति प्रधान रूप से है।

(२) रामलीला सम्बन्धी पद – सूरदास जी ने अन्य अवतारों की अपेक्षा रामावतार और कृष्णावतार के वर्णन में अधिक रुचि दिखाई है। सूरसागर में रामावतार का वर्णन नवम् स्कन्ध में है। भागवत में तो रामावतार का बहुत संक्षिप्त वर्णन है। परन्तु सूरदास जी ने इसका वर्णन एक सौ पचहत्तर पदों में किया है इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने रामलीला को भी महत्व दिया है। सूरसागर में राम का बाल वर्णन तथा सीतां का विरह आदि प्रसंग अधिक श्रेष्ठ है। कवित्व की दृष्टि से भी रामावतार का वर्णन महत्वपूर्ण है।

(३) कृष्ण लीला सम्बन्धी पद – सूरसागर के दशम स्कन्द में कृष्ण लीला सम्बन्धी पद मिलतें है। सूरदास का अधिकाश अंश इसी स्कन्ध में संग्रहीत है। इसमें श्री कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा जाने के समय तक के पद हैं। मथुरा में श्रीकृष्ण का जन्म, उसी समय वासुदेव का उन्हें गोकुल ले जाना, बालक कृष्ण का छोटी अवस्था में अनेक राक्षसों का वध तथा अन्य अनेक प्रकार की लीलायें सूरदास जी ने सुन्दर गेय शैली में प्रस्तुत किया है। सूरसागर काव्य के ये अंश सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होने लगते हैं। कृष्ण ने अपनी बाल लीलाओं में पूतना, शकटासुर, ऋणावर्त, बकासुर, अघासुर तथा कालिय नाग आदि असुरों का संहार किया है। इन प्रसंगों में सूरदास जी ने कृष्ण की अलौकिकता को मनोवैज्ञानिक आधार देकर लौकिक भूमिका पर लाने का प्रयास किया है। इन लीलाओं के अतिरिक्त राधा से प्रीति, माखन–चोरी, रास लीला, मान लीला, पनघट लीला, आदि प्रसिद्ध प्रसंग हैं। यह प्रसंग सरस, मार्मिक और हृदयग्राही हैं। रास लीला में जहाँ संयोग श्रृंगार के वर्णन हैं, वे स्थल अत्यन्त सरस एवं माधुर्य पूर्ण हैं। सर्वप्रमुख गोप बाला तो राधाजी हैं, जिनके प्रथम परिचय का प्रसंग कितना सरस और मनोवैज्ञानिक है।

"बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नाहीं कहूं ब्रजखोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवत खेलत रहत आपनी पौरी।

सुनत रहत स्रवननि नन्द ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम को कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलो संग मिली जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन मुरइ राधिका भोरी।।

सूरसागर के इसी स्कन्ध में कृष्ण ने नख–शिख वर्णन में सूर की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का सुन्दर परिचय मिलता है। सूर की सख्य भाव की भक्ति भी कृष्ण की लीलाओं के प्रसंग में ही व्यक्त हुई है। जब सखा से बराबर का नाता मानकर उनसे कहते हैं कि एक बार वंशी बजाओं तब हृदय की सम्पूर्ण विषमतायें नष्ट हो जाती हैं। भक्त और भगवान एक हो जाते हैं।

(४) अन्य अवतारों से सम्बन्धित पद – सूरदास जी ने राम–कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों का संकेत मात्र ही किया है। न तो उसकी कथाओं का ही विस्तार किया है, और न रुचिपूर्वक उनके महत्व का ही प्रदर्शन किया है। इन प्रसंगों का केवल उल्लेख मात्र है। द्वितीय स्कन्ध में मनु की उत्पत्ति का प्रसंग और वाराह तथा कपिल देव के अवतार का वर्णन है। दत्तात्रेय और यज्ञ पुरुष अवतार वर्णन पंचम स्कन्ध में है। नृसिंह अवतार तथा नारद जन्म की कथा सप्तम स्कन्ध में है। गज मोचन–अवतार, कूर्मावतार, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का उल्लेख अष्टम स्कन्ध में हुआ है। परशुराम और राम के अवतार का वर्णन नवम् स्कन्ध में आता है। दशम् स्कन्ध के कृष्णावतार का अत्यन्त विस्तार से वर्णन हुआ है। नारायण और हंस अवतारों का उल्लेख एकादश स्कन्ध में है। द्वादश स्कन्ध में बुद्ध तथा कल्कि अवतार का वर्णन है। राम और कृष्ण को छोड़कर अन्य सभी अवतारों के सम्बन्ध में बहुत ही थोड़े पद लिखे गये हैं। कवित्व की दृष्टि से ये पद महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(५) भ्रमर गीत के पद – सूर सागर के अन्तर्गत भ्रमर गीत प्रसंग विशेष महत्व रखता है। आचार्य शुक्ल तथा अन्य विद्वानों ने भी भ्रमर गीत के पदों को सूर के काव्य का सर्वश्रेष्ठ अंश माना है। श्री कृष्ण जब मथुरा चले गये तो ब्रजवासियों के दिन वियोग में उसी प्रकार व्यतीत होने लगे कि मानोब्रज की समस्त वस्तुयें अब विषमय हो गई हैं। श्रीकृष्ण ने मथुरा पहुंचकर भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये है। कंस का वध किया, उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। वासुदेव देवकी का उद्धार किया। कुब्जा पर कृपा की। परन्तु अब उन्होंने ब्रज का ध्यान किया तो इन सभी कार्यों से अधिक महत्व मानो अपने ब्रज जीवन को देना चाहते थे इसीलिये उन्होंने अपने प्रिय सखा उद्धव से कहा कि मथुरा के समस्त सुख भोग मुझे ब्रज की साधारण वस्तुओं के सम्मुख फीके लगते हैं। मोर मुकुट के सम्मुख यह रत्नजटित मुकुट व्यर्थ सा प्रतीत होता है। इन भावनाओं के कारण कृष्ण ने उद्धव को ब्रज में भेजा। ब्रज भूमि जाकर उद्धव ज्ञान का उपदेश देते हैं। किन्तु वहाँ से जब वह लौटे तो गोपिकाओं की प्रेम भक्ति से उनका हृदय परिप्लावित था। यथा–

"माधव यह ब्रज को त्यौहार।
मेरो कह्यो पवन को मुस भयौ गावत नन्द कुमार।
एक ग्वारि गोधन लै रैगति, एक लकुट कर लेति।
एक मंडली करि बैठारिति, छाक बांटि के देति।
एक ग्वारि नटवर बहु लीला, एक करम गुन गावति।

कोटि भाँति कै मैं समुझाई नेकु न डर में ल्यावति।
निसि वासर येहि व्रत सब ब्रज दिन दिन नूतन प्रीति।
सूर सकल फीको लगति है देखत वह रस रीति।।"

(६) द्वारिका लीला के पद – सूर सागर में द्वारिका का प्रसंग भी विस्तार से दिया है। यह प्रसंग दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में है। जब श्रीकृष्ण मथुरा से द्वारिका की शोभा बढ़ने लगी है। इसी प्रसंग में रूक्मिणी विवाह की लीला है। इसके अतिरिक्त पंच पटरानी विवाह, शतधन्वा का वध, भौमासुर का वध, मृग का उद्धार, जरासन्ध वध तथा सुदामा दरिद्रता हरण आदि के महत्वपूर्ण प्रसंग हैं। इनमें से अनेक भागवत के आधार पर भी हैं किन्तु भागवत की अपेक्षा ये अधिक भावात्मक हैं। सूरदास ने यहाँ एक मौलिक कल्पना की है जिसमें प्रजांगनायें श्याम के पास एक सन्देश वाहक द्वारा सन्देश भेजती हैं। संदेश पाने पर कृष्ण राधा और गोपियों के प्रेम की चर्चा रुक्मिणी से करते हैं। यहाँ सूरदास जी का व्रज के प्रति प्रेम प्रकट होता है। काव्य की दृष्टि से सूरसागर के ये पद महत्वपूर्ण हैं।

(७) दृष्टि कूट के पद – सूरसागर के अनेक पद दृष्टिकूट के भी उपलब्ध हैं।

(८) अन्य प्रसंगों के पद – उपर्युक्त सब प्रकार के पदों के अतिरिक्त सूरदास जी ने ऐसे पद भी रचे हैं, जो उनके किसी भाव विशेष, उक्ति विशेष या सिद्धान्त विशेष की व्यंजना करते हैं। इन पदो को विविध पदों की श्रेणी में रख सकते है। इन पदों में सूरदास जी के ईश्वर, सृष्टि, जीव, मन आदि के विषय लिये हैं। इसके अतिरिक्त गुरु महिमा, सज्जन प्रशंसा, दुष्टों की निन्दा, सांसारिक विषयों के प्रति घृणा आदि अनेकों प्रसंगों पर भी पद रचे हैं। ये पद अधिकांश में सूर की निजी भावनाओं और कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं। ये सूर के अनुभव पर आधारित हैं किन्तु ये अनुभव आध्यात्मिक हैं। यथा –

"मों सम कौंन कुटिल खल कामी।
जिनु तन दियो ताहि बिसरायो ऐसे नोन हरामी।।"

सूरदास के इन पदों में भी वैचित्र्य तथा कला पक्ष का सौन्दर्य निहित है।

निष्कर्षतः सूरसागर की समस्त विषय वस्तु भगवान की भक्ति से आपूर्ण एक सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसमें श्रीमद् भागवत् के अतिरिक्त कुछ प्रभाव अन्य पुराणों का भी है। इन सब के होते हुये भी सूर की मौलिकता के दर्शन किये जा सकते हैं।

"भ्रमर गीत परम्पीरा और सूर का विप्रलम्भ"

प्रश्न ६. सूरदास जी ने भ्रमरगीत परम्परा को अपनाकर उसे अलौकिक रूप में प्रतिष्ठित किया है। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – साहित्य में भ्रमर गीत परम्परा का लिपिबद्ध रूप संस्कृत से मिलने लगता है। वस्तुतः "भ्रमर" का प्रतीक रूप में प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आ रहा है। मुग्धा नायिकाओं की "कली" से और रस लोलुप पुरुषों की "भ्रमर" से उपमा देने की प्रथा कोई नवीन नहीं है। यह प्रतीक सार्थक हैं। अतएव साहित्य में इनका प्रयोग प्रचुरता से

हुआ है। भ्रमर गीत में विप्रलम्भ श्रृंगार का ही सांगोपांग चित्रण होता है। इसमें उपालम्भ ही प्रधान रहता है। जिसमें एक भ्रमर को लक्ष्य कर नारी रस लोलुप पुरुष वृत्ति पर गहरा व्यंग्य करती है। महाकवि सूरदास ने भ्रमरगीत परम्परा को बड़ी व्यापक एवं सुदृढ़ रूप से अपना कर उसे अलौकिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। भ्रमर गीत में गोपिकाओं की प्रतिक्रिया प्रेम की क्षति में नहीं वरन् और भी प्रगाढ़ रूप में प्रकट हुई है।

परम्परा की दृष्टि से सम्भवतः महाकवि कालिदास ने सर्वप्रथम अपने "अभिज्ञान–शाकुन्तल" में भ्रमर सम्बन्धी उक्ति दी है। दुष्यन्त की प्रथम पत्नी रानी हंसपदिका द्वारा शकुन्तला के प्रेम में निमग्न दुष्यन्त को भ्रमर शब्द से इंगित किया है। गोवर्द्धन आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं में और कतिपय अपभ्रंश रचनाओं में भ्रमर प्रसंग आये हैं। भागवत में जो भ्रमरोपालम्भ है, उसमें पूर्ववर्ती प्रसंगों की अपेक्षा नवीनता है। यहाँ गोपियाँ–उद्धव–संवाद का प्रसंग दार्शनिक विचार धाराओं के लिये हुआ है। भागवत के अपने इस प्रसंग में कृष्ण अपने प्रिय सखा उद्धव को यह कहकर भेजते हैं कि– "तुम ब्रज में जाकर मेरे माता–पिता और गोपियों को जिनका मन मुझमें रमा रहता है, मेरा संदेश देकर वेदनामुक्त करो।।" उद्धव ब्रज में पहुंचे तो उन्हें बहुत खरी खोटी गोपियों द्वारा सुननी पड़ी। गोपियों ने स्पष्ट कह दिया कि मतलब निकल जाने पर प्रेम का स्वांग भी समाप्त हो जाता है। भागवत के भ्रमर गीत प्रसंग में अन्योक्ति के सभी उपकरण हैं। गोपी–कृष्ण, उद्धव–भ्रमर, उपालम्भ सभी इस प्रसंग में हैं।

श्री मद्भागवत के उपरान्त इस परम्परा में विद्यापति के भ्रमर सम्बन्धी पदों को रखा जा सकता है, यथा–

"पूरब पियारि नारि हम अघून अब दासन हु सन्देह।
भ्रमर भ्रमर भ्रमि सबहु कुसुम रमि, नहिं तजे कमलन नेह।
आस निगढ़ि करि, जिउ कत राखब, अबहिं ज करत परान।
विद्यापति कह आस हीन नह अउब सो कर–कान।।"

तथा –

"ऊधव कब हमसो ब्रज जाइब।
कब प्रिय छबलि सरमि स्यामलि, तेई सखन सदूध दुहाइब।।"

इस प्रकार विद्यापति रचित फुटकर पद "भ्रमर" के सम्बन्ध में यह उद्धव–गोपिकाओं के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं किन्तु यह भ्रमर गीत व्यवस्थित कथा के रूप में नहीं है। इसमें केवल परम्परा का निर्वाह ही हुआ है।

भ्रमरगीत प्रसंग को व्यापक, व्यवस्थित और विकसित तथा पुष्ट रूप में उपस्थित करने का श्रेय महाकवि सूरदास जी को ही है। "सूर–सारावली" और "सूर सागर" दोनों में ही यह प्रसंग मार्मिक ढंग से प्रस्तुत है। "सूर–सारावली" में भ्रमर गीत प्रसंग में भागवत का अनुसरण अधिक है किन्तु भागवत का प्रयोजन था गोपियों पर अनुग्रह करके उन्हें आनन्द में स्थित करने के लिए उसे गोपियाँ के निकट भेजना ही प्रयोजन है।

"सूर सागर" में तीन भ्रमर गीत हैं। एक ही रचना तो केवल दो पदों में की गई

है। निर्गुण और सगुण चर्चा इसका मुख्य विषय है। इस और भ्रमर गीत केवल एक ही पद में है। यह पद बहुत बड़ा है और इसका प्रारम्भ नन्द दास के भ्रमर गीत की भाँति उद्धव के उपदेशों से होता है। इसमें गोपियाँ अधिक वाक् पटु तथा व्यवहार कुशल प्रतीत होती हैं। सूरदास का जो सबसे विस्तृत भ्रमर–गीत है वही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें तीन सौ से अधिक पद हैं। हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक दृष्टि से यह सबसे अधिक श्रेष्ठ भ्रमर–गीत है। इसमें घटनाओं एव चरित्रों का विकास मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। उद्धव के ब्रज आने से पूर्व के पदों में वियोगी ब्रज वासियों का दशा और कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द आदि के द्वारा भेजे गये संदेश वर्णित हैं।

सम्पूर्ण भ्रमर गीत उपालम्भ की मूल भावना यह है कि कृष्ण मथुरा जाकर बड़े राजा हो गये है अब वे गोपाल नहीं रहे। बन्दी जन उनका गान करते हैं। राजसी वैभव है उनके माता–पिता देवकी वसुदेव हो गये हैं और वह कुब्जा के प्रेम मे डूबे हैं। वे राधा और गोपिकाओं को भूल चुके हैं। गोपियों ने इतने सन्देश भेजें कि मथुरा के कूप सन्देशों से भर गये हैं किन्तु उन्हें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला।

प्रथम भ्रमर गीत परम्परा का आद्यन्त निर्वाह पर विचार करने के उपरान्त सूर के भ्रमर गीत में विप्रलम्भ पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

सूरदास के परवर्ती काव्य में हमें भ्रमर गीत परम्परा के दर्शन होते हैं। नन्द दास जी के "भंवर गीत" का लक्ष्य तो वही है जो सूर के भ्रमर–गीत का था। दोनों ने ही ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई है। किन्तु नन्ददास जी का भ्रमर गीत शुष्क तर्कों से बोझिल है। पूवार्द्ध दार्शनिक विचार धारा को तर्कपुष्ट करके रखने का प्रयास किया गया है। उत्तरार्द्ध में अवश्य भाव की प्रधानता है। यहाँ उद्धव स्वयं अपने को धिक्कारने लगते हैं। इसमें सूर के भ्रमर गीत की सी स्वाभाविकता नहीं हैं।

रीतिकालीन कुछ कवियों ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है, कुछ स्फुट कवितायें ही लिखी हैं, उसे कथात्मक रूप नहीं दिया। रहीम, मतिराम, घनानन्द, सेनापति आदि कवियों ने गोपी उद्धव संवाद से सम्बन्धित कुछ कवित्त सवैये आदि लिखे हैं किन्तु इनमें भी सूर की सी उत्कृष्ट भावना नहीं है। इन रतिकालीन कवियों की वाणी में राधा–कृष्ण साधारण नायिका–नायक रूप में चित्रित हुये हैं। सूरदास ने तो विरह की ग्यारह अवस्थाओं के चित्र खींचकर भी उस विरह को इतना बनाया है कि उसमें स्वभावतः ही अलौकिकता का भान होने लगता है। **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** के शब्दों में – "भ्रमर गीत में जिस वियोग का चित्रण है – वह सोलह आने वियोग है, अर्थात् गोपियों में संयोग की भावना का पूर्णतः लोप हो गया हैं। उनका विरह इतना गहरा है कि देश–काल और पात्र से सर्वथा मुक्त हो गया है।" विरह का इतना हृदय ग्राही चित्रण सूर के परवर्ती कवि नहीं कर पाये।

आधुनिक काल के साहित्य में इस प्रसंग पर लिखे गये तीन काव्यों का उल्लेख किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं – (१) हरिऔध का "प्रिय प्रवास", (२) सत्य नारायण कविरत्न का "भ्रमर दूत" और (३) रत्नाकर जी का उद्धव शतक।

प्रियप्रवास में पात्रों का स्वरूप ही भिन्न हो गया है। राधा अपने प्रेम की परिणत समाज सेवा में करती है। इस काव्य के अन्य पात्रों पर भी आधुनिक वातावरण का प्रभाव आरोपित किया गया है। इसमें भावना के स्थान पर कर्तव्य को अधिक महत्व दिया गया है।

"भ्रमर दूत" नामक काव्य में भी राष्ट्रीय–भावना आरोपित है। इसमें यशोदा भारत माँ के रूप में कृष्ण के पास भ्रमर दूत के द्वारा सन्देश भेजती हैं। "उद्धव शतक" में अवश्य ही गोपियों के विरह का मार्मिक चित्रण हुआ है। इसका लक्ष्य भी सूर की भांति ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाना है। भाषा, भाव, शैली की दृष्टि से भी उद्धव शतक एक अत्यन्त उच्च कोटि का काव्य है किन्तु युग प्रभाव के अनुसार रत्नाकर जी ने विचार पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। विरह की जो गहराई सूर के भ्रमर गीत में पाई जाती हैं वह अन्यत्र नहीं।

सूर का भ्रमर गीत और विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत ही सूरदास ने भ्रमर गीत लिखा है यह सूर के विप्रलम्भ श्रृंगार के उच्च कोटि का काव्य है। इसमें वाग्विदग्धता, मर्म स्पर्शिता, व्यंग एवं उपालम्भ है। सूरदास ने भ्रमर गीत के पदों में गोपियों का घनिष्ठ प्रेम, और सगुण ब्रह्म की आराधना की उपयुक्तता, भावुकता की पृष्ठभूमि पर प्रतिपादित किया है। सगुण उपासना का भावमयी भाषा में इतना सुन्दर निरूपण अन्यत्र दुर्लभ है। इन पदों का भ्रमर गीत नाम एक भ्रमर के गोपियों के पैरों में आकर लिपटने और गुंजन करने में पड़ा। गोपियाँ उद्धव से वार्तालाप कर रही थीं। उद्धव को छोड़कर एक भ्रमर को सम्बोधित करती हुई वे अपने हृदय के उदगार प्रकट करने लगीं। इन उदंगारों में आन्तरिक वेदना थी। वियोग का सन्ताप था, अनुताप की अग्नि थी। साथ ही था इनमें कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग। वे जो कुछ कहती थीं, उनमें भ्रमर तो उपलक्षण मात्र था। वे भ्रमर के ब्याज से अपनी बातें उद्धव को सुना रही थीं।

भ्रमर गीत के प्रसंग का प्रारम्भ उद्धव की अहंकारमयी अद्वैत साधिका एवं निर्गुण ब्रह्म मानने वाली प्रवृत्ति से होता है। कृष्ण की दृष्टि में उद्धव प्रेम भजन की अवहेलना करने वाला है। प्रेम भजन वहीं सम्भव है। जहाँ प्रभु–विरह की अनुभूति विद्यमान हो। कृष्ण उद्धव के सम्बन्ध में कहते हैं –

"यह अद्वैत दरसी रंग।
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रस भंग।।"

जो प्रेम का नाम सुनते ही चौंक पड़ता है। ज्ञान योग की बातें ही जिसे प्रिय हैं, उसे भला ब्रज के रास रंग की बातें भला क्यों कर अच्छी लगें। वस्तुतः कृष्ण ने उद्धव को इसीलिये ब्रज भेजना चाहा कि ज्ञान के गुमानी उद्धव प्रेम के पारावार में पहुंच सकें। उनका प्रेम संस्कार हो सके।

उद्धव कृष्ण के सन्देश वाहक बनकर ब्रज पहुंचे तथा गोपियों से कहने लगे –

"गोपी सुनहु हरि को सन्देश।
कह्यो पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेष।

ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषम संसार।
रूप रेख न नाम जल थल बरन अबरन सार।।"

तथा

"सुनहु गोपी उनकौ सन्देस।
कहि समाधि अविगत गति ध्यावहु यह अनेकौ उपदेस।....
..... सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु इक चित इक मन लाइ।।"

यह उपदेश सुनकर गोपियाँ व्याकुल हो गईं और उद्धव से कहती हैं – "मधुकर जो हरि कहौ सा कहिये।" परन्तु उद्धव वहीं ज्ञान–योग की नीरस चर्चा चलाते हैं। वे झुंझलाती है, खीझती हैं, व्यधित होती हैं, फिर भी उन्हें अपने कृष्ण पर विश्वास है कि सम्भवतः वे ऐसा नहीं करेंगे। इस विचार के आते ही वह कहने लगीं –

"ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हैं हयाँ नाहिं पठाये, तुम हो बीच भुलाने।

... तथा वह जानना चाहती हैं।

सूर स्याम जब तुमही पठाये तब नैकहु मुसकाने।।"

इस प्रश्न में कितना व्यंग भरा हुआ है।

उद्धव की ज्ञान, योग तथा निर्गुण ब्रह्म की बातें गोपियों को सन्निपात में बड़बड़ाते रोगी की लगती हैं। वह निर्गुण ब्रह्म की आराधना का उपदेश सुनकर इतना व्याकुल हो जाती हैं कि उद्धव से यह प्रश्न करती हैं कि –

निर्गुन कौन देस को वासी, मधुकर हंसि समुझाय सौंह दै,
बुझति साँच न हाँसी।
को है जनक जननि को कहियव कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेष हैं कैसो केहि रस को अभिलाषी।।"

गोपियों की बात बड़ी ही सीधी सादी है– वह तो कृष्ण की एक निष्ठ भक्त हैं, भला इस ह्रदय में वह किसी अन्य को स्थान दें। यथा–

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधै ईस।।"

उद्धव की कष्ट साध्य कृच्छ साधना प्रधान योग का उपदेश सुनकर गोपियाँ अपने ढंग से बड़ा व्यंगात्मक उतर उन्हें देती है – निम्न पद विचार्य है। जिसमें गोपियों की विरहावस्था का योगी की मुद्रा में कितना सुन्दर साम्य स्थापित किया गया है। यथा–

"ऊधौ करि रही हम जोग।
कहा एतो बाद ठान्यो देखि गोपी भोग।
सीस सेली केस मुद्रा कनक बीरी वीर।
विरह भस्म चढ़ाई बैठी सहज कंधा चीर।
ह्रदय सींगों टेर मुरली नैन खप्पर हाथ।
चाहते हरि दरस भिच्छा देहिं दीनानाथ।

योग की गति जुगति हम पै सूर देखौ जोय।
कहत हमको करन जोग सों जोय कैसो होय।"

गोपियाँ उद्धव के ज्ञान को कायरों की बकवास तथा भक्ति को शूरवीर का वीरत्व व्यंजक लड़ना मानती हैं– "कायर बकै लोह ते भागे लड़ैते सूर बखाने?" तथा नीरस उद्धव को यहाँ तक खीझकर कहती हैं –

"दादुर बसै निकट कमलन के जनम न रस पहिचाने।"

गोपियाँ उद्धव को भला बुरा कहकर उनके मन का समाधान भी करती हैं –

"नासा करि गहि जोग सिखावत बेसरि कहाँ धरौ।"

जहाँ वे उद्धव के योग का उपहास करती हैं वहीं योग साधना में अपनी असमर्थता यह कह कर व्यक्त करती हैं –

"मधुकर हम अयान अति भोरी।
जाने कहा जोग की बातैं हम अबला अति भोरी।।"

वह नंद नन्दन भगवान कृष्ण के एक बार दर्शन हो जायें ऐसी युक्ति उद्धव से अनुरोध पूर्वक पूछती हैं। वन में कोकिल बोल रही है, उनके अन्तर में विरह की कसक और बढ़ रही हैं भला वह उद्धव की विपरीत चर्चा कैसे सुन सकती है।

"ऊधौ कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेश करत हौ, भसम लगावत आनन।"

कहाँ कोयल का कूजन और कहाँ भस्म का मलना ये विपरीत बातें भला कैसे सम्भव हैं। एक ओर कृष्ण की लीला, मुरली का स्वर, रास का आनन्द, कहाँ मुक्ति की बातें, ब्रह्म का आराधन, निर्वाण का शून्य वायुमंडल ये बातें क्या गोपिकाओं को सहज ग्राह्य होंगी। वह स्पष्ट कहती हैं– *"कहा करैं निर्गुन हम लैके।"* हमारे तो कृष्ण सैकड़ों वर्षों जीवित रहें, यही हमारे सर्वस्व हैं और योग वह तो व्यर्थ का झमेला है। भक्ति विहीन योग चमत्कार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। वह तो मन की बात है। गोपियों का कथन इस प्रकार है –

"ऊधो मन माने की बात।
दाख छुहारा छाड़ि अमृत फल विष कीरा विष खात।"

राधा एवं गोपियों का मन तो एक मात्र कृष्ण से अनुरक्त है। उनके लिए सबसे बड़ी बात तो यह है कि – *"सूरदास जाको मन जासो सोई ताहि सुहात।"* कहने का अभिप्राय यह है कि निर्गुण ब्रह्म की शुष्क नीरस बातें ब्रज बालाओं को किसी प्रकार सान्त्वना नहीं दे सकती। जो आँखें हरि दर्शन की भूखी हों वह भला कृष्ण के रूप रस में डूबी इन शुष्क बातों को सुनकर कैसे रह सकती हैं। उद्धव की चर्चा उन्हें भ्रमित करने वाली लगती है। मथुरा कज्जल की कोठरी लगती है जहाँ से आने वाला प्रत्येक व्यक्ति काला है और दूसरों को भी कालिमावृत्त कर देता है। एक सलि पर गोपियों की हृदय भूमि को फोड़ कर जो प्रेमाश्रु धारा प्रवाहित हुई है, उनमें उद्धव के ज्ञान योग की समस्त बातें बहती डूबती उतराती दृष्टिगोचर होती हैं। उद्धव अपने भक्ति विरोधी ज्ञान की निस्सारता अनुभव करते हैं और कहते हैं –

"अब अति चकित वन्त मन मेरो।

आयो है निरगुन उपदेसन भयो सगुन को चेरो।।"

उद्धव मौन धारण किये हुये मन में पश्चाताप करने लगे। उद्धव की इस समय की दशा का चित्रण निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है –

"ऊधौ मन साधि रहे।

योग कहि पछितात मन मन बहुरि कछु न कहे।"

गोपियों का कहना भी कितना सार्थक है –

"मधुकर भलेहिं आये वीर।

दुर्लभ दरसन सुलभ पाये जानि हौ पर पीर।"

उद्धव ने इस पराई पीड़ा का अनुभव किया। गोपियों की विरह वेदना ने उन्हें प्रेम का परिचय करा ही दिया। निर्गुण पंथ उन्हें कंटकित समझ पड़ा। वे सरल सगुण मार्ग के पथिक बन गये। उद्धव लौट कर मथुरा चलने लगे तो गोपियों ने कहा–

"हम पर हेतु कियो रहिबो।

या ब्रज को ब्यौहार सखा तुम हरि सों सब कहि यो।

देखे जात आपनी अंखियनु या तन की दहिबे।

बरनौ कहा कथा या तनु की हिरदै को सहिबा।

तब न कियो प्रहार प्रानन को, फिर फिर क्यों चहिबो।

अब न देह जरि जाई सूर इन नैननि को बहिबो।

निम्नांकित पद में गोपियाँ कृष्ण के पास इतना ही सन्देश भेजना चाहती हैं –

"ऊधो इतनी जाइ कहियो।

सबै विरहिनि पाँइ लगति है मथुरा कान्ह रहौ।

भूलिह जिनि आवहिं यहिं गोकुल तप्त रैनि ज्यों चन्द।

सुन्दर बदन स्याम कोमल तनु क्यो सहिहै नन्द नंद।

उद्धव परास्त हो गये हैं उनकी ज्ञान की गठरी खो गई है। वह जब मथुरा पहुंचे तो कृष्ण के सम्मुख ब्रज की हृदयद्रावक दशा का वर्णन बड़े मार्मिक शब्दों में करते हैं – राधा की करुण विगलित दशा का चित्रण प्रस्तुत है।

"तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी।

लीने जात निमेष कूल दोउ एवे मान चढ़ी।

गोलक नाव निमेष न लागत सींव पलक बर बोरति।

ऊरध स्वाँस समीर तरंगिनि तेज तिलक तरु तोरति।

कज्जल कीच कुचील किये तट अम्बर अधर कपोल।

रहे पथिक जु जहाँ सु तहाँ थकि हस्त चरन मुख बोल।

नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन क्यों जीजै।

अश्रु सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजे।"

इस प्रकार भ्रमर गीत की गीत माला के प्रत्येक पद में जो विप्रलम्भ मधुर भाव भक्ति भरी है उसके सम्मुख निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने वाले उद्धव स्वतः पराजित हो जाते हैं

और स्वयं भक्ति की महत्ता को समझते हैं। निर्गुण पर सगुण की तथा ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई है सूरदास ने।

वस्तुतः भ्रमर गीत सूरदास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। जिसमें विप्रलम्भ श्रृंगार तथा सगुण भक्ति का प्रतिपादन व्यंगमयी, भावभरित, मार्मिक शैली में किया गया है। वस्तुतः सूरसागर का सबसे हृदयग्राही स्थल यही भ्रमर गीत है। सूरसागर एक भाव प्रधान काव्य है। विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में तो भाव विभाव की बड़ी अद्भुत छटा प्रस्फुटित हुई है। सूर का विप्रलम्भ विशुद्ध भाव जगत की वस्तु है।

"सूर का वात्सल्य वर्णन"

प्रश्न ७. महाकवि सूरदास के वात्सल्य वर्णन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये। अथवा

सूर के वात्सल्य वर्णन पर एक सारगर्भित लेख लिखिये। अथवा

सूरदास वात्सल्य रस के सम्राट कहे जाते हैं। समीक्षा कीजिये। अथवा

बाल लीला एवं मातृ हृदय की अनुभूति जितने व्यापक रूप में सूर काव्य में समाहित है, उतनी किसी अन्य कवि के काव्य में नहीं। इसकी सार्थकता प्रमाणित कीजिये।

उत्तर – कवि का हृदय अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है। भाव जगत में कवि जिना गहरा प्रवेश करता है, उतना सामान्य जन नहीं कर पाते। सूर कवि थे, भक्त थे, और साथ ही साधना के धनी थे। उनका हृदय भाव जगत के अन्तःस्थल के स्पर्श का अनुभव करता है और उनकी दिव्य वाणी उसे यथानुरूप उपस्थित करने में समर्थ है।

सूर सागर भाव जगत का काव्य है। उसमें विविध भावों की अभिव्यक्ति हुई है। एक ही विषय से सम्बद्ध न जाने कितने ही भाव चित्र सूरदास ने अंकित किये हैं। वात्सल्य रस के तो सूर सम्राट ही कहे जाते हैं। भावों की तो यही अनुभूति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को यह कहने को बाध्य कर सकी कि सूर बाल हृदय का कोना–कोना झांक आयें हैं

रस की आधार भूमि यही भाव है। जब भाव तन्मयता के कारण सघन रूप धारणा करता है और मानव हृदय देर तक आस्वादन करता रहता हुआ उसमें विहार करने लगता है तथा रस की सृष्टि होती है। रस की इसी भूमिका में पहुंच कर पाठक को अस्तित्व बोध नहीं रहता। **"भाव भेद रस भेद अपारा"** के अनुसार तो भाव तथा रस अनेक होते हैं किन्तु सूरदास से पूर्व नव रसों की स्थापना हो चुकी थी। भरत मुनि ने नाट्य सूत्रों में आठ रसों की गणना की हैं – श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। साहित्य दर्पण तक आते–आते शांत नामक नवम रस को भी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया था। यह तथ्य सूर सागर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। शान्त का सहवर्ती एक और रस है – भक्ति।

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित भक्ति रस की ही कोटि में आती है। उसका नाम "रागानुगा" भक्ति है। सूर सागर में भक्ति रस प्रभूत मात्रा में है परन्तु सूरदास की महत्ता वात्सल्य भाव को रस कोटि तक पहुंचाने में है। सूर सागर में वात्सल्य रस की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वात्सल्य भाव की प्रेरणा महाकवि सूरदास वल्लभाचार्य की बाल कृष्णोपासना से प्राप्त हुई थी।

श्रृंगार की ही भाँति वात्सल्य के भी दो भेद हैं – संयोग और वियोग। वियोग वात्सल्य के पुनः चार भेद है – (१) प्रवास को जाते हुये, (२) प्रवास में स्थित, (३) प्रवास से लौटते हुये, (४) करुण विप्रलम्भ। सूरदास ने संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को ग्रहण किया है। किन्तु विस्तार की दृष्टि से उन्होंने संयोग वात्सल्य रस के आश्रय प्रमुख रूप से यशोदा और नन्द ही हैं, किन्तु ब्रज के अन्य नर नारी भी इस भाव के आश्रय हैं। देवकी वसुदेव में भी यह भाव है। किन्तु घनीभूत रूप में यशोदा का वात्सल्य ही सूरदास ने चित्रित किया है। भक्ति रस की कोटि तक पहुंचाने वाला वात्सल्य माता यशोदा का ही है। संयोग रस में स्थायी भाव बाल प्रेम है। आलम्बन बालक, आश्रय माता, पारिवारिक व्यक्ति, अन्य सम्बन्धी आदि। उद्दीपन में बालक को शारीरिक चेष्टायें, सौन्दर्य, बुद्धि, चातुर्य, बाल क्रीड़ा आदि हैं। अनुभाव – प्रसन्नता, हास्य, गदगद हो जाना, चूमना आदि तथा संचारी भाव– पुलक स्मृति हर्ष, विस्मय आदि। सूरदास ने इस संयोग वात्सल्य रस के समस्त अंग प्रत्यंगों का वर्णन किया है। निम्नांकित पद में आभूषण धारण किये हुए कृष्ण की छवि तथा यशोदा के अन्दर में उत्पन्न सुख का वर्णन है –

"आँगन स्याम नचावहिं जसुमति नन्द रानी।
तारी दै दै गावैं मधुरी मृदु बानी।
पायन नूपुर बाजइ कटि किंकिनि कूजै।
नन्हीं एड़ियन अरुणता फल बिम्ब न पूजै।
जसुमति गान सुनै तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखि पुनि तारी बजावै।....
.... जसुमति सुतहिं नचावत छवि देखत जिय ते।
सूरज दास प्रभु स्याम के सुख चरत न हिय ते।"

कृष्ण की मोहक छवि को देखकर यशोदा तथा अन्य ब्रज बालायें प्रेम मग्न हो रही हैं। यथा–

"हौं बलि जाऊं छबीले लाल की।
धूसरि धूरि धुदुरुवनि रंगनि, बोलनि बचन रसाल की।
छिटकि रही चहुं दिसि जु लटरिया लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल दल माल की।
कछु के हाथ कछू मुख माखन, चितवनि नैन विसाल की।
सूर प्रभु के प्रेम मगन भई, ढिग न तजत ब्रजबल की।"

कृष्ण की बाल दशा का अत्यन्त मनोमुग्धकारी चित्रण सूर ने किया है। इसमें कवि की अद्भुत सूझ–बूझ और काव्य कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। यशोदा माता लोरी

गाकर सुलाती हैं –

"जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हरावै, जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आव निंदरिया, काहे न आन सुवावै।
तू काहे न बेगि सो आवै तोको कान्ह बुलावै।
कबहुं पलक हरि मूंद लेत हैं कबहूं अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै।
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनि पावै।"

स्त्रियाँ नवजात शिशु को गोद में लेने की कितनी इच्छुक होती हैं, इसका चित्र दर्शनीय है।

"नेकु गोपालहि रोको दैरी।
देखो कमलबदन नीके करि तापाहे तू कनिया लै री।"

कृष्ण की बालोचित वेशभूषा का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ अंकित किया है। ये बाल छवि वर्णन सरस, स्वाभाविक तथा चित्ताकर्षक है। यथा –

"हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि।।"

निःसन्देह श्री कृष्ण की बाल छवि अनुपम एवं अद्वितीय है। जिसे देखकर "अमर मुनिगन चकित रह जाते हैं।" "सखीरी नन्दनन्दन देखु" तथा बरनौ बाल वेष मुरारि" "देखि री देखि आनन्द कन्द" आदि पदों में सूर ने कृष्ण के अलौकिक एवं अद्भुत रूप की रमणीय झांकी अंकित की है। जिसे देखते ही मन बाल कृष्ण के सहज सौन्दर्य में लीन हो जाता है तथा उनकी अपूर्व रूप माधुरी का पान करने लगता है।

सूरदास ने कृष्ण की बाल सुलभ चेष्टाओं एवं विविध क्रीड़ाओं के अत्यन्त मनोहारी एवं स्वाभाविक चित्र अंकित किये हैं। कहीं कृष्ण घुटनों के बल आंगन में चल रहे है। कहीं मुख पर दधि लेप करके चल रहे हैं कही अपने पैर का अंगूठा पी रहे हैं। कहीं मणि जड़ित खम्भों में अपना ही प्रतिबिम्ब देख कर थिरक रहे हैं। किन्हीं पदों में माता यशोदा कृष्ण को चलना सिखा रही हैं। कृष्ण अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं के साथ कैसे अपना हाथ माता को पकड़ाते हैं जिस तरह डगमगाते पैर आगे बढ़ाते हैं इसे सूरदास ने इस प्रकार रूपायित किया है –

"सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पइयाँ।"

दूसरा चित्र मक्खन खाते हुए बालक कृष्ण की उन चेष्टाओं का है जिसमें उन्हें मक्खन के साथ ब्रज–रज से सुशोभित देखा जा सकता है –

"सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंड़ित, मुख दधि लेप किये।"

पैर का अंगूठा पकड कर पीने का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र सूरदास ने बालकृष्ण का खींचा है –

"कर पग गहि अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रंग खेलत।"

बालक कृष्ण की किलकारी भरी हंसी एवं मणि जड़ित आंगन में अपने ही प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिये दौड़ना – इसका चित्र बड़ा ही आकर्षक एवं हृदयग्राही खींचा है सूर ने –

"किलकत कान्ह घुटुरुवन धावत।
मनिमय कनक नन्द के आंगन बिम्ब पकरिबे आवत।"

उक्त सभी चित्र बालक कृष्ण की स्वाभाविक चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं के साकार रूप प्रस्तुत किये हैं। जिन्हें पढ़कर सहसा हृदय में वात्सल्य भाव उमड़ने लगता है।

सूर ने बालकों के हृदयस्थ मनोभावों, बुद्धि, चातुर्य, स्पर्धा, खीझ, प्रतिद्वन्दता, प्रत्युत्पन्न मति आदि का मनोरम चित्र खींचा है। कृष्ण को मक्खन अच्छा लगता है। पर माता यशोदा उन्हें दूध पिलाना चाहती हैं। वे आना–कानी करते हैं वे फुसलाकर उनकी चोटी बढ़ने का प्रलोभन देती हैं। उनके एक हाथ में दूध का कटोरा है, दूसरे को कृष्ण के बालों पर रखे हैं। इसका जीवन्त चित्र निम्न पद में दृष्टव्य है –

"मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूं है छोटी।
कांचो दूध पियावत माकों देत न माखन रोटी।"

दूसरा चित्र कृष्ण की बाल सुलभ सफाई का है। मक्खन खाते हुए पकड़े गये है किन्तु पकड़े जाने पर चतुर कृष्ण कितना साफ बहाना बताते हैं–

"मैया मैं नहिं माखन खायो।
चार पहर बंसी वट भटक्यों सांझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो छींकों केहि विधि पायो।
ग्वाल बाल सब बैरि परे हैं बरबस मुख लपटायो।
तू ही निरख नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।"

एक और चित्र बात सुलभ खीझ का है। बलराम की शिकायत वह माता यशोदा से कर रहे हैं।

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मों सो कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायो।
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हैं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तेरो तात।"

बालक कृष्ण मक्खन चोरी द्वारा गोपियों को भी खिझा रहे हैं एक दिन पकड़े जाने पर चतुरता से भरा हुआ कितना सुन्दर उत्तर देते हैं –

"मै जान्यो या मेरो घर है ता धोखे ते आयो।
देखत हौं गोरस में चीटी काढ़त को कर नायो।।"

सूर का वात्सल्य वर्णन इतना विशद एवं व्यापक है कि बालकों के संस्कार, उत्सवों एवं समारोहों का वर्णन भी उन्होंने साधिकार किया – इन पदों में मातृ हृदय की मनोरम झांकी दृष्टिगत होती है। कृष्ण के वर्षगांठ के अवसर पर माता यशोदा कितनी प्रसन्न हैं इस भाव का जीवन्त दृश्य प्रस्तुत है –

"अरी मेरे लालन की आजु बरस गांठ सबै,
सखिन को बुलाई, मंगल गान करावौ।
चन्दन आंगन लिपाई मोतियन चौक पुराइ,
उमंग अंगनि आनन्द सौं तूर बजावौ।।"

गोपाल के गोदोहन तथा गोचारण का वर्णन – सूरदास ने उक्त वर्णनों के अतिरिक्त कृष्ण के गोदोहन के लिए मचलने, गाय दुहने, गाय चराने हेतु वन में जाने की हठ, वन में माता द्वारा छाक भिजवाने का वर्णन करके वात्सल्य भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। गोदोहन के लिए हठ करते हुये बालकृष्ण का दृश्य –

"तनक तनक मोह दोहिनी दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यो मोहि धौरी गैया।
अटपटे आसन बैठि के गोधन करि लीनो।
धार अनत ही देखि कै प्रजपति हंसि दीन्हों।
चितै चोर चित हरि लियो हंसि गोप बिहारी।"

इसी प्रकार गोचारण के लिए वन जाते हुए कृष्ण को छाक देने की तैयारी माता यशोदा कर रही हैं। इनके अन्तर का उमड़ता प्रेम दृष्टव्य है।

"जोरति छांछ प्रेम सों मैया।
ग्वालन बोलि लिये अधजेंवत उठि दोऊ भैया।
तबही ते भोजन नहिं कीन्हों चाहत दियो पठाई।
भूखे भये आजु दोऊ भैया आपहिं बोलि मंगाई।
सब माखन साजो दधि मीठो मधु मेवा पकवान।
सूर स्याम को छाछ पठावति कहति ग्वाल सों जान।"

वात्सल्य का वियोग पक्ष – जिस प्रकार सूरदास ने कृष्ण की बाल लीलाओं, क्रीड़ाओं एवं उनके रूप चित्रण में तन्मयता दिखाई है और वात्सल्य के संयोग पक्ष की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की है, उसी प्रकार वात्सल्य के वियोग पक्ष का भी बड़ा मर्मस्पर्शी चित्र सूरदास ने प्रस्तुत किया है।

श्रीकृष्ण के मथुरागमन पर – वियोग वात्सल्य की हृदयद्रावक छवि सूर द्वारा रूपायित की गई है। सूर ने अपनी अन्तर्दृष्टि से मातृ–हृदय का बड़ा करुणा विगलित चित्र प्रस्तुत किया है। ऐसा लगता है माता यशोदा के रूप में स्वयं सूर का हृदय रो रहा है। और होता भी क्यों न कवि अत्यधिक संवेदनशील होता है। एक दृश्य ऐसा ही उपस्थित है –

"जसोदा बार–बार यों भाखैं।
है कोई जग में हितू हमारो चलत गोपलहिं राखै।

कहा करै मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायो।
सुफलक सुत मेरो प्रान हनन को काल रूप होइ आयो।।"

कृष्ण के मथुरा जाने का समाचार पाते ही माता यशोदा के हृदय से वात्सल्य का स्रोत फूट पड़ा। माता का अन्तर विह्वल हो पुकार उठता है। रोने पीटने पर भी जब माता की कोई बात नहीं सुनता, कृष्ण भी मथुरा जाने से नहीं रुकते तब यशोदा का मातृ हृदय वियोग जन्य व्यथा को सहन नहीं कर पाता है। वह रोती हुई कटे वृक्ष की भाँति भूमि पर पछाड़ खाकर गिर पडती हैं। माता यशोदा की कारुणिक दशा का यह हृदय विदारक चित्र दृष्टव्य है।

"यह सुनि गिरी धरनि झुकि माता।
कहा अक्रूर ठगौरी लाई, लिये जात दोऊ भ्राता।
विरध समय को हरत लकुटिया पाप पुन्य उर नाहीं।
कछू नफा है तुमकों यामैं, सोचो धरै मन माहीं।"

मथुरा से नन्द के अकेले लौटने पर भी यशोदा के मातृ हृदय का करुण चित्र सूर ने बड़ी तन्मयता से अंकित किया है। माता यशोदा नन्द को द्वार पर अकेले खड़ा देखकर विक्षोम के मारे व्याकुल हो उठती है। ऐसे समय में माता यशोदा का हृदय सहस्त्र धाराओं में फूट पड़ा। वह अपने प्रिय पुत्र के अभाव एवं नैसर्गिक व्यथा से भरकर अपने पति नन्द को फटकर उठती हैं –

"जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गई तुम्हारी चारौं कैसे मारग सूझै।"

माता यशोदा को इतने से ही सन्तोष नहीं होता। उनका व्याकुल स्वर यहाँ तक पहुँच जाता है।

"छाँड़ि सनेह चले मथुरा कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई वज्र की छाती कत या सूल सहयो।।"

यशोदा के ये कटु वचन उनकी उतनी ही गहरी व्यथा के द्योतक हैं। उनकी विक्षिप्त दशा के परिचायक हैं। जिनसे वात्सल्य रस उमड़ा पड़ता है।

श्रीकृष्ण के मथुरा में ही निवास करने पर तो यह वात्सल्य भाव को रस दशा तक पहुंचा दिया है। इसका मूल कारण यह है कि श्रृंगार की ही भाँति वात्सल्य के भी संयोग एवं वियोग पक्ष का बड़ा ही मार्मिक वर्णन सूरदास ने किया है। वात्सल्य वियोग का हृदयविदारक दृश्य उस समय का और भी मर्मस्पर्शी है, जिस समय कृष्ण अनेक बुलावा भेजने पर भी गोकुल नहीं लौटकर आते माता अपने पुत्र की रुचिकर वस्तुओं को नित्य अपने सामने रखती हैं और देखती है। उस समय की मातृ हृदय की पीड़ा एवं उद्गार कितने सरस हैं –

"जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि कै मेरे मोहन के मुख जोग।"

उन्हें बार–बार पुरानी बातें याद आती हैं और उनकी यही अभिलाषा रहती है कि कब पुनः वह दिन आयेगा और मैं लोरियाँ गा गाकर अपने श्याम सलोने कृष्ण को लिपटा

कर खिलाया करूगीं –

"निसि बासर छतियाँ लै लाऊं बालक लीला गाऊं।
वैसे भाग बहुरि कब ह्वै हैं मोहन गोद खिलाऊं।"

माता यशोदा तो पागल सी हो गई हैं। उन्हें सारा ब्रज काटने दौड़ता है। फिर भी उन्हें अपने लड़ैते लाल के खान–पान की चिन्ता रही है– क्योंकि उनके अतिरिक्त ऐसा कौन है जो उनके कृष्ण की आदतें जानता हो। उनके खान पान की व्यवस्था करने में तो यशोदा ही पटु हैं – वह स्नेहातिरेक में माता देवकी के पास सन्देश भेजती हैं –

"संदेसों देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करत ही रहियो।
जदपि देव तुअ जानति ह्वै हौ, तऊ मोंहि कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाड़ लड़ैते माखन रोटी खावै।
तेल उबटनों अरु तालो जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोई जोई मांगत सोई सोई देती, क्रम क्रम करिकै हाते।
सूर पथिक सुनि मोंहि रात दिन बढयो रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत संकोच।।"

माता यशोदा के उक्त कथन में एक सार्वभौम एवं शाश्वत तथ्य का निरूपण हुआ है। जिसमें माता के हृदय की मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक झांकी अंकित की गई है।

इस प्रकार महाकवि सूर ने वात्सल्य का बड़ा की हृदयग्राही वर्णन किया है। जिसमें बालोचित चेष्टाओं, क्रीड़ाओं के अतिरिक्त मातृ हृदय की भी बड़ी ही मनोरम एवं नैसर्गिक व्यंजना हुई है जो भाव रस की चरम दशा तक पहुच गया है। भक्ति के क्षेत्र में वात्सल्य भाव की भक्ति भी श्रेष्ठ मानी गई है। क्योंकि उसमें न तो विरक्ति होती है ना ही ऐन्द्रिक सुखों की लालसा, अपितु उसमें आपने आलम्बन के प्रति मातृ हृदय की सहज स्वाभाविक परिणति रहती है तथा सभी की भक्ति की उसमें स्नेह का आधिक्य दर्शित होता हैं। सूरदास का वात्सल्य वर्णन इसी प्रकार का है। जिसमें स्नेहातिरेक के साथ मातृ की स्वाभाविकता है। सूर के इस वात्सल्य वर्णन में तन्मयता है, स्वाभाविकता है, मनोवैज्ञानिक सत्य उद्घाटित है। सरलता एवं सहज आकर्षण है। हृदय को आकृष्ट करने की अपूर्व क्षमता है। इसमें शिशु जीवन की एक उल्लास एवं उमंग भरी शास्वत झांकी अंकित है। इसी कारण सूरदास वात्सल्य रस के सम्राट कहलाते हैं बाल मनोविज्ञान के पारखी कहे जाते हैं। साथ ही बाल प्रकृति एवं बाल मनोवृत्तियों के कुशल चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

"सूरदास के दार्शनिक विचार"

प्रश्न ८. सूरदास के दार्शनिक विचारों पर एक लेख लिखिये। अथवा महाकवि सूरदास के काव्य में दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन है। अपने

विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – सूरदास एक सिद्ध भक्त कवि थे। वे किसी दार्शनिक पंडित के रूप में हमारे सम्मुख नहीं आते, जिस प्रकार दार्शनिक आचार्यों ने ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक विवेचन के रूप में प्रस्तुत किया है, उस प्रकार की स्थापना करना सूर का लक्ष्य न था किन्तु उनके काव्य के अनुशीलन से उनके साहित्य में समाहित दार्शनिक भूमिका को ग्रहण कर सकते हैं।

बल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण सूर के दार्शनिक विचारों पर बल्लभाचार्य का प्रभाव पूर्णतः दृष्टिगोचर होता है। सूरदास के पदों में शुद्धाद्वैत की मान्यतायें स्वभावतः ही आ गई हैं।

आचार्य बल्लभ के सम्प्रदाय की भाँति सूरदास जी के इष्टदेव भी श्रीकृष्ण हैं। वे ही परब्रह्म हैं। बल्लभ सिद्धान्त के अनुसार सूरदास जी ने ब्रह्म प्रकृति और पुरुष में ऐक्य स्थापित किया है, यथा –

"सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत विरहत युगल स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सब हैं अंब गोपाल।।"

सूरदास जी ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने एक पद में इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं – "भगवान कृष्ण को अविगत, आदि अनन्त, अनुपम अलख और अविनाशी पुरुष है। वे वृन्दावन में गोपियों के मण्डल के मध्य नित्य लीला बिहार करते हैं।" इस प्रकार वृन्दावन तथा ब्रज के आध्यात्मिक रूप की ओर सूरदास ने अनेक बार संकेत किया है। सूर के कृष्ण भक्त वत्सल हैं। उनकी ब्रज लीलाओं में उनकी कृपा प्रेम का रूप धारण कर लेती है। चीर हरण, कालिय दमन, गोवर्द्धन धारण आदि लीलाओं में हरि कृपा का संकेत स्पष्टतः लक्षित है। सूरदास ने अपनी सगुण भक्ति का हेतु स्पष्ट करते हुये कहा है –

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर गत ही भावै।
परम स्वाद सब ही निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोर्चर, सो जानै तो पावै।
रुप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै।"

दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से सूरदास जी ने जीव जगत – संसार, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में जिन मान्यताओं की प्रतिष्ठा की है उनसे अवगत होना आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास ने साम्प्रदायिक तथा अन्य प्रभावों को ग्रहण करने के साथ ही अपनी मौलिकता का पुट भी दिया है। उनके काव्य का वैचारिक मंथन करने से यह सहज ही सिद्ध हो जाता है।

जीव – जीव के सम्बन्ध में सूरदास जी ने जो उक्तियाँ दी हैं उनमें अनेक प्रभाव लक्षित होते हुये भी बल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव ही अधिक है। आचार्य बल्लभ ने जीव को गोपाल का अंश माना है। जीव को माया से आवृत्त माना है। जीव की तीन श्रेणियाँ बताई हैं। सूर ने यद्यपि इनका कोई सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है परन्तु उनके काव्य में इसके उदाहरण मिलते हैं। सूरदास ने संसारी जीवों का वर्णन विनय के पदों में, और शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन भगवान की नित्य लीलाओं वाले पद में किया है। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म में भेद है। इसी माया के प्रभाव से जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है –

"आपुन पौ आपुन ही बिसरयो।
जैसे स्वप्न कांच मंदिर में भ्रम भ्रम मूकि परयो।"

× × ×

"मर्कट भूंठि छाड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्‌यो।
सूरदास नलिनी की सुबटा, कहि कौने पकर्‌यो।।"

सूर–काव्य में संसारी जीवों भ्रमपूर्ण स्थिति का वर्णन विस्तार से हुआ है। भ्रम निवारण होने पर ही जीवन अपने स्वरूप को पहचान पाता है।

"आपुन पौ आपुन ही पायो।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो सतगुर भेद बतायौ।
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी ढूंढत फिरत भुलायौ।
फिरि चितयों जब चेतन ह्वै करि अपने ही तन छायौ।।"

ऐसे पदों में शंकर के माया वाद का प्रभाव है। सूर ने उन ज्ञानी जीवों की ओर भी संकेत किया है, जो सदैव आत्मनिष्ठ रहते हैं। अज्ञानी जीव केवल अपने दैहिक धर्म को ही अपना धर्म समझते हैं। जीव के सम्बन्ध में सूर ने होनहार भवतव्यता का बल मानते हैं। इसी को ये कर्मगति कहते हैं। उसी के वशीभूत त्रैलोक्य है। जीव की उत्पत्ति एवं लय उसी के आधीन है। जीव के कल्याण हेतु सूर ने भगवद् भजन को आवश्यक माना है –

"सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जनम गंवावै।"

जगत एवं संसार – जगत के सम्बन्ध में सूर ने अपने पदों में आचार्य बल्लभ के अविकृत परिणामवाद को ही ग्रहण किया है। इसी कारण सूर ने जगत की उपमा बुलबुले से दी है। जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, और अन्त में ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। इस प्रकार जगत को सूर ने सत्य माना है। केवल संसार को मिथ्या कहा है। बल्लभाचार्य के मतानुसार जगत और संसार भिन्न–भिन्न है। पंचतत्वों से निर्मित सृष्टि ही जगत है। नाम रूप तथा जीव के पारस्परिक सम्बन्ध नाशवान है। इन्हीं को संसार कहते हैं। कहीं–कहीं ने बल्लभ–सम्प्रदाय की मान्यता से भिन्न उल्लेख भी किया है किन्तु ऐसे प्रसंग सूरसागर में उन स्थलों पर मिलते हैं, जहाँ भागवत का कोई विशेष कथानक है। तीसरे स्कन्ध में कपिल मुनि अपनी माँ को सृष्टि का क्रम बता रहे है। यहाँ पर माया के त्रिगुणात्मक स्वरूप का वर्णन है। सत्व, रज और तम ये तीन माया के गुण हैं। माया की पहचान होने पर जीव प्रायश्चित करता है।

माया — वल्लभाचार्य का मत माया के विषय में शंकराचार्य से भिन्न है। शंकराचार के मतानुसार अविद्या का नाश होने पर भी जीव और जगत की सत्ता विलुप्त हो जाती है किन्तु वल्लभाचार्य के विचार से अविद्या का नाश होने पर भी जीव और जगत स्थिति रहर्त है। केवल संसार नष्ट होता है। सूरदास के विनय के पदों में माया के ऐसे ही स्वरूप क वर्णन है। वह जीव को पूर्णतः अज्ञान में डालती है। यही विचारधारा वेदान्त की रही है वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् सूरदास जी ने माया के दो रूप—विद्या औ अविद्या को स्वीकार किया हैं उनके पदों में माया का वर्णन विस्तार से हुआ है। माया क तृष्णा के रूप में ग्रहण करके अनेक रूपकों की भी योजना की है —

"माधौ नैकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि बासर अपथ पथ अगह गहि नहिं जाइ।
छुधित अति न अघाति कबहूं निगम द्रुम दलि खाइ।
अष्ट दस घट नीर अंचवति, तृषा तऊ न बुझाइ।।"
इसके अतिरिक्त — "अब हौं नाचौं बहुत गुपाल।

....

तृष्ना नाद करत घर भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल। .....
..... सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नन्द लाल।।"

यह पद भी माया का उदाहरण है।

माया को ब्रह्म की मोहक शक्ति भी बताया है, उसे योग माया के नाम से उल्लिखित किया है।

मोक्ष — दार्शनिक दृष्टि से मोक्ष का विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मोक्ष का निरूपण विभिन्न दार्शनिकों द्वारा पृथक—पृथक किया गया है। किन्तु भक्ति मार्ग में मोक्ष का स्वरूप भक्ति भावना के भीतर समाहित हो जाता है। भक्त केवल भगवान के दर्शन का उत्कट अभिलाषी है। सूरदास ने मोक्ष को उसी प्रकार ग्रहण किया है। जिस प्रकार से वल्लभ सम्प्रदाय में निरूपित है। आचार्य वल्लभ द्वारा विवेचित मुक्ति के भेदों के सभी उदाहरण सूर—काव्य में देखे जा सकते हैं। भगवान के लीला धाम में पहुंचना ही सालोक्य मुक्ति है। उनके चरणों की समीपता ही सामीप्य मुक्ति है, कृष्ण के साथ उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एक भाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य मुक्ति का प्रधानता दी है।

सायुज्य मुक्ति के भी दो रूप हैं — (१) संसार के दुख से मुक्त होकर नित्य सुख की प्राप्ति। (२) लयात्मक सायुज्य मुक्ति।

प्रथम रूप में जीव ईश्वर का अंग नहीं बनता। द्वितीय में जीव ईश्वर का अंग बन जाता है। प्रथम का उदाहरण रास लीला है। लयात्मक सायुज्य मुक्ति का उदाहरण भ्रमर गीत है। मुक्तियों के इन रूपों के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय में " स्वरुपानन्द मुक्ति" का भी वर्णन मिलता है। इस अवस्था को भजनानन्द में मग्न होना कहते हैं — सूर की उक्ति दृष्टव्य है --

"सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भवजल आवै।।"

भ्रमर गीत के प्रसंग में एक स्थल पर सूरदास जी ने अपनी मान्यता इस प्रकार व्यक्त की है। श्याम सुन्दर के साथ रहने में मानो सभी प्रकार की मुक्तियाँ एक साथ जीव को मिल जाती हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं –

"ऊधो सूधे नेक निहारौ।
हम अबलानि कौ सिखवत आए, सुन्यौ सयान तिहारौ।
निरगुन कहौं कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यों, रहित समीप सदाई।।"

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारों प्रकार मुक्ति का आनन्द ले रही हैं। उन्हें सर्वत्र कृष्ण का ही रूप दिखाई देता है। यह सायुज्य मुक्ति की चरम सीमा है। तभी तो किसी–किसी गोपी के मुख से "दही लेहुरी" के स्थान पर "गोपाल लेहुरी" मुख से निकल जाता है। इसी जीवन मुक्त अवस्था को सूरदास सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

रास – सूरदास के रास का भी आध्यात्मिक पक्ष है। उनकी रास लीला "रासपंचाध्यायी" को आधार मानकर लिखी गई है किन्तु इसमें सूर की मौलिकता भी है। जिससे भागवत के रास में और सूर के रास में अन्तर हो गया है। भागवत् में राधा का वर्णन नहीं हैं किन्तु सूरदास ने वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार राधा का वर्णन स्वकीया के रूप में किया है। सूर के रास वर्णन में लौकिक और अलौकिक दोनों तत्वों का समन्वय है। आध्यात्मिक रूप से कृष्ण धन है, और गोपियाँ दामिनी तथा लौकिक रूप में कृष्ण नायक हैं और गोपिकायें नायिका हैं। यह रास–शाश्वत है –

"नित्य धाम वृन्दावन श्याम नित्य रूप राधा ब्रजधाम।
नित्य रास जल नित्य विहार नित्य मान खण्डिताभिसार।
ब्रह्म रूप एही करतार, करन हार त्रिभुवन संसार।
नित्य कुंज सुख, नित्य हिंडोर, नित्य हि त्रिविध समीर झकोर।।"

इसके अतिरिक्त एक अन्य पद में राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष रूप में वर्णित किया गया है।

वस्तुतः सूरदास जी ने कोई सैद्धान्तिक दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत न करके, केवल भाव रूप में उन्हीं दार्शनिक मान्यताओं को अधिक अपनाया हैं जिनका निरूपण वल्लभ सम्प्रदाय में हुआ भाव की प्रधानता होने के कारण ही वे मोक्ष की विभिन्न कोटियों के फेर में नहीं पड़े। सूरदास ने तो भगवान के परमधाम "ब्रज" में पहुंच कर तन्मयता के साथ हरि लीला गान को ही अपना लक्ष्य बनाया है। कवि रूप में उन्हें इस लीला गान में अद्वितीय सिद्धि प्राप्त हुई है।

"सूर की विनय भावना और माधुर्य भक्ति"

प्रश्न ६. महाकवि सूरदास की विनय भावना और माधुर्य भक्ति की समीक्षा कीजिए।

उत्तर – महाकवि सूर भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी भक्ति भावना सर्वप्रथम विनय के पदों में प्रकट हुई है। उन पदों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व सूर भारत वर्ष में प्रचलित अन्य भक्ति पद्धतियों एवं उपासना प्रणालियों से प्रभावित थे इसीलिये उनके कुछ पद हठ योग एवं शैव साधना से प्रभावित जान पड़ते हैं, और कुछ पदों में वे निर्गुण भक्ति के भी समर्थक दिखाई देते हैं। जिससे वे जाति पाति का विरोध, वेद शास्त्र की निन्दा, ज्ञान वैराग्य की महत्ता, आन्तरिक साधना का महत्व, सतगुरु की महत्ता, मूर्तिपूजा की विरोध, सन्तों का गुणगान करने वाले दिखाई देते हैं। सत्पुरुषों की प्रशंसा में सूरदास जी कहते हैं – "जो लौ सत स्वरूप नहिं सूझत" तो कहीं "आपुन ही आपुन मैं पायों" अथवा "शब्दहिं शब्द भयो उजियारो, सतगुर भेद बताओ" आदि कहकर निर्गुण मार्गी कबीर की भाँति अन्तः साधना एवं सत्गुरु के उपदेशों का महत्व स्वीकार करते हैं। सूरदास के ऐसे पद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जिनमें रामानुजाचार्य, मधवाचार्य, निम्बकाचार्य, रामानन्द आदि के विचारों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसीलिये सूर के पदों में नवधा भक्ति और विनय की प्रधानता है और विनय की सातों भूमिकायें – दीनता, मानमर्षता, भय दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा विद्यमान है तथा वैष्णव सम्प्रदाय के छः नियमों का पालन दिखाई देता है। जिससे यहाँ १ – अपने इष्टदेव की अनुकूलता का संकल्प, २– प्रतिकूल बातों का परित्याग, ३– इष्टदेव में दृढ़ विश्वास, ४– इष्ट देव का गुणगान, ५– सर्वस्व अर्पण की भावना, ६– दैन्य का निरूपण मिलता है। ये सभी तत्य इस ओर संकेत करते हैं कि वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने से पूर्व वे एक सन्त महात्मा थे। जिस पर किसी विशेष सम्प्रदाय का प्रभाव न था।

सूर के विनय पदों में उनके अन्तर की आकुलता का स्पष्ट परिचय मिलता है। यथा–

> ***"माधव जू मों ते और न पापी।***
> ***घातक कुटिल चवाई कपटी महाकूर संतापी।"***

तथा

> ***"कौन गति करिहौ मेरी नाथ।***
> ***हौं तो कुटिल कुचाल कुदरसत रहत विषय के साथ।।"***

तथा अपने को समस्त पतितों का नायक ताना –

> ***"हौ हरि सब पतितन को नाय "*** और ***"प्रभु हौं सब पतितन को टीको।"***
> ***और पतित तो दिवस चारि के हौं तो जनमत ही को।"***

निम्नांकित पद भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है –

"मेरी तौ पति गति तुम अंतहिं दुख पाऊं।
हौं। कहाइं तिहारौ, अब कौन को कहाऊं।।"

× × ×

" वृद्धि भये सुधि प्रगटी मों को दुखित पुकारत ताते।"

इन विनय के पदों में सूर के आकुल अन्तर की पुकार है, वे दीर्घायु तक अशान्त रहे। इसके उपरान्त सूर आचार्य वल्लभ ऐसे सिद्ध योगी से मिले, जिन्होंने उनके समस्त कल्मष को विनष्ट कर दिया। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त उनकी आत्मा वैसी अशान्त न थी। अपने को पतित, कुटिल, अविद्याग्रस्त कहने की जो हीनता विनय के पदों में दृष्टिगत होती है, वह जाती रही। हरि लीला दर्शन से उत्पन्न सामर्थ्य ने सूर को महती कर्तृत्व शक्ति प्रदान की।

माधुर्य भक्ति – सूरदास जी आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। उनके सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति को बहुत महत्व दिया गया है। बल्लभाचार्य की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी के समय में इसे अधिक महत्व दिया गया। अष्टछापी कवियों ने इसके क्रियात्मक रुप की ओर विशेष ध्यान दिया है। विट्ठलनाथ जी ने माधुर्य भक्ति के स्वरूप का वर्णन **"श्रृंगार मंडन"** में विस्तार से किया है। विट्ठलनाथ जी ने समय युगल सरकार की उपासना का महत्व बढ़ गया था। लौकिक प्रेम के सभी स्वरूप जब लोक से ईश्वर से सम्बन्धित कर द्रिये जाते हैं तो वे माधुर्य भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अनुसार यह क्रिया भक्त के मन के सभी विकास दूर करने का सर्वोत्तम साधन है। इसी कारण माधुर्य भक्ति में जो श्रृंगारी सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़े जाते हैं वे लौकिक आलोचना के विषय नहीं बन सकते, परमात्मा के साथ जोड़े गये सभी सम्बन्ध पवित्र होते हैं। दाम्पत्य भाव की भक्ति को माधुर्य भक्ति कहते हैं।

माधुर्य भक्ति रस में श्रृंगार रस की भाँति संयोग तथा वियोग दोनों पक्ष होते हैं। स्वकीया और परकीया दोनों भावों की रति उसमें रहती है। इस भुक्ति रस में प्रीति काम रूप भी हो सकती है और सम्बन्ध रूप भी। सूरदास जी की भक्ति में ये सभी रूप विधिवत चित्रित हुये हैं। माधुर्य भक्ति के प्रसंगों में सूरदास जी ने स्त्री भाव के अन्तर्गत परकीया की अपेक्षा स्वकीया को अधिक महत्व दिया है। इसी भाव के साथ उन्होंने श्री कृष्ण के साथ सामीप्य स्थापित किया है। गोपियों की कृष्ण के प्रति जो प्रीति है वह कामरूपा है किन्तु भक्ति भावना में यह कामरूपा प्रीति भी निष्काम हो गई है। निष्काम भावना के कारण ही गोपियों की प्रीति संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में एक रूप है। आत्म समर्पण और अनन्य भाव इस भक्ति के लिए अवश्य माने गये हैं। सूरसागर के अन्तर्गत रासलीला, चीर हरण लीला और दान लीला के प्रसंग आत्मसमर्पण और अनन्य भाव इस भक्ति के लिए अवश्य माने गये हैं। सूर सागर के अन्तर्गत रास लीला, चीर हरण लीला और दान लीला के प्रसंग आत्मसमर्पण और अनन्य भाव के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। सूरदास ने गोपियों के पूर्वराग से लेकर माधुर्य–भक्ति के पूर्ण विकास तक का सुन्दर चित्रण किया है।

आचार्य वल्लभ ने विरह की अवस्था को भक्ति के अन्तर्गत अधिक महत्व दिया है। सूरदास जी का विरह वर्णन संयोग से भी अधिक शक्तिशाली है। माधुर्य भक्ति की आश्रय स्वरूपा गोपियां अपने प्रिय कृष्ण के प्रेम में इतनी तल्लीन है कि उद्धव जैसे ज्ञानी का उपदेश उनके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं डालता। उल्टे उद्धव पर ही प्रेम भक्ति का प्रभाव होता है। बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व जो सूरदास जी की भक्ति वैराग्य समन्वित थी, उससे माधुर्य भक्ति नितान्त भिन्न है। इसी माधुर्य भक्ति का अंतिम सोपान आत्म निवेदन भाव है। यह आत्म निवेदन शाखा गति से भिन्न नहीं है।

सूर की माधुर्य भक्ति के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण उनके काव्य में हुआ है। जिस पर प्रकाश यहाँ अपेक्षित है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कृष्ण और गोपिकाओं के इस प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है – "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुये तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं।"

सूर की गोपियाँ उद्धव से यही कहती हैं– "लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै।" यह साहचर्य जन्य अनुराग था। इसी से इनमें इतनी गहराई थी कि जिसका पार पाना कठिन है। श्याम के सौन्दर्य ने तो "वन उपवन सरिता सब मोहे" भला फिर गोपियाँ उस अनन्त सौन्दर्य के प्रभाव से कैसे मुक्त रह सकती थीं। गोपियों का कथन है – "सूर श्याम बिनु और न भावै कोउ कितनो समुझावै।" माखन चोर कृष्ण ने गोपियों का चित्त चुराकर चितचोर बन गये हैं।

"तरुनी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोबन रस चढ़ायों अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं दहिं नहिं माखन नहीं रीतौ माट।
महारस अंग अंग पूरन कहाँ घर कहाँ बट।
मात पितु गुरजन कहाँ के कौन पति को नारि।
सूर प्रभु के प्रेम–पूरन छकि रही व्रज नारि।
कृष्ण के प्रेम में पगी गोपियों की यह थी अवस्था।।"

राधा–कृष्ण के पारस्परिक प्रेम का चित्रण दृष्टव्य है – "सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगौरी।" कृष्ण राधा से कहते हैं –

"बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कबहुं ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।

....

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि मुरई राधिका मोरी।"

यही प्रथम परिचय धीरे–धीरे खेल कूद हास परिहास आदि के सहारे प्रणय में परिणत होने लगा। मान आदि के प्रसंग भी आये। जिनका सूर ने अत्यत्त मार्मिक वर्णन उपस्थित किया है, परन्तु यह प्रेम बढ़ता ही गया और मान आदि की अवस्थायें उसमें

सहायक ही सिद्ध हुई वास्तव में प्रेम भाव से कृष्ण और राधा का रूप और भी मनोहारी स्थिति को प्राप्त होने लगा।

सूरदास ने संयोग श्रृंगार की अनेक लीलाओं का वर्णन किया है। इनमें पनघट–प्रस्ताव, यमुना विहार, हिंडोला, रास आदि के प्रसग मुख्य हैं। राधा–कृष्ण के कुन्ज बिहार सम्बन्धी अनेक पद सूर ने रचे हैं। कुंज क्रीड़ा का एक पद प्रस्तुत है –

"नवल किशोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपनै उर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर स्यामा स्याम उमंगि रस भरिया।
या लपटाई रहे उर उर ज्यों, मरकत मनि कंचन में जरिया।
उपमा काहि देउं को लायक मन्मथ कोटि वारने करिया।
सूरदास बलि बलि जोरी पर, नन्द कुंवर वृषभानु कुंवरिया।"

इसी प्रकार अन्य गोपिकाओं के भी अनेक प्रसंग सूरदास ने दिये हैं। यथा–

"यां सुनि चकित रही ब्रजबाला।
तरुनी सब आपस में बूझति कहाँ कहत गोपाला।"

तथा – "ललित को सुख दै गये स्याम।" आदि पद कृष्ण गोपियों के प्रेम प्रसंग हैं। इन प्रसंगों के होते हुये भी बहुलता राधा सम्बन्धी प्रसंगों की है। इसका मुख्य कारण यह है कि वल्लभ सम्प्रदाय में परकीया प्रेम की अपेक्षा स्वकीया प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। इसी से युगल उपासना की भावना का विकास आगे चल कर सम्प्रदाय में अधिक हुआ। सूरदास जी ने राधा को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। इतने पर भी इतने अगाध प्रेम के होते हुए कृष्ण इस बन्धन को छोड़कर मथुरा चले गये। सम्भवतः यहीं तो गोपिकाओं की अथवा भक्तों की परीक्षा थी। गोपिकायें इसमें खरी उतरीं। उनका प्रेम अनन्य है। अतएव उनके मार्ग की समस्त बाधायें भी उनके प्रेम मार्ग में अवरोध उपस्थित न कर सकीं। ऐसी थी गोपियों की माधुर्य भक्ति।

इस माधुर्य भक्ति में सूरदास जी ने वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। साहित्यिक दृष्टि से सूरसागर का वह अंश अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। यह भ्रमर गीत के नाम से प्रसिद्धि है। गोपियों की माधुर्य भक्ति इसमें अनन्यता को प्राप्त हुई है। उद्धव जो गोपिका को ज्ञान देकर ब्रह्म और योग साधना के बारे में बताना चाहते थे निष्फल ही हुआ उनका प्रयत्न। कृष्ण और गोपियों के मध्य कोई बाधा खड़ी हो सकती है क्या? उद्धव गोपियों से प्रेम भक्ति लेकर ही लौटे।

कृष्ण का मथुरा जाना देखकर गोपियाँ रोने लगीं। उनकी विरहाग्नि कितनी दाहक है –

"अनल ते विरह अगिनि अति ताती।
माधव चलन चहत मधुवन कौ सुने तपति अति छाती।
न्याइहि नागरि नारि विरह बस, जरति दिया ज्यों बाती।
जे जरि मरी प्रगट परि, ते तिय अधिक सुहाती।।"

कृष्ण का रथ चला गया। गोपियाँ घर लौट रही हैं। तो उनके पैर ही सीधे नहीं पड़ रहे हैं।

"पाछे ही चितवत मेरे लोचन। आगे परत न...
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जा...
पवन न भई चरन लपटाती, जाती उह लौ संग।
ठाढ़ी कहा करौं मेरी सजनी, जिहि विधि मिलै गुपाल
सूरदास प्रभु पढ़ै मधुपूरी, मुरझि परी ब्रज बाल।"

गोपियाँ अचेत होकर गिर पड़ी हैं। उनके अथाह प्रेम की थाह भला कौन पा... है। गोपियों के नेत्र विरहातिरेक में सावन भादों के मेघ की भाँति बरस रहे हैं। इ... अभिव्यजंना इस पद में दृष्टव्य है।

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते स्याम सिधारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहू उर विच बहत पनारे।
हम अंजन न रहत अंखियन में कर कपोल भये कारे।
....
सूरदास अब बूड़त है ब्रज काहे न लेहु उबारे।।"

इस विरह की स्थिति में गोपियों को सभी उदास दिखती हैं। यमुना भी उनके विरह में सन्तप्त है। परन्तु मधुबन को हरा-भरा देखकर गोपियों को आश्चर्य है-

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुनन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

संयोग में सुख देने वाले समस्त उपादान वियोग में दुखदायी हो गये है। यथा-

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजे।
तब ये लता लगति अति सुन्दर अब भई विषम ज्वाल की पुंजे।।"

इस प्रकार सूरदास जी ने माधुर्य भक्ति के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों से सम्बन्धित जितने भी सम्भावित भाव हो सकते थे, उन सबका सुन्दर निदर्शन किया है।

भ्रमर गीत के अन्त में उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार गोपियों का प्रेम कृष्ण के प्रति अनन्य है, उसी प्रकार कृष्ण भी गोपिकाओं से सदा अभिन्न है। कृष्ण उद्धव ने कहते हैं –

"सूर स्याम भूतल गिरे रहे नयन जल छाय।"
पोंछि पीत-पट सों कह्यौ, हो आये जोग सिखाय।।"

सूर का मधुर वियोग श्रृंगार रस वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है।

"सूरदास का काव्य सौष्ठव"

प्रश्न १०. सूरदास के काव्य सौष्ठव पर प्रकाश डालिये। अथवा

काव्य कवि के अर्न्ततम की भावनाओं की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिये। अथवा

सहायक ही सिद्ध हुई वास्तव में प्रेम भाव से कृष्ण और राधा का रूप और भी मनोहारी स्थिति को प्राप्त होने लगा।

सूरदास ने संयोग श्रृंगार की अनेक लीलाओं का वर्णन किया है। इनमें पनघट–प्रस्ताव, यमुना विहार, हिंडोला, रास आदि के प्रसंग मुख्य हैं। राधा–कृष्ण के कुन्ज बिहार सम्बन्धी अनेक पद सूर ने रचे हैं। कुंज क्रीड़ा का एक पद प्रस्तुत है –

"नवल किशोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपनै उर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर स्यामा स्याम उमंगि रस भरिया।
या लपटाई रहे उर उर ज्यों, मरकत मनि कंचन में जरिया।
उपमा काहि देउं को लायक मन्मथ कोटि वारने करिया।
सूरदास बलि बलि जोरी पर, नन्द कुंवर वृषभानु कुंवरिया।"

इसी प्रकार अन्य गोपिकाओं के भी अनेक प्रसंग सूरदास ने दिये हैं। यथा–

"या सुनि चकित रही ब्रजबाला।
तरुनी सब आपस में बूझति कहाँ कहत गोपाला।"

तथा – "ललित को सुख दै गये स्याम।" आदि पद कृष्ण गोपियों के प्रेम प्रसंग हैं। इन प्रसंगों के होते हुये भी बहुलता राधा सम्बन्धी प्रसंगों की है। इसका मुख्य कारण यह है कि वल्लभ सम्प्रदाय में परकीया प्रेम की अपेक्षा स्वकीया प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। इसी से युगल उपासना की भावना का विकास आगे चल कर सम्प्रदाय में अधिक हुआ। सूरदास जी ने राधा को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। इतने पर भी इतने अगाध प्रेम के होते हुए कृष्ण इस बन्धन को छोड़कर मथुरा चले गये। सम्भवतः यहीं तो गोपिकाओं की अथवा भक्तों की परीक्षा थी। गोपिकायें इसमें खरी उतरीं। उनका प्रेम अनन्य है। अतएव उनके मार्ग की समस्त बाधायें भी उनके प्रेम मार्ग में अवरोध उपस्थित न कर सकीं। ऐसी थी गोपियों की माधुर्य भक्ति।

इस माधुर्य भक्ति में सूरदास जी ने वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। साहित्यिक दृष्टि से सूरसागर का वह अंश अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। यह भ्रमर गीत के नाम से प्रसिद्धि है। गोपियों की माधुर्य भक्ति इसमें अनन्यता को प्राप्त हुई है। उद्धव जो गोपिका को ज्ञान देकर ब्रह्म और योग साधना के बारे में बताना चाहते थे निष्फल ही हुआ उनका प्रयत्न। कृष्ण और गोपियों के मध्य कोई बाधा खडी हो सकती है क्या? उद्धव गोपियों से प्रेम भक्ति लेकर ही लौटे।

कृष्ण का मथुरा जाना देखकर गोपियाँ रोने लगीं। उनकी विरहाग्नि कितनी दाहक है –

"अनल ते विरह अगिनि अति ताती।
माधव चलन चहत मधुवन कौ सुने तपति अति छाती।
न्याइहि नागरि नारि विरह बस, जरति दिया ज्यों बाती।
जे जरि मरी प्रगट परि, ते तिय अधिक सुहाती।।"

कृष्ण का रथ चला गया। गोपियाँ घर लौट रही हैं। तो उनके पैर ही सीधे नहीं पड़ रहे हैं।

"पाछे ही चितवत मेरे लोचन। आगे परत न पांय।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाय।
पवन न भई चरन लपटाती, जाती उह लौ संग।
ठाढ़ी कहा करौं मेरी सजनी, जिहि विधि मिलै गुपाल।
सूरदास प्रभु पढ़ै मधुपूरी, मुरझि परी ब्रज बाल।"

गोपियाँ अचेत होकर गिर पड़ी हैं। उनके अथाह प्रेम की थाह भला कौन पा सकता है। गोपियों के नेत्र विरहातिरेक में सावन भादों के मेघ की भाँति बरस रहे हैं। इसकी अभिव्यजंना इस पद मे दृष्टव्य है।

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते स्याम सिधारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहू उर विच बहत पनारे।
हम अंजन न रहत अंखियन में कर कपोल भये कारे।

....

सूरदास अब बूड़त है ब्रज काहे न लेहु उबारे।।"

इस विरह की स्थिति में गोपियों को सभी उदास दिखती हैं। यमुना भी उनके विरह में सन्तप्त है। परन्तु मधुबन को हरा–भरा देखकर गोपियों को आश्चर्य है–

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुनन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

संयोग में सुख देने वाले समस्त उपादान वियोग में दुखदायी हो गये है। यथा–

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजे।
तब ये लता लगति अति सुन्दर अब भई विषम ज्वाल की पुंजे।।"

इस प्रकार सूरदास जी ने माधुर्य भक्ति के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों से सम्बन्धित जितने भी सम्भावित भाव हो सकते थे, उन सबका सुन्दर निदर्शन किया है।

भ्रमर गीत के अन्त में उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार गोपियों का प्रेम कृष्ण के प्रति अनन्य है, उसी प्रकार कृष्ण भी गोपिकाओं से सदा अभिन्न है। कृष्ण उद्धव ने कहते हैं –

"सूर स्याम भूतल गिरे रहे नयन जल छाय।"
पोंछि पीत–पट सों कह्यौ, हो आये जोग सिखाय।।"

सूर का मधुर वियोग श्रृंगार रस वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है।

"सूरदास का काव्य सौष्ठव"

प्रश्न १०. सूरदास के काव्य सौष्ठव पर प्रकाश डालिये। अथवा

काव्य कवि के अन्र्ततम की भावनाओं की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिये। अथवा

महाकवि सूरदास का काव्य भक्ति रस का भण्डार है। इन्हीं के काव्य द्वारा सिद्ध कीजिए।

उत्तर – काव्य कवि के अन्तरतम की भावनाओं की सुंदरतम अभिव्यक्ति है।

सूरदास ब्रज भाषा के कवि हैं और उनका काव्य ब्रजभाष का श्रगार है। उसमें विविध राग रागनियों के अन्तर्गत एक भक्त हृदस के भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त हुये हैं। जिनमें श्री कृष्ण, गाय, वृन्दावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप। गोपिकाओं आदि की महत्ता के साथ–साथ सम्पूर्ण ब्रज जीवन, ब्रज संस्कृति एवं ब्रज सभ्यता मुखरित होकर गुंजरित हो रही है। सूरदास का प्रत्येक पद भक्ति की स्निग्धता से ओत प्रोत है तथा सूर की समस्त भावनायें उनके भावुक हृदय की अनुभूतियो के भण्डार हैं। यही कारण है कि सूरदास के काव्य में एक अद्‌भुत अपूर्व संजीवनी शक्ति है। जो सहृदय जनों को मधुर राग रागनियों के माध्यम से अन्तःकरण के निगूढ़तम प्रदेश में पहुंच कर ब्रह्मानन्द में लीन कर देती है। यही कारण है समग्र ब्रज साहित्य सूर की जूठन माना जाता है। इनके काव्य में अतुल माधुर्य है, अनुपम सौन्दर्य है तथा अपरिमेय सौष्टव है। जिसका अवलोकन निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त करके किया जा सकता है।

वस्तु वर्णन – वर्ण्य विषय की दृष्टि से सूर के समग्र काव्य को छः भागों में विभाजित किया जा सकता है। १– विनय के पद, २– बालकृष्ण से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक पद, ३– कृष्ण की रूप माधुरी सम्बन्धी पद, ४– राधा–कृष्ण के रति सम्बन्धी पद, ५–मुरली सम्बन्धी पद, ६– वियोग श्रृंगार के भ्रमर गीत वाले पद। प्रथम विचार्य है विनय के पद–सुर ने विनय की सम्पूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति सम्बन्धी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता, अहंकार शून्यता, निश्चछलता, सर्वस्व समर्पण, ईश्वर की महत्ता, भक्त की लघुता, दैन्य आदि का निरूपण बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है। इन पदों में सूर ने अपने आराध्य के सम्मुख अपना अन्तर खोल कर रख दिया है। इसमें आत्म निवेदन है। उनके आराध्य पति पावन एवं दीन–बन्धु हैं जिनके समक्ष सूर ने अपने अपराध स्वीकार किये हैं तथा अपने उद्धार की कामना की है। वह एकमात्र भगवद् भक्ति ही चाहते हैं। यथा –

"अपनी भगति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिने रुचि आन।"

उनके विनय के पदों में उनका अपने आराध्य के प्रति दृढ़ विश्वास ही मुखरित हुआ है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा –

"अबकै नाथ मोहिं उधारि। ......
स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के फूल।।"

दूसरे श्री कृष्ण के बाल जीवन सम्बन्धी पदों में सूर की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं। इन पदों में बाल जीवन का ऐसा सहज नैसर्गिक जीवन का जीवान्त चित्र खींचा है उसमें मनोवैज्ञानिकता के साथ–साथ सरसता एवं चित्ताकर्षता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है।

तीसरे रूप माधुरी सम्बन्धी पदों में सूरदास ने अपने इष्टदेव श्री कृष्ण के अपूर्व–सौन्दर्य, लावण्य की ऐसी छवि अंकित की है जिसे सुनकर या पढ़कर उनकी रूप

माधुरी पर हृदय न्यौछावर हो जाता है। **"हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि।"** वाला पद इसके लिये दृष्टांत रूप में पर्याप्त होगा। सूर के इस सौन्दर्य वर्णन ने ही अनेक कृष्ण भक्तों को जन्म दिया। कारण भक्ति का ऐसा अद्‌भुत सौन्दर्य सम्पन्न आलम्बन सूर से पहले किसी और ने नहीं किया।

चौथे श्री कृष्ण–राधा के रति सम्बन्धी पद – सूर ने कृष्ण के साथ ही राधा को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्हें आराध्या के पद पर अधीष्ठित किया है। वह ब्रह्म की आहलादिनी शक्ति है। सूर ने एक ओर राधा को नायिका का स्थान देकर श्रृंगार रस के आलम्बन द्वारा साहित्यिक आदर्श की रक्षा की है तो दूसरी और भक्ति एवं आराधना के लिए एक युगल मूर्ति प्रदान करके धार्मिक आदर्श की भी रक्षा की है।

पांचवे मुरली सम्बन्धी पदों में – सूर ने मुरली के व्यापक प्रभाव को प्रदर्शित किया है। वह केवल मनोमुग्धकारी यन्त्र ही नहीं है वरन् "योग माया" का स्थान उसे प्राप्त है। मुरली का प्रभाव इतना व्यापक है कि उसकी ध्वनि से न केवल जड चेतन स्तम्भित रह गये हैं ग्रह नक्षत्रों ने भी दिशा भुला दी है और तो ध्वनित करने वाला साक्षात ब्रह्म कृष्ण भी इसी के वश में हो गया है। यथा–

"मुरली के बस स्याम भये री।
अधरनि ते नहिं करत निनारी, वाकै रंग रए री।.....
....स्यामहिं निहरि निहरि हमहू कौ, अबही ते या रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुंह पाये, बालति बचन अंनूपं।।"

यह मुरली निरन्तर ब्रह्म के समीप रहती है।

जीवात्मा रूपी गोपियों को ब्रह्म रूपी कृष्ण से मिलाने में सहायक रहती है किन्तु निरन्तर ब्रह्म कृष्ण के पास बनी रहने के कारण ब्रह्म की अनन्य उपासिका गोपियों की ईर्ष्या का विषय बन जाती है। यथा –

"बंसी बैर परी जु हमारे।
अधर पीयूष अंस सबहिनि कौ, इन पायौ सब दिन निज न्यारे।....
सौपेहु सुपति जानि ब्रज कौ पति, सो अपनाइ लियौ रखवारे।
सब दिन सही अनीति सूर प्रभु, श्री गुपाल जिय अपने धारे।।"

तथा –

"मुरली हम कहँ सौत भई।
नेकु न होति अधर ते न्यारी जैसे तृषा डई।.....
.....ऐसी कहुं गई नहिं देखी, जैसी भई नई।
सूर वचन याके टोना से, सुनत मनोज जई।।"

यह मुरली गोपियों के लिय बड़ी उतपाती है। इस प्रकार सूर की मुरली सम्बन्धी उक्तियाँ बड़ी ही मर्म स्पर्शिनी हैं, जिनमें सपत्नी भाव के साथ–साथ उक्ति वैचित्र्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

छठे–वियोग वर्णन के अन्तर्गत भ्रमर गीत सम्बन्धी पदों में सूर की सर्वोत्कृष्ट

भावाभिव्यंजना को देखा जा सकता है। भाव की दृष्टि से सबसे मार्मिक स्थल है यह सूरसागर का। इन पदों में सरसता, वाग्वैदग्ध एवं माधुर्य के साथ–साथ उद्धव सन्देश, गोपियों की झुंझलाहट एवं प्रेमातिरेक, व्यंग्य विनोद एवं हास परिहास, उपालम्भ उदारता, सहज चपलता, विरहोन्माद, वचन वक्रता आदि का आह्लादकारी चित्रण किया है। इस प्रकार सूरदास ने कृष्ण के बाल जीवन से लेकर किशोरावस्था तक की सम्पूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं, व्यापारों आदि का मनोहारी चित्रण करने सूरसागर के रूप में एक अद्भुत काव्य की सृष्टि की है। जिसमें वात्सल्य एवं विप्रलम्भ सम्बन्धी वर्णन सर्वश्रेष्ठ है जो सूर की अलौकिक प्रतिभा, उर्वर कल्पना शक्ति एवं गहन अनुभूति के परिचायक हैं।

प्रकृति–चित्रण – सूर का काव्य वस्तुतः ब्रज की सुरम्य प्रकृति का रमणीक स्थल है इसमें ब्रज की प्रकृति अपने मनोहारी रूप में अपनी रुप माधुरी का परिचय स्थान–स्थान पर दे रही है। उसका मधुर आनन्दोल्लास सूर के अनेकानेक पदों में श्रुतिगोचर है। सुर ने प्रकृति नदी की सुन्दर झांकी अंकित क़रते हुये उसके षट्ऋतुओं के परिवर्तित होने वाले दिव्य सौन्दर्य का सुन्दर निरूपण किया है। यहाँ द्रष्टांत रूप में वसन्त का एक चित्र प्रस्तुत है –

"सदा बसन्त रहत जहं बास, सदा हर्ष जहं नहीं उदास।
कोकिल कीर सदा तहं रोर, सदा रूप मन्मथ चित चोर।
विविध सुमन बन फूले डार, उन्मत्त् मधुकर भ्रमत अपार।'

ऐसी ही शरद ऋतु में भी ब्रज की प्रकृति का अद्भुत सौन्दर्य इनके पदों में सुसज्जित है। शारदीय ज्योत्सना से वन भूमि स्नात है। सरावरों में कमल और कुमुदिनी खिल उठे हैं। आकाश निर्मल है। कुंजों में विविध पुष्प सुरभित हैं। सूर ने शरद ऋतु की दिव्य आभा का निरूपण करते हुए लिखा है –

"आज निसि सोभित सरद जुन्हाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहे रोम रोम सुखदायी।"

अथवा –

"सरद चाँदनी रजनी सोहै वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन, विविध रंग जहं तहं कूजत कोकिल कुंज।।"

वर्षा ऋतु में भी विविध आकृति धारण करने वाली ब्रज प्रकृति की सुरम्य झांकी अंकित है। क्योंकि उस समय वन उपवन हरीतिमा से भर जाते हैं। जलाशय जल से भर जाते हैं। इन्द्र धनुष चमकने लगता है। घटाओं के मध्य वक्र पंक्ति दिखाई देने लगती है। दामिनी दमकती है, पपीहा पी–पी की रट करने लगता है। वर्षा में सावन का महीना तो नई उत्साह, नई आशा, आकांक्षा एवं नया जीवन लेकर आता है। सावन का मनोरम चित्र अंकित करते हुए सूरदास ने कहा है –

"कैसे कि भरिहै री दिन सावन के।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सूनी निसा सिरावन के।

गरज चहूं घन घुमड़ि दामिनी, मदन धनुष धर धावन के।
पहिरि कुसुम सारी कंचुकि तन, झुंडनि झुंडनि गावन के।
सूरदास प्रभु दुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के।।"

ऋतुओं का ही नहीं वरन् सूर ने प्रभात, संध्या, वन–द्रुम–लता, पुष्प, यमुना–चन्द्रमा, उषा आदि का बड़ा ही सुन्दर सरस चित्रण किया है। सूर ने अपने काव्य में सर्वत्र प्रकृति के सुरम्य रूप की ही झांकी नहीं खींची वरन् प्रकृति के भयंकर रूप का भी चित्र बनाया है। दावानल वर्णन में प्रकृति का भयावह रूप दृष्टिगत होता है उदाहरण प्रस्तुत है –

"झहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुं ओर कीर सोर अंदोर वन, धरनि, आकास चहुं पास छायौ।
बरत बन बाँस थरहरत कुस काँस जरि उड़त है माँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटि लपट फूल कूल चट चटकि फटत लट लटकि द्रुम दल नवायौ।"

इस प्रकार सूर के प्रकृति चित्रण में सुरम्य एवं भयानक दोनों रूपों की झांकियाँ अंकित हैं। सूर के प्रकृति चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर के आराध्य देव निरन्तर प्रकृति में ही विहार करते हैं उसी में रमें रहते हैं, वृन्दावन में गौवें चराते हैं। गोवर्द्धन धारण करते हैं तथा कुंजों में विहार करते हैं। सूर के सभी पात्र प्रकृतिमय हो गये हैं। दूसरी विशिष्टता यह है कि सूर ने शास्त्रीय दृष्टि से प्रकृति से उद्दीपन रूप को ही अधिक अपनाया है। इनके पदों में सर्वत्र ही प्रकृति सूर के पात्रों के अनुभावों को उद्दीप्त करती दिखाई पड़ती है। शारदीय चन्द्रिका कामो द्दीपन करती हुई विरहिनी गोप बालाओं को जलाती हुई दिखाई देती है। चातक और कोकिल पीड़ा पहुंचाते हैं। एक उदाहरण प्रकृति के उद्दीपन रूप का –

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजे।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।।"

प्रस्तुत है।

तीसरी विशेषता यह है कि सूर साहित्य में प्रकृति संवेदनशील होकर आई है यथा गोपियों के विरह में यमुना भी काली दिखती है। इतना ही नहीं वह कृशकाय हो गई है। यथा –

"लखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई विरह जुर जारी।
गिरि पर्यक ते गिरति धरनि धंसि तरंग तलफ तन भारी
तट बारु, उपचार चूर जल पूर प्रसेद पनारी।।"

ब्रज की सभी ऋतुएं कुछ की कुछ हो गई हैं।

चौथे आलंकारिक रूप में प्रकृति का प्रयोग सूर ने अधिक किया है। उपमा, रूपक, रूपकतिशयोक्ति, मानवीकरण, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में प्रकृति के विविध पदार्थों का प्रयोग सूर ने किया है। "अद्‌भुत एक अनुपम बाग" वाले पद में सूर ने रूपकातिशयोक्ति का अद्‌भुत चमत्कार दिखाया है।

पाँचवीं विशेषता यह है कि सूर का प्रकृति चित्रण सांस्कृतिक परम्परा का भी परिचायक है। ब्रज की प्रकृति का सूक्ष्मातिम सूक्ष्म व्यापारों, चेष्टाओं एवं पदार्थों का वर्णन करते हुए सूर ने ब्रज की सांस्कृतिक महत्ता का भी निरूपम किया है। जिससे अनायास ही यमुना, गोवर्द्धन, वृन्दावन, मधुवन आदि के प्रति हमारे हृदय मे अटूट श्रद्धा जाग्रत हो जाती है। ब्रज की रमणीय प्रकृति में एक पावन पुनीत भावना विद्यमान दिखती है।

छठीं बात विशेषता यह है कि सूर का प्रकृति वर्णन विविधता एवं सौन्दर्य प्रियता के लिये प्रसिद्ध हैं। उसमें भावना को जाग्रत करने की अपूर्व क्षमता है।

इतना होने पर भी सूर के प्रकृति चित्रण के कतिपय दोष भी है – यथा यमुना में कमल का खिलना तथ उनमें भ्रमर गुंजार, तथा शरदकाल में कोयल का कूजन। अपने इष्ट देव के अलौकिक कार्यों की ओर संकेत करने के लिये सूर ने भी गोवर्द्धन पर्वत को श्री कृष्ण द्वारा अंगुली पर उठाते हुये लिखा है तथा उन्हें कृष्ण को दावानल का पान करते हुये दिखाया है। बालक कृष्ण द्वारा अंगूठा पान करते समय **"बिडरि चले घन प्रलय जानि कै दिग पनि दिग दंतियन सकेलत।"** कहकर सूर ने प्रलय की स्थिति का चित्र खींचा है। जो हास्यास्पद जान पडता है। परन्तु ये सभी वर्णन सूर की अनन्य भक्ति एवं इष्टदेव की महत्ता के परिचायक होने के कारण दोषपूर्ण होकर भी सरस एवं आकर्षक है।

भाव एवं रस निरूपण – सूर सागर प्रधान काव्य है। इसमें कहीं प्रेम, कहीं असूया, कहीं ईर्ष्या, कहीं वितर्क, कहीं क्षोम, कहीं स्पर्धा, क्रोध, उत्साह, रति–काम तथा कहीं हास–परिहास, व्यंग–विनोद, शोक, विस्मय, जुगुप्सा, भय आदि भावों की सुन्दर व्जयंना हुई है। सूर के पद सहृदयता, सरसता एवं भावुकता के भण्डार हैं। जिनमें विविध भावों एवं रसों की सुन्दर सजीव झांकियाँ मिलती हैं। प्रेम की आतुरता एवं तन्मयता के रमणीय चित्र सूर के पदों में उपलब्ध हैं। श्री कृष्ण के अनन्य प्रेम के अनुरक्त गोपियों की मनोदशा के चित्रण में सूर ने प्रेम भाव की विविध झांकियाँ अंकित की हैं। श्री कृष्ण के रूप सौन्दर्य पर अपना मन न्यौछावर कर देने वालों एक प्रेमासक्त गोपी की स्थिति का चित्रण करते हुए सूर ने प्रेम भाव की रसमयी व्यंजना की है।

"मेरो मन गोपाल हर्‌या री।
चितवत ही उर पैंठि नैन मग ना जानौं धौं कहा कर्‌यो री।
मात पिता पति बन्धु सजन जन, सखि आंगन सब भवन भर्‌यो री।
लोक वेद प्रतिहार–पहरुव निहू पै राख्यौ न पर्‌यो री।

इतना ही नहीं कृष्ण प्रेम में लीन गोपियों के प्रेम में गहनता। गुरूता एवं महत्ता का बड़ा ही सजीव निरूपण सूरदास ने किया है – कृष्ण की विरहानुभूमि में लीन गोपियाँ व्यथित हैं, उनका उत्कप्ट प्रेम गुरुता – गम्भीरता के साथ निम्न पद में चित्रित है –

"हम अलि गोकुल नाथ आराध्यो।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम जोग तप साध्यो।" प्रेम

इसके अतिरिक्त सूर ने अन्य भावों का चित्रण भी बड़ी तत्परता के साथ किया है। कृष्ण के बाल वर्णन में "स्पर्धा" नामक मनोभाव का चित्रण देखिये।

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूं है छोटी।
तू जो कहति बल की बेरी ज्यों ह्वै हैं लाम्बी मोटी।

क्षोम नामक मनोभाव का दृश्य प्रस्तुत है –

"खेलत में को काको गुसैंया।
हरि हारे जीते श्रीं दामा बरबस ही कत करत रिसैयां।
जाति पाँति हम ते बड़ नाहीं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।।
अति अधिकार जनावत दाते, अधिक तुम्हारे है – कछु गैया।।"

निम्न पंक्ति में यशोदा का दुःख मिश्रित क्रोध व्यंजित है। यथा –

"छाड़ि सनेह चले मथुरा कत, दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई बज्र सी छाती कत या सूल सह्यो।।"

इतना ही नहीं दैन्य मिश्रित क्षोभ एवं उदासीनता की झांकी अंकित करते हुये सूर ने यशोदा की मनोदशा का कितना भावपूर्ण चित्र खींचा है।

"संदेसो देवकी सों कहियों।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।"

सूर के पदों में असूया, स्मृति, चिन्ता, वितर्क, ग्लानि, शोक, औसुत्य, विषाद, आवेग, जड़ता आदि के अनेक चित्र भरे पड़े हैं। असूया भाव का एक चित्र दृष्टव्य है –

"मुरली तऊ गोपलहिं भावति।
सुनरी सखी जदपि नंद नंदहि नाना भाँति नचावति।"

ऐसे ही गोपियों की मनोदशा का रूपांकन करते हुये स्मृति नामक भाव का निरूपण इस प्रकार किया है –

"एहि बिरिया बन ते ब्रज आवति।
दूरहिं ते वा बेनु अधर धरि बारम्बार बजावति।।"

इसी प्रकार सूर ने अनेक भावों का चित्रण बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। भावों के चित्रण के साथ ही सूर साहित्य में रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। जिनमें सूरदास का कला चातुर्य प्रदर्शित है।

संयोग श्रृंगार –

"राधा रुचि रुचि सेज संवारति।
तापर सुमन सुगन्ध बिछावति बारम्बार निहारति।
भवन गवन करि हैं हरि मेरे हरषि दुखहिं निरुवारति।
आवै कबहुं अचानक ही कहं सुभग पांवड़े डारति।
इहि अभिलाषहिं मैं हरि प्रगटे निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ को "सूर" उनहिं जिय जानी।।"

वियोग श्रृंगार –

"पिया बिनु नागिन कारी रात।......
..... सूर स्याम बिनु विकल विरहिणी मुरि मुरि लहरें खात।"

हास्य रस – "मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो" वाला पद हास्य का अच्छा उदाहरण है।

करुण रस –

"पटकत बाँस काँस कुस लटकत लटकत ताल तमाल। .....
हरिन बराइ मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल।।"

रौद्र रस –

"प्रथमहिं देऊ गिरिहिं बहाई।
वज्र घातनि करौं चुरकुट देडं धरनि मिलाई।
....
रस सहित ब्रजराज लीन्ह प्रलय मेघ बुलाइ।
सुर सुरपति कहत पुनि पुनि परौं ब्रज पर आई।"

वीर रस –

"आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊ।
तौ लाजौ गंगा जननी को सांतनु सुत न कहाऊं।
स्यंदन खंड महरथि खंडौ कपि ध्वज सहित गिराऊं।
पांडव दल सन्मुख ह्वै धाऊं सरिता रुधिर बहाऊं।"

भयानक रस –

"झहरात झहंरात दावानल आयौ।
घेरि चहुं ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुं पास छायौ।
बरत वन बाँस थरहरत कुस कांस जरि उडत है मांस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटति लपट फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि द्रुम दल नवायौ।।"

वीभत्स रस –

"आप कहाँ ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरह रांड।
जेहिं छन करत कलोल संग रति गिरधर अपनी चाड़।।
काटत है पर जंक ताहि छिन कैंधौ खोदत खांड।
किंधौ सदा विपरीत रचत है ....
सूर सयाने भये हरि बंधत माँस खाइ गल झाड़।।"

अद्भुत रस –

"मथत दधि मथनी टेकि खर्‌यो।
आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्‌यो।
मन्दर दुख सिन्धु पुनि कांपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहौ मथानी विधि मरजाद टरै।
सुर अरि सुर ठाढ़े सब चितवै नैनन नीर ढरै।
सूरदास प्रभु मुग्ध जसोदा, मुख दधि बिन्दु गिरै।"

शान्त रस –

"चरन कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौ सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौ तेहि पाई।।"

वात्सल्य रस –

*"किलकत कान्ह घुटुरुवनि धावति।
मनिमय कनक नंद के आंगन, बिम्म पकरिबे धावत।
कवहु निरखि हरि आपु छाँह कौ, कर के पकरन चाहत।
किलहि हंसति राजत द्वैतृतियां पुनि पुनि तेहि अवगाहत।"*

सारांशत – सूरदास विविध मनोवैज्ञानिक चित्रों के साथ साथ रसों का बड़ा ह सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। सूर की उद्भावना शक्ति बड़ी प्रखर दिखाई देती है। इसीलिये सूर ने एक ही पदार्थ एवं एक ही विषय पर अनेकानेक गीतों की रचना की है और उन सभी गीतों में सुन्दर भावों की सृष्टि करते हुये अपनी नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा द्वारा विविध रसों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। वस्तुतः सूर से सभी रसों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, परन्तु वात्सल्य एवं विप्रलम्भ श्रृंगार का पूर्ण रसोत्कर्ष हुआ है। वात्सल्य रस के वर्णन में तो सूर हिन्दी साहित्य के अद्वितीय कवि हैं। क्योंकि अपनी वर्णन क्षमता द्वारा वात्सल्य भाव को सूर ने रस की कोटि तक पहुंचा दिया है। सूर के भाव–रस निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें उक्ति वैचित्र्य एवं वाग्विदग्धता है। इसी कारण **आचार्य शुक्ल** ने लिखा है कि – *"सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है उतनी ही वाग्विदग्धता भी"* – **भ्रमर गीत सार (भूमिका) पं० ३८१।** निस्सन्देह सूर के भ्रमर गीत सम्बन्धी पद भावुकता के साथ ही वाग्वैदग्ध्य गुण से परिपूर्ण हैं। वियोग श्रृंगार का वर्णन तो बड़ा प्रभावपूर्ण है इसके वर्णन में सूर की वाणी की चातुरी एवं वक्रता, विदग्धता का स्पष्ट परिचय मिलता है। वस्तुतः सूर भावों के सम्राट हैं, मनोभावों के पारखी हैं। विविध रसों में मर्मज्ञ हैं। इसीलिये सूर का प्रत्येक पद सरलता स्वाभाविकता के साथ ही रसास्वादन एवं चमत्कार वादिता से ओतप्रोत है। उसमें भारतीय जीवन रस का स्रोत उमड पड़ता दिख रहा है।

अलंकार योजना – अलंकार काव्य का शोभाकर धर्म है। रूप सज्जा एवं वेशविन्यास के भीतर अलंकार अपना अनुपम स्थान रखते हैं। परन्तु उनका प्रयोग अपने स्थान पर ही होना चाहिए। औचित्य की सीमा का उल्लंघन विकृति उत्पन्न करता है। वस्तुतः कविता में अलंकार किसी अवयव की पूर्ति एवं उद्दीप्त के लिये ही प्रयुक्त होना चाहिये।

महाकवि सूरदास ने अपनी रचनाओं में अलंकार का प्रयोग केवल अलंकार के लिये ही नहीं किया अपितु सहृदयता पूर्वक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया गया है। सूरसागर में तो, जिसकी कथावस्तु सूक्ष्म है, उसे विस्तार देने के लिये अनिवार्यतः सहायक सिद्ध हुआ है। परन्तु सूर अलंकारों के घटाटोप में नहीं पड़े। वरन् उनके अलंकार अत्यन्त स्पष्ट और

हास्य रस – *"मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो"* वाला पद हास्य का अच्छा उदाहरण है।

करुण रस –

"पटकत बाँस काँस कुस लटकत लटकत ताल तमाल। .....
हरिन बराइ मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल।।"

रौद्र रस –

"प्रथमहिं देऊ गिरिहिं बहाई।
वज्र घातनि करौं चुरकुट देडं धरनि मिलाई।
....
रस सहित ब्रजराज लीन्ह प्रलय मेघ बुलाइ।
सुर सुरपति कहत पुनि पुनि परौं ब्रज पर आई।"

वीर रस –

"आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊ।
तौ लाजौ गंगा जननी को सांतनु सुत न कहाऊं।
स्यंदन खंड महरथि खंडौ कपि ध्वज सहित गिराऊं।
पांडव दल सन्मुख ह्वै धाऊं सरिता रुधिर बहाऊं।"

भयानक रस –

"झहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुं ओर करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुं पास छायौ।
बरत वन बाँस थरहरत कुस कांस जरि उडत है मांस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटति लपट फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि द्रुम दल नवायौ।।"

वीभत्स रस –

"आप कहाँ ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरह रांड।
जेहिं छन करत कलोल संग रति गिरधर अपनी चाड़।।
काटत है पर जंक ताहि छिन कैंधौ खोदत खांड।
किंधौ सदा विपरीत रचत है ....
सूर सयाने भये हरि बंधत माँस खाइ गल झाड़।।"

अद्भुत रस –

"मथत दधि मथनी टेकि खर्‍यो।
आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्‍यो।
मन्दर दुख सिन्धु पुनि कांपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहौ मथानी विधि मरजाद टरै।
सुर अरि सुर ठाढ़े सब चितवै नैनन नीर ढरै।
सूरदास प्रभु मुग्ध जसोदा, मुख दधि बिन्दु गिरै।"

शान्त रस –

"चरन कमल बन्दौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौ सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौ तेहि पाई।।"

वात्सल्य रस –

"किलकत कान्ह घुटुरुवनि धावति।
मनिमय कनक नंद के आंगन, बिम्म पकरिबे धावत।
कबहु निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर के पकरन चाहत।
किलहि हंसति राजत द्वैतृतियां पुनि पुनि तेहि अवगाहत।"

सारांशत – सूरदास विविध मनोवैज्ञानिक चित्रों के साथ साथ रसों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। सूर की उद्भावना शक्ति बड़ी प्रखर दिखाई देती है। इसीलिये सूर ने एक ही पदार्थ एवं एक ही विषय पर अनेकानेक गीतों की रचना की है और उन सभी गीतों में सुन्दर भावों की सृष्टि करते हुये अपनी नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा द्वारा विविध रसों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। वस्तुतः सूर से सभी रसों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, परन्तु वात्सल्य एवं विप्रलम्भ श्रृंगार का पूर्ण रसोत्कर्ष हुआ है। वात्सल्य रस के वर्णन में तो सूर हिन्दी साहित्य के अद्वितीय कवि हैं। क्योंकि अपनी वर्णन क्षमता द्वारा वात्सल्य भाव को सूर ने रस की कोटि तक पहुंचा दिया है। सूर के भाव–रस निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें उक्ति वैचिंत्र्य एवं वाग्विदग्धता है। इसी कारण **आचार्य शुक्ल** ने लिखा है कि – *"सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है उतनी ही वाग्विदग्धता भी"* – **भ्रमर गीत सार (भूमिका) पं० ३८१।** निस्सन्देह सूर के भ्रमर गीत सम्बन्धी पद भावुकता के साथ ही वाग्वैदग्ध्य गुण से परिपूर्ण हैं। वियोग श्रृंगार का वर्णन तो बड़ा प्रभावपूर्ण है इसके वर्णन में सूर की वाणी की चातुरी एवं वक्रता, विदग्धता का स्पष्ट परिचय मिलता है। वस्तुतः सूर भावों के सम्राट हैं, मनोभावों के पारखी हैं। विविध रसों में मर्मज्ञ हैं। इसीलिये सूर का प्रत्येक पद सरलता स्वाभाविकता के साथ ही रसास्वादन एवं चमत्कार वादिता से ओतप्रोत है। उसमें भारतीय जीवन रस का स्रोत उमड पड़ता दिख रहा है।

अलंकार योजना – अलंकार काव्य का शोभाकर धर्म है। रूप सज्जा एवं वेशविन्यास के भीतर अलंकार अपना अनुपम स्थान रखते हैं। परन्तु उनका प्रयोग अपने स्थान पर ही होना चाहिए। औचित्य की सीमा का उल्लंघन विकृति उत्पन्न करता है। वस्तुतः कविता में अलंकार किसी अवयव की पूर्ति एवं उद्दीप्त के लिये ही प्रयुक्त होना चाहिये।

महाकवि सूरदास ने अपनी रचनाओं में अलंकार का प्रयोग केवल अलंकार के लिये ही नहीं किया अपितु सहृदयता पूर्वक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया गया है। सूरसागर में तो, जिसकी कथावस्तु सूक्ष्म है, उसे विस्तार देने के लिये अनिवार्यतः सहायक सिद्ध हुआ है। परन्तु सूर अलंकारों के घटांटोप में नहीं पड़े। वरन् उनके अलंकार अत्यन्त स्पष्ट और

गिने गिनाये हैं। सूरदास ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, आदि अलंकारों के प्रति अपना विशेष प्रेम प्रकट किया है। अन्य अलंकार भी सूर की रचना में प्रयुक्त हैं, परन्तु प्रधानता इन्हीं अलंकारों की है।

कोमलकांत पदावली के साथ अनुप्रास की छटा स्वयमेव हो जाती है। सूरदास को अनुप्रास लाने की चेष्टा नहीं करना पड़ा। जिस प्रकार परवर्ती कवि अनुप्रास के आकर्षण पाश में बंधकर जकड़ गये, और अपनी रचना को शब्दाडम्बर से आच्छादित कर भावों की निर्जीव मूर्ति खड़ी करते रहे, उस प्रकार सूर जैसा भावना जगत का कुशल चित्रकार कैसे कर सकता था। सूर के अलंकारों ने उनके काव्य का देशविन्यास एवं भाव–लालित्य की वृद्धि ही किया है।

सूरदास की रचनाओं के कतिपय अलंकार उदाहरणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत हैं–

शब्दालंकार – अनुप्रास के सभी भेद इनके साहित्य में सुलभ हैं एक उदाहरण छेकानुप्रास है। द्रष्टव्य है – "चपला अति चमचमात, ब्रज जन सब अति डेरान।"

वृत्यानुप्रास – *"कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिये"।*

श्रुत्यानुप्रास – *"ऐसे हम देखे नन्द नन्दन।*
स्याम सुगम तनु पीत बसन जनु मनहुं जलद पर तड़ित सुछन्दन।।"

लाटानुप्रास – *"कमल नयन के कमल बदन पर वारिज वरिज वारि।।"*

यमक – *"सारंग विनय करत सारंग सों सारंग दुख बिसरावहु।।"*

श्लेष – *"दुहू फूल तरुनी मिली तरत न लागी बार"* तरुनी–स्त्री–तरणि–नाव

वक्रोक्ति – *"ऐसी वस्तु अनुपम मधुकर मरमन न जानै और"* – **अर्थालंकार**

उपमा – *"हरिदरसन की साध मुई।*
उड़िये उड़ी फिरति नैननि संग फर फूटै ज्यों आक रुई।।"

उपमा के अन्य भेद लुप्तोपमा, भालोपमा, ललितोपमा के द्रष्टान्त सहज ही सूर काव्य में देखे जा सकते हैं।

सांगरूपक – *"नीर अतिगंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।*
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।।"

रूपकातिश्योक्ति – *"अद्भुत एक अनुपम बाग।*
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।।"

प्रतीप – *"देखि सखी अधरन की लाली।*
मनि मकरत ते सुमग कलेवर ऐसे है वनमाली।।"

उत्प्रेक्षा – सूर की उत्प्रक्षायें हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तो मालौ–उपमा की भांति उत्प्रेक्षा की भी माला तैयार कर दी है। यथा –

मालोत्प्रेक्षा –*"रसना जुगल रस निधि बोल।*
कनक बेलि तमाल अरुझी सुभुज बन्धन खोल।
भृंग यूथ सुधाकरनि मानों धन में आवत जात।

सुरसरी पर तरनि तनया उमंगि तट न समात।
कोक नद पर तरनि तांडव मीन खंजन संग।
करति लाजै सिरवर मिलिकै युग्म संगम रंग।
जलद ते तारा गिरत मानों परत पयनिधि मांहि।
युग भुजंग प्रसन्न मुख है कनक घन लपटाहि।।

इसी प्रकार वस्तुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, तथा हेतुत्प्रेक्षा के उदाहरण सूर साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। फलोत्प्रेक्षा का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"नासा कीर आई मनों बैठ्यो लेत बनत नहिं ताक्यो।

व्यतिरेक – *"देखि री हरि के चंचल नैन।*
राजिवदल, इन्दीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं ऐ बिगसत ऐ बिगसत दिन राति।।"

सन्देह – *"कींधो तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुगफल बिम्ब सुपाक्यो"*

विभावना – *"मुरली सुनत अचल चले।*
थकेचर, जल झरत पाहन, विफल वृक्ष फरे।।"

यथासंख्य – *"भुज भुजंग सरोज नयननि बदन विभु जित्यौ लरनि।*
रहे विवरन सलिल नभ उपमा ऊपर दुरि डरनि।।"

इस प्रकार अनेकानेक अलंकार सूर साहित्य में स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त हुये हैं। सूर की अलंकार योजना भावोत्कर्ष के साथ–साथ काव्योत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकारों की योजना करके सूर ने काव्य की रमणीयता एवं सौन्दर्यानुभूति की गहनता का परिचय दिया है। सूर के सभी अलंकार भाषा को बोझिल न करके भावाभिव्यक्ति में सुन्दरता के साथ सहायक हुये हैं।

भाषा – सूरदास ब्रजभाषा के कवि हैं। उन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है। चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम सर्वोच्च रचना सूर की ही उपलब्ध होती है कोमलकान्त पदावली के साथ सूर की ब्रजभाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, जीवन्त एवं भावानुकूल बन पड़ी है। उनकी भाषा में किसी प्रकार का भी आडम्बर नहीं है। व्यवहारिक अन्तस्थल का सौन्दर्य खींच देने वाली है। सूर की ब्रजभाषा एवं उसके शब्द भंडार पर ध्यान दें तो ज्ञात होता है कि इनमें संस्कृत, फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, बुन्देलखण्डी आदि के शब्द प्रयुक्त हुये हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके सूर ने ब्रजभाषा को उत्तराखण्ड की ही नहीं, समस्त भारतवर्ष की भाषा बना दिया है। वैष्णव धर्म की सन्देश वाहिनी बनकर वह एक ओर तो बंग, गुजरात एवं महाराष्ट्र में समाहित हुई तो दूसरी ओर अपनी कोमलता के कारण वह अवध, बिहार तथा पंजाब में और दक्षिणा पथ के कवियों का कंठहार बनी।

संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त सूर की भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"गिरिधर, वज्रधर, माधव, मुरलीधर, पीताम्बरधर।
संख चक्रधर, गदा पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर सुधाकर।

गिने गिनाये हैं। सूरदास ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, आदि अलंकारों के प्रति अपना विशेष प्रेम प्रकट किया है। अन्य अलंकार भी सूर की रचना में प्रयुक्त हैं, परन्तु प्रधानता इन्हीं अलंकारों की है।

कोमलकांत पदावली के साथ अनुप्रास की छटा स्वयमेव हो जाती है। सूरदास को अनुप्रास लाने की चेष्टा नहीं करना पड़ा। जिस प्रकार परवर्ती कवि अनुप्रास के आकर्षण पाश में बंधकर जकड़ गये, और अपनी रचना को शब्दाडम्बर से आच्छादित कर भावों की निर्जीव मूर्ति खड़ी करते रहे, उस प्रकार सूर जैसा भावना जगत का कुशल चित्रकार कैसे कर सकता था। सूर के अलंकारों ने उनके काव्य का देशविन्यास एवं भाव–लालित्य की वृद्धि ही किया है।

सूरदास की रचनाओं के कतिपय अलंकार उदाहरणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत हैं–

शब्दालंकार – अनुप्रास के सभी भेद इनके साहित्य में सुलभ हैं एक उदाहरण छेकानुप्रास है। द्रष्टव्य है – "चपला अति चमचमात, ब्रज जन सब अति डेरान।"

वृत्यानुप्रास – *"कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिये"।*

श्रुत्यानुप्रास – *"ऐसे हम देखे नन्द नन्दन।*
स्याम सुगम तनु पीत बसन जनु मनहुं जलद पर तड़ित सुछन्दन।।"

लाटानुप्रास – *"कमल नयन के कमल बदन पर वारिज वरिज वारि।।"*

यमक – *"सारंग विनय करत सारंग सों सारंग दुख बिसरावहु।।"*

श्लेष – *"दुहू फूल तरुनी मिली तरत न लागी बार"* तरुनी–स्त्री–तरणि–नाव

वक्रोक्ति – *"ऐसी वस्तु अनुपम मधुकर मरमन न जानै और"* – अर्थालंकार

उपमा – *"हरिदरसन की साध मुई।*
उड़िये उड़ी फिरति नैननि संग फर फूटै ज्यों आक रुई।।"

उपमा के अन्य भेद लुप्तोपमा, भालोपमा, ललितोपमा के द्रष्टान्त सहज ही सूर काव्य में देखे जा सकते हैं।

सांगरूपक – ***"नीर अतिगंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।***
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।।"

रूपकातिशयोक्ति – ***"अद्‌भुत एक अनुपम बाग।***
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।।"

प्रतीप – ***"देखि सखी अधरन की लाली।***
मनि मकरत ते सुमग कलेवर ऐसे है वनमाली।।"

उत्प्रेक्षा – सूर की उत्प्रक्षायें हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तो मालौ–उपमा की भांति उत्प्रेक्षा की भी माला तैयार कर दी है। यथा –

मालोत्प्रेक्षा –***"रसना जुगल रस निधि बोल।***
कनक बेलि तमाल अरुझी सुभुज बन्धन खोल।
भृंग यूथ सुधाकरनि मानों धन में आवत जात।

सुरसरी पर तरनि तनया उमंगि तट न समात।
कोक नद पर तरनि तांडव मीन खंजन संग।
करति लाजै सिरवर मिलिकै युग्म संगम रंग।
जलद ते तारा गिरत मानों परत पयनिधि मांहि।
युग भुजंग प्रसन्न मुख है कनक घन लपटाहि।।

इसी प्रकार वस्तुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, तथा हेतुत्प्रेक्षा के उदाहरण सूर साहित्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। फलोत्प्रेक्षा का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"नासा कीर आई मनों बैठ्यो लेत बनत नहिं ताक्यो।

व्यतिरेक – *"देखि री हरि के चंचल नैन।*
राजिवदल, इन्दीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं ऐ बिगसत ऐ बिगसत दिन राति।।"

सन्देह – *"कींधो तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुगफल बिम्ब सुपाक्यो"*

विभावना – *"मुरली सुनत अचल चले।*
थकेचर, जल झरत पाहन, विफल वृक्ष फरे।।"

यथासंख्य – *"भुज भुजंग सरोज नयननि बदन विभु जित्यौ लरनि।*
रहे विवरन सलिल नभ उपमा ऊपर दुरि डरनि।।"

इस प्रकार अनेकानेक अलंकार सूर साहित्य में स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त हुये हैं। सूर की अलंकार योजना भावोत्कर्ष के साथ–साथ काव्योत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुई हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकारों की योजना करके सूर ने काव्य की रमणीयता एवं सौन्दर्यानुभूति की गहनता का परिचय दिया है। सूर के सभी अलंकार भाषा को बोझिल न करके भावाभिव्यक्ति में सुन्दरता के साथ सहायक हुये हैं।

भाषा – सूरदास ब्रजभाषा के कवि हैं। उन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है। चलती हुई ब्रजभाषा में सर्वप्रथम सर्वोच्च रचना सूर की ही उपलब्ध होती है कोमलकान्त पदावली के साथ सूर की ब्रजभाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, जीवन्त एवं भावानुकूल बन पड़ी है। उनकी भाषा में किसी प्रकार का भी आडम्बर नहीं है। व्यवहारिक अन्तस्थल का सौन्दर्य खींच देने वाली है। सूर की ब्रजभाषा एवं उसके शब्द भंडार पर ध्यान दें तो ज्ञात होता है कि इनमें संस्कृत, फारसी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, बुन्देलखण्डी आदि के शब्द प्रयुक्त हुये हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करके सूर ने ब्रजभाषा को उत्तराखण्ड की ही नहीं, समस्त भारतवर्ष की भाषा बना दिया है। वैष्णव धर्म की सन्देश वाहिनी बनकर वह एक ओर तो बंग, गुजरात एवं महाराष्ट्र में समाहित हुई तो दूसरी ओर अपनी कोमलता के कारण वह अवध, बिहार तथा पंजाब में और दक्षिणा पथ के कवियों का कंठहार बनी।

संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त सूर की भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"गिरिधर, वज्रधर, माधव, मुरलीधर, पीताम्बरधर।
संख चक्रधर, गदा पद्मधर, सीस मुकुटधर, अधर सुधाकर।

कंबु कंटधर कौस्तुभ मणिधर, वनमालाधर, मुक्तमाल धर।
सूरदास प्रभु गोप वेशधर, कालीफन पर चरन कमल धर।"

फारसी – जवाब, सजैया, बख्शौ, मवास, जहाज, सरताज, बज, नाहक आदि।

अवधी – खोइस, सोइस, इहवां मोर, तोर हमार, कीन, जिनि आदि अवधी शब्दों का प्रयोग सूर से किया है।

पंजाबी के प्यारी मूल्यवान, गुजराती के ढियो, बुन्देलखण्डी के गहिबो, साहिबी, प्राकृत के सायर आदि शब्दों का भी प्रयोग सूर साहित्य में पाया जाता है। फारसी आदि शब्दों में सूर ने उनके तत्सम रूप का नहीं उसके तद्भव रूप का प्रयोग किया है। जिससे भाषा में अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। एक दो इधर–उधर के शब्दों को छोड़ सूर ने सर्वत्र प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है। कहीं–कहीं तुकान्त के लिय अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल रखने की आवश्यकता से प्रेरित होकर सूर ने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है। जैसे पंगु को पंग, नवनीत को लवनी, गो को गइया, वर्ष को बरीस आदि परन्तु ऐसा तुलसी आदि सभी कवियों ने किया है।

प्रवाहमयी भाषा – सूर की भाषा प्रवाहमयी है। सूर को शब्दों के प्रयोग सोचने नहीं पड़ते। वे स्वतः आ जाते हैं। परिणामतः वर्णन में वेग और प्रवाह भर देते हैं। निम्नांकित पद में अपने प्रांजल रूप में प्रकट हुआ है। भाषा द्रुत गति के साथ आगे बढ़ती है। यथा–

"भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुं ओर, कीर सोर अंदोर बल धरनि आकास चहुं पास छायौ।
बरत बन बाँस, थहरात कुस कांस जरि उड़त है मांस अति प्रबल धायौ।....
......बरत बन पात महरात, झहरात, अरात तरु महाधरनी गिरायौ।।"

सजीव भाषा – सूर की भाषा में प्रयुक्त ध्वन्यात्मक शब्द मुहावरे, लोकोक्तियाँ भाषा को सजीवता प्रदान करती हैं। इसके प्रयाग से कथावस्तु एवं विचार सप्राण हो उठते हैं। यथा – मुहावरों के प्रयोग के उदाहरण –

"हम तन मन दै हाथ बिकानी", "कहन लगी अब बढ़ि–बढ़ि बात", "बहुतै मूंड़ चढ़ायौ", "जीवन मुंह चाहो को नीको", "खेलन अब मेरी जात बलैया", "तुम चाहति हो गगन तरैया, मांगे कैसे पावहु।"

निम्नांकित पंक्तियाँ ध्वनि के कारण स्वतः बोल रही है।

"चपला चमचमाति चमकत नभ भहरात राखिलै क्यों न ब्रजनन्द तात।
तरपत नभ डरपत ब्रज लोग।।"

गुण – ओज माधुर्य एवं प्रसाद गुण में सुर की भाषा में अधिकांशतः प्रसाद एवं माधुर्य गुण विद्यमान है। तथा शब्द शक्तियों में – अनिद्या लक्षणा व्यजंना तीनों शक्तियों का प्रयोग सूर की कविता में मिलता है। भावपूर्ण स्थलों पर सूर ने सरल सुबोध भाषा का प्रयोग करते हुए अनिद्या शक्ति को अपनाया है। यथा – "जा दिन मन पंछी उडि जइहै", "आंगन खेलत घुटुरुवन धाये" जसुमति मन अभिलाष करै आदि।

वाग्वैदग्ध्य एवं वाग्वैचित्र्य की सृष्टि में सूरदास ने लक्षणा शक्ति को अपनाया है। इन पदों में लक्ष्यार्थ का प्राधान्य है और भावाभिव्यजंना प्रणाली भी स्निग्ध सशक्त सरस

सुकुमारता से परिपूर्ण है। यथा– "आस जनि तोरहु स्याम हमारी।". "नैना नैनन मांझ समाने" "काटे ऊपर लोन लगावत।" "पिया बिन नागिन कारी रात।" इन पदों में लक्षणा द्वारा अद्भुत काव्य कौशल के साथ सूर ने भाषा सौष्ठव की सृष्टि की है।

इसी प्रकार व्यंजना शक्ति के सहारे सूर ने अपने काव्य में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न किया है जिससे सूर काव्य में प्रभावोत्पादकता एवं मार्मिकता अधिक बढ़ गई है। व्यंजना प्रधान पदो में व्यंगार्थ का प्राधान्य है। जहाँ सीधी सादी बात द्वारा भी किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत किया जाता है। सूर का समस्त भ्रमर गीत व्यंजना शक्ति का उदाहरण है। यथा– "भूलिहु जनि आवहुं इहि गोकुल तपति तरनि ज्यों चन्द्र" अथवा – "कीधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।" आदि।

चित्रमयता – व्यंगार्थ के साथ–साथ सूर की चित्रमयता भी दर्शनीय है। सूर ने जिस दृष्य का ही वर्णन किया है उसका चित्र सा खड़ा कर दिया है। सूर सागर में ऐसे दृश्य भाव चित्र भरे पड़े हैं। यथा –

(१) "नटवर भेष धरे ब्रज आवत,
मोर मुकुट मकराकृति कुण्डल – कुटिल अलक मुख पर छवि छावत।।"
(२) "देखि मैं लोचन चुवत अचेत।
द्वार खड़ी इक टक मग जोवत अरध स्वाँस न लेत।।"

चित्रमयता कविता का प्राण है। सामान्य रूप से किसी बात को कह देने से वह प्रभाव नहीं पड़ता तो उसके चित्र रूप में उपस्थित कर देने से पड़ता है। उपर्युक्त उदाहरण इसके प्रमाण है।

संगीतात्मकता – सूर का प्रत्येक पद गीतात्मक है, अनेक राग रागनियों से पूर्ण सूर के पदों में संगीत का अद्भुत गुण है। विनय के पद हों या वात्सल्य के सभी संगीत के गुण से ओत–प्रोत हैं।

शैली – गीत काव्य सूर का समग्र साहित्य गीति काव्य का उदाहरण है। गीति शैली आत्माभिव्यंजन का अतीव उत्कृष्ट उदाहरण है। मुक्तक काव्य रचना के लिए यह अत्यधिक उपयुक्त है। सूर ने अपनी रचना गेय पदों में ही की है। सूर स्वयं गायन कला में निपुण थे। यही कारण है कि सूर की समस्त काव्य कौमुदी गीतात्मक है तथा संगीत सौन्दर्य से जगमगा उठी है।

वर्णनात्मक शैली – इस प्रकार की शैली का प्रयोग सूरदास जी ने पौराणिक आख्यानों के प्रसंग में किया है। श्रीमद्भागवत के कथा प्रसंगों पर अनेक पद सूर सागर में प्राप्त हैं। इन कथा प्रसंगों की शैली गेयपद शैली से भिन्न है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं सूर ने उत्सवों एवं दृश्यों का वर्णन किया है वहाँ वर्णनात्मक शैली को अपनाया है। कृष्ण के अन्नप्राशन आदि संस्कारों के वर्णन में वस्तुओं की लम्बी–लम्बी सूची के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता।

दृष्टकूट शैली – सूरदास जी ने अपने दृष्टकूट पदों की रचना भी गेय शैली में ही किया है। इस प्रकार के पद सूर की साहित्य लहरी में अधिक हैं। इन पदों का अर्थ

अत्यन्त कठिनाई से ग्रहण किया जा सकता है। इसमें कवि की चमत्कार प्रियता दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार की रचना कवि दो दृष्टियों से किया करते हैं। **प्रथम** तो विद्वता प्रकट करने के लिये पहली की भाँति उलझा कर लिखना, **दूसरा** प्रयोजन था रहस्यात्मक भाषा में किसी गूढ़ विषय को उपस्थित करना। सूरदास जी की साहित्य लहरी में प्रथम प्रवृत्ति ही प्रधान रूप में पाई जाती है।

भक्ति साहित्य में इस शैली का प्रयोग सम्भवतः विद्यापति से पूर्व किसी ने नहीं किया। जायसी ने भी कहीं–कहीं इस शैली को अपनाया है किन्तु दृष्टकूट शैली की सबसे प्रौढ़ रचना सूर की साहित्य लहरी ही मानी जाती है। इसमें चमत्कार की सृष्टि प्रधान रूप से है। कहीं–कहीं रहस्यात्मक सौन्दर्य का निरूपण भी हुआ है। स्वयं सूरदास जी ने इन पदों को सहज समाधि के पद बताया है।

छन्द – छन्दों के स्वाभाविक प्रयोग के द्वारा कविता में सरसता, लय और आकर्षण की वृद्धि होती है। सूरदास ने जिस गेय पद शैली की अपनाया, उसमें उन्होंने अधिकांश पदों की रचना कीर्तन के लिये की। इसीलिए उन्होंने छन्द के प्राचीन नियमों को उतना महत्व नहीं दिया, जितना संगीत शास्त्र की कसौटी पर कसना उचित नहीं। परन्तु उनके वर्णनात्मक प्रसंगों में चौपाई, दोहा, रोला आदि का प्रयोग हुआ है। इन छन्दों के अतिरिक्त सूर ने कुछ अन्य छन्द भी लिये हैं। जैसे – चन्द्र, भानु, कुण्डल, राधिका, तोमर, रूपमाला गीतिका, सरसी, सार, लावनी, हरिप्रिया आदि।

सारांश यह है कि सूरदास ने विविधं भावमयी ब्रंज भाषा का प्रयोग करते हुए अपने सरस काव्य की सृष्टि की है। सूर के काव्य में वैसे अनेक भावों एवं रसों का वर्णन मिलता है परन्तु वात्सल्य एवं श्रृंगार का प्राधान्य है। ये दोनों भाव उनकी भक्ति का अंग बनकर आये हैं।

इस प्रकार महाकवि सूरदास जी का काव्य भक्ति रस का भण्डार है। उसमें सख्य, दाम्पत्य, एवं वात्सल्य भावों के द्वारा अनन्य प्रेममयी भक्ति का प्रतिपादन हुआ है। विविध स्वर एवं ताली के द्वारा विलक्षण संगीत की सृष्टि हुई हैं। सूर के सभी पद संगीत शास्त्रोक्त विविध राग रागनियों से सुसज्जित हैं। ये सभी पद अनेक प्रकार के अलंकारों, गुणों, एवं रसों से परिपूर्ण हैं और ब्रजभाषा के श्रृंगार माने जाते हैं।

निःसन्देह सूर ब्रजभाषा के सम्राट कवि हैं। उनकी कविता में मर्मस्पर्शिता, तीव्रता, जीवनदायिनी संजीवनी शक्ति, आकर्षक संगीतात्मकता, अन्तःकरण को प्रभावित करने वाली उत्कृष्ट काव्य कला विलक्षण उद्भावना शक्ति के दर्शन होते हैं।

सूर सूर तुलसी शशी

प्रश्न ११. 'सूर सूर तुलसी शशी'। इस कथन की समीक्षा कीजिये। अथवा सूर और तुलसी दोनों महाकवियों का उद्देश्य भगवान की भक्ति से है। सिद्ध कीजिए।

उत्तर – महाकवि सूरदास और तुलसीदास हिन्दी साहित्याकाश के दो परमोज्जवल दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। इसमें किसका न्यून है किसका अधिक यह कितना कठिन होगा। किसी प्राचीन समीक्षक ने **"सूर सूर तुलसी ससी"** इस भाव के प्रस्फुटित करने हेतु लिखा होगा कि कभी कविवर भक्त शिरोमणि सूरदास तुलसी से श्रेष्ठ माने जाते थे। परन्तु तुलसी और सूर सम्बन्धी जो साहित्य निधि अब तक उपलब्ध हुई है उसके आधार पर आधुनिक समीक्षकों ने तुलसी को सूर से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जहाँ तक व्यापक और विस्तृत क्षेत्र का सम्बन्ध है। वहाँ तुलसी सूर से आगे बढ़े हुये हैं परन्तु जिस सामग्री से सूरदास ने हिन्दी साहित्य के कोष को भरा है, उसे अलंकृत किया है उसे देखकर सन्देह की भावना जाग्रत हो जाती है कि दोनों में कौन किससे बड़ा है। दोनों ही महाकवियों ने शान्त, वात्सल्य और श्रृंगार सम्बन्धी साहित्य की रचना की है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने जीवन का सम्पूर्ण चित्र खींचने के कारण, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति, सुख दुख हर्ष विषाद विरह संयोग आदि सभी का चित्रण कर नव रसों की निर्मल धारा प्रवाहित की है। अतः दोनों ही महानुभाव भक्त एवं कवि होने के नाते अनेक दृष्टियों से समान भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।

हिन्दी काव्य जगत में दोनों ही कवि एक ही समय भक्ति काल में अवतरित हुये हैं और अपनी–अपनी वृत्ति के अनुसार सगुणोपासना का मार्ग अपनाया। सूर ने कृष्ण भक्ति अपनायी और तुलसी ने राम भक्ति। दोनों ही महाकवियों ने अपने–अपने इष्ट देवोपासना में अनवरत अनुरक्त रहने के कारण सिद्ध महात्मा और त्यागी बन गये। दोनों की ही भक्ति में –दैन्य, आत्म समर्पण, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्म निवेदन आदि विशिष्टतायें हैं। परन्तु तुलसी सेवक सेव्य भाव की भक्ति रखने के कारण अपने इष्ट देव की महत्ता को स्वीकार करते हुए इन भावों को अधिक उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त कर सके हैं। सूरदास ने अपने इष्ट देव के सख्य भाव को स्वीकार किया था। उसमें कोई दुराव, छिपाव तथा संकोच की भावना नहीं है। अतः इनमें दैन्य आदि भावों का उद्रेक अधिक नहीं दिखाई देता परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि दोनों ही महात्माओं का हृदय भक्ति भावना से ओत प्रोत है।

सगुणोपासना का मार्ग अपना कर भी दोनों ही महाकवियों के इष्ट मूल रूप में निर्गुण हैं। किन्तु जन सामान्य के लिये निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग कठिन समझ कर सगुण भक्ति का पथ लोक जीवन को सुलभ कराया। सूर ने अपनी सगुण भक्ति को अपनाने का हेतु स्पष्ट करते हुये कहा है– "सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै"। तुलसी ने निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं समझा, उनकी दृष्टि में दोनों ही दुख दूर करने के साधन है। वहीं निर्गुण ब्रह्म – **"भगति प्रेमबस सगुन सो होई।"** कहा है।

सूर ने सगुण कृष्ण का तथा तुलसी ने दार्शनिक राम के सगुण रूप का प्रतिपादन किया है सूर ने कृष्ण के प्रति सख्य भाव की भक्त को स्वीकार किया है और अतृप्त समाज की पिपासा को वात्सल्य और श्रृंगार रस को प्रसारित करके शान्त किया है। आचार्य वल्लभ के शिष्य होने के कारण उन्हें कृष्ण के शिशु तथा किशोर रूप की ही उपासना अधिक प्रिय

थी। जीवन की यही दो अवस्थायें हैं जिनमें भाव और उल्लास सजीव हुआ करते हैं। सौन्दर्य और माधुर्य की धारा इन्हीं दो अवस्थाओं में प्रवाहित होती हैं निराश हिन्दू जनजीवन भगवान के इस रूप को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसे जीवन के प्रति जो अरुचि थी, जो विरक्ति थी, उसका प्रभाव लुप्त होने लगा। वह युग केवल मनोहारिता और सुन्दरता का युग था। इसीलये भगवान के माधुर्य और सौन्दर्य को लोग अपना सके। इस प्रकार भगवान कृष्ण की माधुर्य भावना सम्बन्धी उपासना का क्षेत्र तैयार हुआ। जिसके सबसे बड़े साधक सूरदास जी हुये। उन्होंने जीवन की समस्त साधनाओं को समेट कर एक ही बार अपने को भगवान के चरणों में लीन कर दिया और पार्थिक जगत के सौन्दर्य के विमुख होने पर और भगवान के हाथ से छूट जाने पर सूर ने जो आत्मविश्वास के आश्रय पर भगवान के बालचरित्र और लीलामय जीवन की उपासना की। वह इस प्रकार सफल हुई कि समस्त संसार उनकी सफलता से विस्मयाभिभूत हो उठा।

"बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहिं।
हिरदय से जब जाहुगे सबल जानिहौं तोहिं।।"

इसी के आधार पर सूरदास ने अपने भगवान की जो आरती उतारी वह अनुपम और अलौकिक है। सूरदास भगवान कृष्ण के अनन्य उपासक थे। अब उन्हें भगंवान कृष्ण के अतिरिक्त किसी और का आश्रय स्वीकार्य नहीं। यथा –

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवै।"

इसी प्रकार तुलसी भी शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित राम के अनन्य उपासक थे। उन्होंने अपने इष्ट देव को जीवन के विभिन्न रूपों में देखा है। उनका लोकरंजक की अपेक्षा लोकरक्षक रूप को अधिक ग्राह्य समझा था। उन्हें वंशीधर कृष्ण की नहीं वरन् "तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेउ हाथ" कहते हैं। तुलसी रामानुजाचार्य की परम्परा के श्री रामानन्द सिद्धान्तानुयायी थे। जिन्होंने कबीर को रामनाम का मन्त्र दिया था। उन्होंने निर्गुण–सगुण से परे अपने निराले राम की कल्पना की थी। इस समय तक सूरदास द्वारा प्रवर्तित बाल कृष्ण की माधुरी और सुन्दरता के ही दर्शन होते हैं जिससे जनता भगवत् लीला के श्रवण, कीर्तन और स्मरण में संलग्न हो गई। परन्तु अभी तक कृष्ण के लोकरंजक रूप से समाजोपयोगी गम्भीर समस्याओं के समाधान में कोई प्रेरणा नहीं मिली थी। जो जीवनोत्कर्ष तथा उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। अतएव गोस्वामी तुलसीदास ने इस कार्य के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को अपनी वाणी का विषय बनाया। साथ की भक्ति में आदर्श और कर्तव्यों का इस प्रकार व्यापक निरूपण किया, जिससे समग्र हिन्दुत्व की भावना सजग हो उठी। तुलसी के राम "विधि" हरि सम्भु नचावन हारे" हैं तथा दशरथ के पुत्र होकर भी परमब्रह्म है। तुलसी ने निर्गुण मार्ग को असाध्य एवं कष्टमय होने के कारण सगुण भक्ति को आशुफलदायिनी है को अपनाया। "भक्ति सुतन्त्र सकल गुन खानी" है। भक्ति ज्ञान का परस्पर अन्योन्याश्रित है। भक्ति से ज्ञान का अंकुर फूटता है और ज्ञान प्राप्त होने पर भक्ति की स्थिति भी बनी रहती है। तुलसी ने भक्ति को ही श्रेष्ठता प्रदान

की है। रामभक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है। मोक्ष भी राम भक्ति के बिना नहीं टिक सकता, यथा –

"जिमि बिनु थल जल रहि न सकाई, कोटि भांति कोऊ करै उपाई।
तथा–मोच्छ सुख सुनु खगराई, रहि न सकई हरि भगति बिहाई।।"

इसी प्रकार सूरदास जी ने भी मुक्ति का एक मात्र साधन भक्ति बताया है मुक्ति की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ हैं। भक्ति के आगे मुक्ति का निरादर करते हैं, यथा– "मुकुति आनि मन्दे में पेली"। सूर को सान्निध्य की मुक्ति ही प्रिय है। क्योंकि इस मुक्ति में गोलोक में जाकर भक्त भगवान के साथ निवास करता है। उनकी लीला में भाग लेता हैं। परन्तु तुलसी भगवान की इस कृपा के प्रकट होने पर भी मोक्ष की आकाक्षा नहीं करते। तुलसी भक्ति ही चाहते हैं। दृढ़ भक्ति का वरदान तथा उसी का उत्तरोत्तर विकास चाहते हैं। तुलसी दास्य भाव से निरन्तर भगवान की भक्ति में ही संलग्न रहना चाहते हैं। जिससे माया जन्य संसार के दुखों से उनका संरक्षण हो सके। महाप्रभु बल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पूर्व सूरदास जी का अन्तर दास्य भाव की भक्ति से ओत प्रोत था। सूर के विनय पदों में भगवान के प्रति अगाध विश्वास दृष्टिगोचर होता है। उन्हें अपने कर्मों पर ग्लानि होती है और वे भव–पीड़ा से पीड़ित होकर कह उठते है–

"अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल।
काम क्रोध का पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा सबद रसाल।।"

अपने आराध्य की महत्ता स्वीकार करने का कारण दीनता ही है। दीनता का यह भाव भक्ति की चरम सीमा पर भक्त को पहुंचा देता है। इसी प्रकार तुलसी ने भी अपने विगत जीवन पर अनुताप करते हुये इस प्रकार कहा है –

"जनम गया बादहिं पर बीति।
परमारथ पाले न परयो कछु अनुदिन अधिक अनीति।"

ऐसी अवस्था में तुलसी को कोई आश्रय नहीं दिखाई देता। तुलसी अपने उद्धार की प्रार्थना भगवान से करते हैं। तुलसी उनके आगे आत्म समर्पण कर देते है। निम्न पंक्ति में तुलसी का दृढ़ विश्वास मुखरित है –

"काहे ते हरि मोहि बिसार्‌यो।
जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ सम्हारौ।।"

तुलसी की दृष्टि में भवसागर को पार करने की एक मात्र नौका है – राम नाम। तुलसी ने राम के नाम की महिमा का गान किया है। तुलसी ने माता पिता गुरु स्वामी सब कुछ राम ना ही है। राम नाम की मणि अंतर और वाह्य को सतत प्रकाशित करती है –

"राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहु जौ चाहति उजियार।।"

इसी प्रकार सूर अपने आराध्य के मधुर रूप के उपासक थे और तुलसी उनके ऐश्वर्य रूप के। इसी कारण दोनों कवियों के इस वर्णन में विशेष कर वात्सल्य दर्णन में

अन्तर पड़ गया है। दोनों ही भक्तों ने नवधा भक्ति को चरम पद पर पहुंचने के लिये प्रधानता दी है। तुलसी ने राम के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की उपासना भी की है, किन्तु सबसे राम भक्ति पाने की ही याचना की है। **"बसहिं राम सिय मानस मोरे"** किन्तु सूरदास ने अन्य देवी देवताओं के प्रति अवज्ञा का भाव व्यक्त किया है – **"और देव सब रंक भिखारी त्यागी बहुत अनेरे।"**

पुष्टि मार्गी होने के कारण बल्लभाचार्य के उपदेशानुसार उन्होंने कृष्ण शैशव और किशोर रूप में ही मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित किये हैं। इन्हीं दो अवस्थाओं के आधार पर इन्होंने वात्सल्य और श्रृंगार रस की जो विमल धारा प्रवाहित की है, वह हिन्दी साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य की अनूठी निधि है। परन्तु तुलसी ने अपने इष्ट का लोग रक्षक रूप में ही स्वीकार किया है। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण सदा मर्यादा की परिधि में रहते हैं परन्तु सूर के कृष्ण बाल एवं किशोर सम्बन्धी चित्रों में सामाजिक मर्यादा का भाव शिथिल है। तुलसी ने भी गीतावली में राम के बाल विनोद तथा वात्सल्य का चित्रण किया है। किन्तु उसमें भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं हो सका। गुरु से कुछ देर अलग रह कर चपलता कर लेते हैं परन्तु फिर गम्भीर हो जाते हैं। वे राजकुमार हैं राजकुमारों के साथ खेलते हैं और सूर के कृष्ण की भांति "खेलत में को काको गुसैया।" की सी भावना नहीं रखते।

सूर तो वात्सल्य रस का कोना – कोना झांक आये हैं उनके इष्ट देव ही बालकृष्ण हैं। उनके बाल वर्ण्य की एक यह भी विशेषता है कि उन्होंने बाल सुलभ चेष्टाओं का ही मनोरंजक और स्वाभाविक चित्रांकन नहीं किया वरन् बालक की अन्तःप्रकृति का भी सूक्ष्म चित्रण किया है जो अति आकर्षक है। इनके बाल सुलभ वर्णनों में मातृ ह्रदय का स्नेह भी खेल रहा है।

तुलसी की भक्ति में दास्य भावना होने के कारण उन्हें इस बात का सदैव ध्यान रहता है कि बाल वर्णन में स्वामी की मर्यादा का अतिक्रमण न हो जाय। इसके साथ ही सूर के कृष्ण ग्राम्य वातावरण में पोषित गोप थे, तुलसी के राम नागरिक जीवन में लालित पालित मर्यादित राजकुमार थे। राम के नैसर्गिक जीवन के विकास की परिस्थितियाँ कम थी। दूसरे कृष्ण की अनेक लीलाओं में माखन चोरी, दधि दान आदि में बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिये अधिक अवसर था। राम के मर्यादित जीवन की एक झलक – **"मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपनेहुं पर नारि न हेरी।।"** इसीलिये सूरकाव्य में काव्य के क्रीड़ामय जीवन की रंगीन सामग्री है। वात्सल्य के क्षेत्र में सूर अपने उपमान आप ही हैं। केवल गोवर्धन धारण, काली दह और कंस के वध आदि में कृष्ण का लोकोपकारी रूप दृष्टिगत होता है। भगवान रामचन्द्र में दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय है।

इसी प्रकार श्रृंगार के चित्रण में भी तुलसी मर्यादित हैं सूर ने रसराज के प्रत्येक अंग का स्पर्श किया है। विभाव अनुभाव संचारी भाव को अनेक रुपों में सूर ने प्रस्तुतत किया है। श्रृंगार चित्रण में सूर ने रास–लीला, दान लीला, बसन्त लीला, राधा कृष्ण के मिलन का अत्यन्त सुन्दर एवं विशद चित्रण किया है। परन्तु तुलसी का श्रृंगार बडा ही मर्यादित

है। उनके वियोग वर्णन में भी भाग्य प्रेरणा का ही अधि प्राधान्य है। मान आदि का कोई स्थान ही नहीं रहा। राम एक नारी व्रत का पालन करते हैं।

तुलसी के श्रृंगार वर्णन में सीता के रूप चित्रण में मर्यादा का पूर्ण ध्यान कवि ने रखा है। शोभा के समुद्र से उत्पन्न लक्ष्मी के रूप सौन्दर्य से भी अधिक सीता का सौन्दर्य है। जनक की पुष्प वाटिका में राम सीता का मिलन कराते समय मर्यादा का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इधर राधा–कृष्ण का मिलन चपल बालक–वालिका का मिलन है। इनमें चपलता, भोलापन, सरलता, और सौन्दर्य है। तभी तो कृष्ण राधा को अपनी बातों में ही विभोर कर आकर्षित कर लेते हैं।

"बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी है बेटी, देखी नहीं कबहुं व्रज खोरी।
काहे को हम व्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
....
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।।"

स्नेह के इस प्रथम मिलन के पश्चात् प्रेमाकुंर विकसित होने लगते हैं और प्रेम बेल दिन–दिन बढ़ती जाती है। राधा कृष्ण मय हो जाती है और कृष्ण राधामय। सूर ने मुग्धा राधा का रूप वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया है। यौवनागम पर अंग प्रत्यंग क शोभा अत्यन्त आकर्षक हो जाती है। इसी से सूर का सौन्दर्य वर्णन अधिक आकर्षक बन पड़ा है।

गोपी उद्धव संवाद ने सूर में गोपियों के प्रेम की दृढ़ता को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है। प्रेम के छलकते हुये पारावार को देख कर उद्धव की ज्ञान गठरी कुरील कुंजों में बिखर जाती है। वे स्वयं भक्ति और प्रेम के रंग में रंग जाते हैं। यथा –

"सुनि सुनि अधौ प्रेमागमन भयो, लौटत घर पर ज्ञान गर्व गयो।
निरखत व्रज भूमि अति सुख पावै, सूर प्रभु को यश पुनि पुनि गावै।

इस प्रकार ज्ञान गुमानी उद्धव प्रेम मग्न होकर मथुरा लौटते हैं और कृष्ण के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार करते हैं। प्रेम की पराकाष्ठा इससे अधिक और क्या हो सकती है। उद्धव की तन्मयासक्ति को देखकर कृष्ण भी रोने लगते हैं। इस प्रकार सूर ने ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय दिखाई है।

संयोग और वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, और जितने ढंग से साहित्य में उनका वर्णन हुआ है या हो सकता है उसका अन्यन्त स्वाभाविक चित्रण सूर ने किया है। उसके प्रत्येक भाव में मर्मस्पर्शिता है।

सूर की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने वैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामन्जस्य स्थापित कर दिया है। यही विशेषता तुलसीदास की भी है। परन्तु दोनों में विशेष अंतर यह है कि तुलसी के मनोविज्ञान का क्षेत्र मनुष्य जीवन में बहुत व्यापक है। सूर का क्षेत्र केवल श्रृंगारिक जीवन तक ही सीमित है। सूर में श्रृंगार चित्रों के साथ रस राज का जितना अधिक निरूपण किया गया है उतना हिन्दी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

सूर और तुलसी ने प्रकृति प्रांगण में भी रमणीय केलि कलाप किये है। सूर ने प्रकृति चित्रण स्वतंत्र रूप में ही नहीं किया है अपितु अपने चरित नायक की लीलाओं की पृष्ठभूमि के रूप में ही किया है। तथापि उसमें सरलता और स्वाभिवकता है जिन कदम्ब की डालों पर बैठकर कृष्ण ने मुरली वादन किया था जिस कालिन्दी में कृष्ण जल बिहार किया करते थे, वे सूर को क्यों न प्रिय होती। सूर ने अपने इष्ट देव के प्रति अनन्य प्रेम के कारण ही उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को प्रिय माना था। तुलसी ने प्रकृति चित्रण में नीति को प्रधानता दी है। जिससे प्रकृति सुषमा की सुन्दरता जाती रही। तुलसी वन में राम लक्ष्मण को प्रकृति की रमणीयता का दिग्दर्शन कराते हुये भी उसकी ओर उतना आकृष्ट नहीं होते जितना जीव ब्रह्म और माया के भ्रम को सुलझाने में पड़े रहते हैं। शरद के सुन्दर वर्णन में भी उन्होंने नीति और धर्म को प्रधानता दी है। यथा –

"उदित अगस्त पंथ जल सोखा, जिमि लोचहि सोखहिं सन्तोषा।.....
..... जानि सरद ऋतु खंजन आये, पाय समय जिमि सुकृत सुहाये।।"

सूर ने प्रकृति सन्दरी की कमनीयता को बनाये रखा है। यद्यपि नीति और धर्म का समावेश हुआ है। सूर ने प्रकृति चित्रण में स्वाभाविकता और सरसता अधिक है।

सूर और तुलसी भक्त होने के साथ–साथ कवि भी हैं। अपने काव्य को उन्होंने गुणों, वर्णों और अलंकारों से सुसज्जित किया है। सूर की कल्पना शक्ति, उद्‌भावना शक्ति, अलंकार वर्णन उनके सरस हृदय मर्मज्ञता और सौन्दर्य प्रियता का परिचायक है।

कृष्ण के रूप चित्रण में भगवान के रूप से प्रभावित होकर सूर की भाषा अधिकाधिक अनुरंजित और चित्रविचित्र होती गई है। उन्होंने आलम्बन में नेत्रों की ही अनुपम छवि का वर्णन नहीं किया वरन् रूप सागर में अवगाहन करने वाली, दर्शन को सदा अतृप्त रहने वाली प्यासी आँखों का भी हृदयहारी चित्रण किया है –

"इन्दु चकोर मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये गोपालै इक टक प्रेम पियो।।"

सूरदास ने अलंकारों द्वारा मूर्त चित्रों को तथा तुलसी भाव चित्रों को उपस्थित करते हैं। सूरदास ने राधा के अनुपम और अलौकिक सोन्दर्य को उत्प्रेक्षाओं तथा उपमाओं द्वारा सुसज्जित किया है।

"नैन विशाल भाल दिये रोरी।
....
नील बसन फरिया कटि पहले बेनी पीठि रुचिर झकझोरी।"

वैसे तो कवि ने अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही किया है, किन्तु कहीं–कहीं चमत्कार प्रदर्शन का लक्ष्य भी दिखाई देता है। **"अद्‌भुत एक अनुपम बाग"** में सूर के अलंकारों में स्वाभाविकता नहीं आ पाई। ये अलंकार परम्परामुक्त ही अधिक रहे हैं। तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अलंकार स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुये हैं। उनमें भावों की गूढ़ता और वर्ण्य विषय की स्पष्टता भी लक्षित होती है। तुलसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। चित्रकूट की सभा में देवमाया के वश में पड़े लोगों की दशा का वर्णन

इस प्रकार किया गया है।

"रामहिं चितवत चित्र लिखे से, सकुचत बोलत वचन सिखे से।।"

सूरदास ने अपने काव्य को ब्रजभाषा के माधुर्य से सरस कर दिया है। सूरदास की भक्ति भी माधुर्य भाव की है और फिर उनमें ब्रजभाषा जैसी मधुर भाषा का प्रयोग होने से माधुर्य की प्रतिमा सी खड़ी कर दी है। संगीत की मधुर धारा इनकी कविता सरिता में मिली हुई है। उसमें अलंकारों का प्रयोग करके सूरदास ने अपने काव्य विदग्धता का दिग्दर्शन कराया है।

तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं की श्रवण–माधुर्य शब्दावली की एक श्रृंखला बांधकर अपने काव्य की रचना की है। अवधी में दोहा चौपाई का महत्व अधिक था, तथापि तुलसी ने अपनी पूर्ववती व समकालीन प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग किया है। यदि सूर ने तुलसी की अपेक्षा मुहावरों का अधिक प्रयोग किया है तो तुलसी शब्द चयन में अपना कौशल दिखाते हैं।

इस प्रकार तुलसी के काव्य में सत्य और शिव का प्रयोग अधिक हुआ है। मर्यादा का सर्वत्र निर्वाह हुआ है। सूर संकुचित क्षेत्र में रहकर भी अपना कौशल दिखाते हैं तुलसी का क्षेत्र व्यापक है। उन्होंने अपने काव्य को अनेक रंगों से सुसज्जित किया है श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में तो सूर तुलसी से आगे हैं, किन्तु मानव जीवन के सम्पूर्ण चित्रांकन में, और नवों रसों की धारा प्रवाहित करने में तुलसी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। राम भक्ति के प्रचार का उत्साह, हिन्दुत्व की जागृति, लोक रक्षा की भावना तथा धार्मिक एवं साहित्यिक धाराओं में प्रवाह और उत्तेजना, उत्पन्न करने की भावना ने तुलसी साहित्य को हिन्दी साहित्य में शशि का स्थान दिया है।

विशुद्ध काव्य की दृष्टि से सूर अपने सीमित क्षेत्र मे रहते हुये भी अद्वितीय हैं परन्तु काव्य और लोक के घनिष्ठ सम्बन्ध की दृष्टि से तुलसी सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में अनुपम हैं। सूर ने लोक की सर्वथा उपेक्षा न करते हुये भी लोक को अधिक महत्व नहीं दिया। तुलसी ने अपने आराध्य और लोक का अंतरंग सम्बन्ध स्थापित कर एक प्रकार से लोक सेवा को ही साहित्य का वास्तविक ध्येय तथा अपने आराध्य की उपासना सिद्ध कर दिया है। दृष्टिकोण का यही अन्तर दोनों के काव्य का अन्तर है। समानता है तो दोनों में भक्ति भावना की।

दोनों ही हिन्दी काव्याकाश के प्रकाशमान नक्षत्र हैं। किसी का किसी से महत्व कम नहीं है।

अष्टछाप कवियों में सूर का स्थान

प्रश्न १२. अष्टछाप के कवियों में सूर का स्थान निर्धारित कीजिये।

अथवा

महाकवि सूर का स्थान अष्टछाप के कवियों में अग्रणी है। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – अष्टछाप के अन्तर्गत कृष्ण भक्त कवियों की प्रतिष्ठा श्री बल्लभाचार्य जी के गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र ने की थी। उनमें चार तो बल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और चार विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। बल्लभाचार्य के शिष्य – सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास और कृष्ण दास थे। विट्ठलनाथ के शिष्य नन्ददास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास थे। अष्टछाप के इन आठ कवियों को विट्ठलनाथ जी ने ठाकुर जी ने आठ सखाओं के रूप में माना। इसीलिये सम्प्रदाय में अष्टछाप के कवियों का अष्टसखा के नाम से भी उल्लेख किया गया है। ये आठों भक्त अपने समय में पुष्टि सम्प्रदाय के अन्तर्गत संगीतज्ञ, कीर्तिनकार तथा काव्यकार थे। गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में ये सभी सेवा निधि से उपासना करते थे, और काव्य रचना करते थे। ये आठों महानुभाव श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे।

पुष्टि सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि ये आठों भक्त श्रीनाथ जी के नित्य लीला में अन्तरंग रूप में सदैव उनके साथ रहते हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में सेवा विधि के दो क्रम हैं –

(१) नित्य सेवा विधि, (२) वर्षोत्सव सेवा विधि।

इन सेवा विधियों में पद गाये जाते थे, उनकी रचनायें भक्त कवि ही करते थे, इन आठों भक्त कवियों में सूरदास जी प्रधान कीर्तनकार थे। इन कवियों में प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओं के अनुपम काव्य चित्र उपस्थित किये हैं इनके काव्य में लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही अंनुभूतियों की सुन्दर मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से इन कवियों में महाकवि सूरदास का काव्य ही सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है।

अष्टछापी कवियों का अष्टछाप में इन साम्प्रदायिक लीला रूपों, लीला शक्तियों एवं अधिकृत द्वारों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है –

१– **कुम्भनदास** – लीलात्मक रूप – अर्जुन सखा तथा विशाखा सखी और लीलासक्ति–निकुंज लीला है तथा इनका अधिकृत द्वार – अन्यौर द्वार है।

२– **सूरदास** – लीलात्मक रूप – कृष्ण सखा, सखी चम्पकलता, लीलाशक्ति–मानलीला, एवं अधिकृत द्वार – गोविन्द कुण्ड द्वार है।

३– **परमानन्द दास** – लोक सखा, चन्द्र भागा सखी, बाललीला तथा द्वार – सुरभिकुण्ड है।

४– **कृष्णदास** – ऋषभ सखा तथा ललिता सखी इनका लीलात्मक रूप हैं। बिलछू कुण्ड द्वार इनका अधिकृत द्वार है।

५– **गोविन्द स्वामी** – श्रीदामा सखा – और भामा सखी लीलात्मक रूप हैं। लीलासक्ति – आँख मिचौली, हिंडोरा लीला है। कदम खण्डी द्वार – इनका अधिकृत द्वार है।

६ – **नन्ददास** – भोज सखा, चन्द्र रेखा सखी इनका लीला रूप है तथा लीला किशोर है। अधिकृत द्वारा इनका मानसी गंगा द्वार है।

७– **छीत स्वामी** – इनकी लीला का रूप सुबल सखा – पद्मा सखी हैं

लीलासक्ति–जन्मलीला है तथा अपारा कुण्ड द्वार इनका अधिकृत द्वार है।

८– **चतुर्भुजदास** – विशाल सखा – विमला सखी इनकी लीला का रूप है तथा अन्नकूट लीला है एवं रूद्र कुण्ड द्वार इनका अधिकृत द्वार है।

इन अष्टछापी कवियों का साम्प्रदायिक महत्व तो है ही, साथ ही इन कवियों का साहित्यिक महत्व भी अक्षुण्ण है। वास्तव में साहित्यिक महत्व के कारण ही ये कवि अधिक प्रसिद्ध हुये हैं।

इन अष्टछापी कवियों ने पुष्टि मार्ग के विचारों को लेकर भगवान कृष्ण के नित्य नैमित्तिक कार्यों एवं विभिन्न लीलाओं का विविध राग रागनियों में ऐसा वर्णन किया है, जो संगीत एवं काव्य की अमूल्य निधि है। जिसके अन्तर्गत उच्च कोटि के भक्ति सम्बन्धी विचारों के साथ ही ब्रज जीवन एवं ब्रज की लोक संस्कृति मूर्तिमान हो उठी है।

क्रमबद्धता की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में प्रथम कवि कुम्भनदास हैं। ये बड़े ही सहृदय निर्लोभी एवं स्पष्टवादी भक्त थे। इनकी निर्लोभी वृत्ति एवं स्पष्टवादिता का परिचय **"सन्तन को कहा सीकरी सों काम"** से चल जाता है। इनकी कविता में अभिव्यक्ति इनकी भक्ति भावना सरस एवं मनोहारी है किन्तु कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से साधारण ही है।

दूसरे कवि सूरदास हैं जिनकी साहित्यिक कृतियों की देखकर यह आश्चर्य होता है कि अंधे होने पर भी "सूर ने कितने लालित्य पूर्ण पदों की रचना की है। इनके पदों में विभिन्न रंगों का यथावत् उल्लेख विविध उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं की उपयुक्तता एवं स्वाभाविकता आदि को देखकर उनके जन्मांध होने पर सन्देह होता है। लगभग सवा लाख पद की रचना सूरदास ने की है किन्तु अभी तक केवल दस हजार पद ही प्राप्त हो सके हैं। फिर भी इन उपलब्ध पदों के आधार पर जब हम अष्टछापी कवियों से सूर की तुलना करते हैं तो विदित होता है कि साहित्यिक दृष्टि से कोई भी कवि सूर के समक्ष नहीं टिक सकता। हाँ नन्द दास को अवश्य कहा जा सकता है। जिनमें सूर के समान ही काव्योत्कर्ष एवं साहित्यिक गुण विद्यमान हैं। श्रृंगार एवं भक्ति का वर्णन नन्ददास ने सूर की भांति ही किया है। साथ ही अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न शैलियों में रचना करके अपने काव्य ज्ञान, संगीत एवं रीति शास्त्र के पांडित्य तथा अद्भुत पद योजना का परिचय दिया है। ऐसी सरस एवं मधुर रचना सूर को छोड़ कर अन्य किसी भी अष्टछाप के कवि में नहीं मिलती। शेष सभी कवि सूर या नन्द दास से प्रभावित जान पड़ते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि सूरदास एवं नन्ददास में साहित्यिक गुणों की दृष्टि से कौन श्रेष्ठ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नंददास की सरस एवं मधुर रचनाओं की प्रशंसा करते हुये इनकी अनुप्रासमयी तथा चुने हुये संस्कृत पद विन्यासपूर्ण भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। **हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १७५।**

डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी नन्ददास की प्रतिभा की सराहना की है और कहा है – "अलंकार और छन्द के उपयुक्त प्रयोग को तथा भावों की अनुगामिनी भाषा के महत्व का

नन्ददास के कवित्व का गौरव बतलाते है" – **हिन्दी सा. का आलो. इति पृ. ५६३।**

हिन्दी के कतिपय अन्य विद्वानों ने भी नन्ददास के भाषा माधुर्य एवं शब्द चयन की दृष्टि से नन्ददास को हिन्दी काव्य क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु सूर की साहित्यिक गरिमा इनसे श्रेष्ठ है। वस्तुतः सूर का वात्सल्य वर्णन, वियोग, वर्णन, मुरली सम्बन्धी मधुर उक्तियाँ एवं राधा कृष्ण का प्रेम वर्णन, राम लीला आदि नन्ददास की तुलना मे कहीं श्रेष्ठ हैं। इसके अतिरिक्त सूरदास के भावों की मौलिकता एवं मनोवैज्ञानिकता नन्ददास के पदों में परिलक्षित नहीं होती।

अतएव साम्प्रदायिक एवं धार्मिक मनोभावों के चित्रण में भले ही दोनों कवियों में साम्य दृष्टिगोचर होता हो किन्तु साहित्यिक उत्कर्ष एवं भावों की मौलिकता की दृष्टि से सूरदास सर्वोपरि है। कोई भी अष्टछाप का कवि इनकी समता नहीं कर सकता।

इसी कारण सूरदास कृष्ण काव्य की एक विशिष्ट परम्परा के प्रवर्तक होने के साथ ही अष्टछाप के कवियों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

लघुउत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १. अष्टछाप का परिचय दीजिए।

उत्तर – अष्टछाप – ब्रजभाषा में कृष्ण काव्य की रचना का सम्पूर्ण श्रेय बल्लभाचार्य को है। उनके द्वारा प्रचारित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर अनेक भक्त कवि भगवान की लीला गाने में मस्त हो गये। वे प्रतिदिन गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर में राधा कृष्ण जी के मधुर पद बनाकर गाया करते थे। श्री बल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उन कवियों में से सर्वश्रेष्ठ से आठ कवियों को चुनकर अष्टछाप की स्थापना की। इन कवियों में सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्ण दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास सम्मिलित थे।

सूरदास – अष्टछाप के कवियों में सूरदास प्रमुख थे। सूरदास ने ब्रजलीला के अतिरिक्त अन्य अवतारों का भी वर्णन किया है। सूरदास में भक्ति तो थी साथ ही उन्हें कवि ह्रदय मिला था। उन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का स्वाभाविक एवं सरस वर्णन किया है। उनके श्रृंगार वर्णन मे भी पूर्ण सजीवता है। उनका भ्रमरगीत वियोग श्रृंगार की उस्कृष्ट रचना है।

कुभनदास – ये भक्ति कवि होने के साथ–साथ उच्च कोटि के गायक थे। बल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति पर लिखी इनकी फुटकर कविता अत्यन्त भावमयी एवं रस सिक्ति है।

परमानन्ददास – कृष्ण भक्त कवियों में सूर के बाद वात्सल्य और प्रेम का वर्णन करने वाले ये अत्यन्त भावुक एवं भक्ति कवि थे।

कृष्णदास – इन्होंने राधाकृष्ण के विशुद्ध श्रृंगार का गेय पदों में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है '

छीतस्वामी – इनकी कविताओं में ब्रजभूमि की आसक्ति परिलक्षित होती है। कवितायें सरस एवं प्रेमानुभूति से मिश्रित है।

गोविन्द स्वामी – ये भी भक्त होने के साथ उच्च कोटि के गायक थे। इनके पदों में सगीतात्मकता का विशेष महत्व है।

चतुर्भुजदास – ये कुम्भनदास के पुत्र तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके भक्ति के श्रृंगार के बड़े सुन्दर पद मिलते हैं।

नन्ददास – अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इन्हीं का वैशिष्ट्य है।

इनके दो ग्रन्थ रास पंचाध्यायी तथा भँवरगीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य में भक्ति भावना की प्रधानता है।

प्रश्न २. भ्रमर गीत का तात्पर्य बताते हुए सूर के भ्रमरगीत का महत्व बताइए।

उत्तर – भ्रमरगीत – भ्रमरगीत श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा पर आधारित है। इसमें उद्धव का अहंकार दूर करने के लिए कृष्ण का सन्देश लेकर उद्धव के ब्रज आने पर गोपियाँ भौंरे को सम्बन्धित करके उद्धव को खूब खरी–खोटी सुनाती है, उनके व्यंग्य बाणों से उद्धव आहत हो जाते हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं।

पूछन लागी ताहि गोपिका कुब्जा ताहि पाठयौ।
कैंधो सूर स्याम सुन्दर को हमैं सन्देस लायौ।

सूर ने तीन भ्रमर गीत लिखे हैं – पहला भ्रमर गीत भागवत का अनुवाद मात्र है। यंह चौपाई छन्दों में लिखा गया है दूसरा भ्रमर गीत पदों में है लेकिन इन दोनों में भ्रमर के आने पर कहीं कोई प्रसंग नहीं मिलता है। तीसरा भ्रमरगीत पदों में है। यही वास्तविक भ्रमरगीत है। इसमें भ्रमर के बहाने गोपियाँ उद्धव और कृष्ण को खूब खरी–खोटी सुनाती है।

प्रश्न ३. पुष्टि मार्ग का क्या आशय है ? पुष्टि के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – पुष्टिमार्ग – महाप्रभु बल्लभाचार्य ने दार्शनिक क्षेत्र में शुद्ध द्वैववाद की स्थापना की। इसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का सत्ता नहीं है। कृष्ण ही उस परब्रह्म के रूप हैं, वे रसेश्वर हैं तथा भक्तों को आनन्द देने के लिए ही लीलाएं करते हैं। ज़ीव उन्हीं का अंश है पर अविद्या के कारण उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता है। भगवान के उस आनन्द को प्राप्त करने का एक मात्र साधन उसकी सेवा या भक्ति है। यह सेवा भक्ति उन्हीं को प्राप्त होती है। जो भगवान का अनुग्रह (कृपा) प्राप्त कर लेते हैं। इसी ने बल्लभाचार्य को पोषण (पोषण तदनुग्रहः) कहा है पाप के कारण दुर्बल व क्षीण जीवात्मा को भगवान की कृपा रूपी पोषण की आवश्यकता होती है। ये कृपा प्राप्त जीव ही 'पुष्टि जीव कहे जाते हैं। यह निरन्तर अनन्य भाव में श्रीकृष्ण की भक्ति करते है।

बल्लभाचार्य ने चार प्रकार की पृष्टि बताई है –

१– प्रवाह पुष्टि – इसके अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है।

२– मर्यादा पुष्टि – इसके अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से विरक्त होकर कृष्ण गुणगान एवं कीर्तन द्वारा भक्ति करता हैं।

3- शुद्ध पुष्टि
4- पुष्ट पुष्टि

३– पुष्ट पुष्टि – इसके अनुसार जीव को भगवान का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है और वह साधना में रत हो जाता है।

४– शुद्ध पुष्टि – इसमें भक्त पूर्ण रूप से भगवान पर आश्रित हो जाता है तथा भगवान की लीलाओं में तादात्म्य हो जाता है। इसका हृदय कृष्ण की लीला भूमि बन जाता है। वस्तुतः बल्लभाचार्य ने इसी भक्ति को सर्वश्रेष्ट माना है।

प्रश्न ४. सूर के काव्य में मुरली का स्वरूप बताइए .

उत्तर – मुरली – सूरसागर में मुरली का वर्णन अनेक रूपों में हुआ हैं। मुरली कृष्ण को प्रिय है वे मुरली बजाते हैं। यही उसका महत्व है। मुरली वादन कृष्ण की कला है। लेकिन वह मुरली जब अपनी ध्वनि से सम्पूर्ण लोकों को आपूरित कर लेती हैं। सारी सृष्टि–मुरली की ध्वनि सुनकर आकुल हो उठता है। सूरदास ने मुरली के इसी स्वरूप को महत्व दिया है। कृष्ण की मुरली जनानुरंजनकारी हो जाती है। मुरली का महत्व सूरसागर में वहीं तक नहीं है। सूर ने गोपियों के माध्यम से मुरली के प्रति उपालम्भ भी रहे हैं। कृष्ण की गोपियाँ सौत कहती हैं। उसे अपने प्रेम में बाधा मानती है। उसे तोड़ देने की धमकी देती हैं। गोपियों के प्रेम की अनन्यता के अधिकांश संकेत मुरली के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। वे कृष्ण को उपालम्भ देती हुई मुरली की निन्दा करती हैं। **मुरली तऊ गुपालहिं भावत** जैसी उक्तियाँ सूरसागर में मुरली के महत्व को द्योतित करने में समर्थ हैं। इस सन्दर्भ में मुरली की मनोदशा को भी सूर ने वर्णित करके मुरली को त्याग तपस्या और प्रेम की अनन्यता की साकार प्रतिमा सिद्ध किया है। इस प्रकार सूर ने मुरली के जड़ चेतन दोनों रूपों का मार्मिक विश्लेषण करते हुए मुरली को भावनमोहिनी का पद दिया है।

प्रश्न ५. दृष्टिकूट किसे कहते हैं ? दृष्टिकूट के विलय पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – दृष्टिकूट – कूट शब्द का अर्थ है दुर्बोध गूढ़। कूटात्मक भाषा वह भाषा है जिसमें निहित विषय अत्यन्त दुर्बोध होता है। भारतीय साहित्य में कूटात्मक भाषा का प्रयोग प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। श्रीमद्‌भागवत के अनेक श्लोकों में कटु शब्दावली का प्रयोग हुआ है। सूरदास ने अपनी कविता में इस परम्परा को बनाये रखा है और उन्होंने कूट पदों की रचना की है। साहित्य लहरी की भाषा तो आद्योपान्त कूटात्मक ही है। सूर का कूटात्मक भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"भू–सुत–शभु नाथ हित पितु त्रिय प्रिय हिय बचन ढिढ़ायौ।

इस पूरी पंक्ति का अर्थ कलह है लेकिन कटु भाषा में यह इस प्रकार है – भू–पृथ्वी, पृथ्वी सुत के बीच का शत्रु बन्दर अर्थात् हनुमान के नाथ राम के हित भरत के पिता दशरथ की पत्नी कैकयी को प्रिय कलह। इस प्रकार के अनेक उदाहरण सूर के काव्य में आते हैं। इस प्रकार दृष्टिकूट यह कवि की बौद्धिकता के द्योतक हैं और इसमें सूर को सफलता मिली है।

सूर विद्वान थे। उन्हें अलंकार का विशेष ज्ञान था। दृष्टिकूट पदों से तो उनकी योग्यता किसी साहित्य के पण्डित से कम नहीं है। ज्योति और वैद्यक का भी उन्हें ज्ञान

था। संगीत के तो वे आचार्य थे। वर्ण्य विषय की परिमित थी। अलंकार रूप से उनकी कमी दूर हो गयी किन्तु बहुत कुछ कमी तो उनके राग रागनियों के बोध से होता है एक ही विषय किस राग में गाया जा सकता है। इसको वे बहुत जानते थे।

प्रश्न ६. सूर के काव्य में विनय का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – सूर की विनय भक्ति – विनय भक्ति का प्रधान तत्व है। नवधा भक्ति में कहा गया है –

"श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरण पाद सेवनम्।
वन्दनं अर्चन दास्यं सख्यं आत्म निवेदनम्।।"

इसमें दास्य और आत्म निवेदन भक्ति के विनय की पराकाष्ठा घोषित करते हैं। सूर यद्यपि पुष्टि भार्गीय भक्त थे तथा माधुर्य भक्ति के उपासक होने के कारण कृष्ण की साख्य भक्ति में ही समर्पित थे परन्तु विनय की दृष्टि से भी उन्होंने अनेक पदों की सर्जना की है। **हौं हरि सब पतितन को टीकौ,** जैसी उक्तियाँ सूर की विरह भावना को ही द्योतित करती है। उन्होंने अक्षरशः आत्म निवेदन के द्वारा अपने कवित्व को श्रीनाथ जी के चरणों में समर्पित करने पर बल दिया है। तथा जीवन की सार्थकता प्रभु के चरणों के आत्म निवेदन करके ही उनकी सेवा में ही मानते थे परन्तु पुष्टि मार्गीय प्रभाव के कारण उनके काव्य में कालान्तर में लीला गायन ही अधिक हुआ है तथा तुलसी की भाँति दास्य भावना का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है। वस्तुतः सूर रागानुराग प्रेमोपासना के समर्थ कवि थे। इसलिए वे विनय के क्षेत्र में कम रहे किन्तु यह निर्विवाद तथ्य है कि भक्त भगवान के चरणों में मनसा वाचा कर्मणा समर्पित रहता है। अतः भक्त होने के कारण सूरदास के विनय के पद उनके आत्म निवेदन के प्रतीक हैं।

तुलसीदास

तुलसीदास की जीवनी एवं कृतियाँ

प्रश्न १. तुलसीदास के जीवन वृत्त तथा कृतियों पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – भक्त प्रवर महाकवि तुलसीदास की जीवनी के सम्बन्ध में विद्वानों हिन्दी के सुश्री समालोचकों में मत–वैभिन्य बना हुआ है, और आज भी कई वर्षो से उन पर गवेषणात्मक कार्य हो रहा है किन्तु अभी तक उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाणभूत सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी।

उपलब्ध अन्तःसाक्ष्यों और परम्परागत जनश्रुतियों का आधार लेकर तुलसी का जीवन वृत्त इस प्रकार दिया जा सकता है।

जन्मतिथि – तुलसीदास की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं – गोस्वामी तुलसीदास का जन्म बाबा बेनी माधव दास की दृष्टि में संवत् १५५४ था।

शिवसिंह सरोज रचियता संवत् १२८३ तथा विल्सन ने संवत् १५०० वि० माना है। डॉ० ग्रियर्सन ने "घट रामायण" के आधार पर उनका जन्म सं० १५८१ माना है, डॉ० माता प्रसाद गुप्त इसे ही प्रमाणित मानते हैं। डॉ० गुप्त के साथ ही, डॉ० विमल कुमार जैन तथा डॉ० गुलाब राय ने भी इसे ही अधिक मान्य समझा है। परन्तु डॉ० भगीरथ मिश्र ने तो "मूल गोंसाई चरित्र" की तिथि सं० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी को ही उनकी जन्म तिथि माना है। जहाँ तक तिथि का प्रश्न है – "श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धर्यो शरीर" यह उक्ति प्रसिद्ध है। आज भी इसी तिथि पर तुलसी जयन्ती सम्पन्न होती है। संवत् के सम्बन्ध में डॉ० गुप्त, डॉ० जैन तथा डॉ० गुलाब राय का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

जन्म स्थान – इस सम्बन्ध में भी बड़ा मतभेद है तथा गर्सा दि तासी, शिव सिंह सेंगर, राम गुलाम द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि राजापुर को तुलसी का जन्म स्थान मानते हैं। रामनरेश त्रिपाठी आदि विद्वान सूकर क्षेत्र मानते हैं। परन्तु वास्तव में सोरों ही इनका जन्म स्थल था। कवि ने स्वयं भी कहा है –

"मैं पुनि निज गूरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउ अचेत।।" **रामचरित मानस–बालकाण्ड**

माता पिता – वाह्य साक्ष्य और जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था। परन्तु माता का नाम अन्तः साक्ष्य तथा वाह्य साक्ष्य दोनों की दृष्टि से "हुलसी" था। अतः उन्हें निर्विवाद रूप से हुलसी का पुत्र ही कहा जायेगा। "तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।"

नाम – आरम्भ से ये तुलसी के नाम से ही सुशोभित थे, कदाचित वैराग्य धारण करने के पश्चात् इन्होंने अपना नाम तुलसीदास कर लिया हो। प्रायः राम का नाम लेते रहने के कारण इनका नाम राम बोला पड़ गया था। यह विनय पत्रिका से स्पष्ट हो जाता है। **"राम को गुलाम नाम राख्यो रामबोला राम"**।

जाति और कुल – यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास जी जाति के ब्राह्मण थे। परन्तु वह कान्यकुब्ज थे या सनाढ्य अथवा सरयूपारी। उन्हें सरयूपारीय मानने वालो की संख्या अधिक है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार वे कान्यकुब्ज थे और "वार्ता" के अनुसार तुलसी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके सनाढ्य ब्राह्मण होने की पुष्टि निम्न पंक्ति से की गई है –

"दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।

इसके अनुसार उन्हें शुक्ला कहा गया है, जो सनाढ़ों का एक गोत्र है, परन्तु सुकुल का अर्थ है सुन्दर तथा उच्च कुल। तुलसी को बाल्यावस्था से ही माता पिता का स्नेह नहीं मिला, उनका जीवन प्रभाव तुरन्त ही तपोमयी सन्ध्या में परिवर्तित हो गया। तुलसी ने अपने को मंगन कहा है –**"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि, भयों परिताप पाप जननी जनक को।"** कवि तो स्वयं ही जाति–पाति की महत्व नहीं देता –

"धूत कहौ अवधूत कहौं रजपूत कहौं जुलाहा कहौं कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगार न कोऊ।।"

बाल्यकाल तथा गृहस्थ जीवन – वस्तुतः तुलसीदास का बाल्यकाल अत्यधिक कष्टपूर्ण था। यह स्वयं उनकी कृतियों से स्पष्ट हो जाता है कि वे बाल्यावस्था से ही

माता–पिता द्वारा परित्यक्त होने पर संतृप्त और अभिशप्त से इधर उधर घूमा करते थे उनकी इस दीन स्थिति का प्रसंग उनकी कृतियों में आये हैं।

"मात पिता जग जाई तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।" तथा
"बारे ते ललात बिललात द्वारं द्वार दीन।
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक कौ।"

उनकी इस दयनीय दशा को देखकर कुछ साधु सन्तों ने दयाग्र होकर उन्हें राम की शरण में जाने का उपदेश दिया। यद्यपि हनुमान बाहुक के एक छन्द के आधार पर अनुमान होता है। कि तुलसी दास लोकरीति में पड़ कर किसी मठ या आश्रम की गद्दी के महन्त भी हुये। लेकिन साथ ही कतिपय जनश्रुतियों एवं पुष्ट वाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनका २२–२४ वर्ष की अवस्था में बदरिका ग्राम के निवासी दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से विवाह होना भी विचारकों ने माना है। ऐसा कहा जाता है कि तारापति नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था जो अल्पायु में ही मृत्यु का प्राप्त हुआ और तुलसीदास उन दिनों कथावाचन से ही अपनी आजीविका कमाते थे तथा सुखपूर्वक रहते थे। तुलसी की अपनी पत्नी से प्रगाढ प्रेम था। एक बार जब रत्नावली मायके में थी, अविरल वर्षा होने पर तथा नदी में अत्यधिक बाढ़ होते हुए भी वे ससुराल पहुंचे। उन्हें इस अवस्था में देखकर पत्नी ने उन्हें धिक्कारते हुये कहा – इस प्रकार यहाँ आते हुए लज्जा नहीं आई। जब तुलसी ने कहा तुम्हारा प्रेम यहाँ खींच लाया तो उन्हें ताना देती हुई रामभक्ति की ओर संकेत किया। यथा –

"अस्थि चर्म मय देह मय तामें ऐसी प्रीति
जो होती भगवान में होत न तव भव भीति।।"

रत्नावली की यह उक्ति तुलसी में वैराग्य जगाने में प्रेरक बनी और वे तीर्थ यात्रा पर चले गये।

दीक्षा गुरू तथा जीवन वृत्त सम्बन्धी अन्य संकेत – तुलसी रामानन्द के सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उन्होंने **"बन्दौ गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि"** नामक पंक्ति के अनुसार अपने गुरु को "नर रूप हरि" कहा है। सम्भवतः इसी आधार पर लोग उनके गुरु का नाम नरहरिदास कहते हैं। परन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अकबर कालीन नरहरि महराज को उनका गुरु समझना असंगत एवं अनुचित है और सच तो यह कि ये दुसरे ही नरहरि हैं। डॉ० विमल कुमार जैन ने तो सोरों में चकतीर्थ के पास की एक पाठशाला में संचालक नृसिंह चौधरी तथा इन नरहरि को एक ही माना है।

"गोंसाई चरित्र" के अनुसार वैराग्य धारण करमे के पश्चात् तुलसी ने पन्द्रह वर्ष का तीर्थयात्रा और पर्यटन किया और अन्त में चित्रकूट में अपना निवास स्थान निर्धारित किया। यहीं पर इन्हें प्रेत दर्शन हुये, जिसकी सहायता से इन्होंने हनुमान और राम के दर्शन किये। संवत् १६१६ में यहीं इनकी सूरदास से भेंट हुई। इसके पश्चात् उन्होंने राम और कृष्ण सम्बन्धी पद लिखे। इन पदों को संवत् १६२८ में राम गीतावली और गीतावली के नाम में संग्रहीत किया। तत्पश्चात् काशी गमन किया और शिव ने दर्शन देकर इन्हें

रामकथा लिखने के लिये प्रेरित किया। अतः अयोध्या आकर इन्होंने १६३१ में रामचरित मानस की रचना की **"संवत सोरह सै इकतीसा, कहौं कथा हरि पद धरि सीसा।"** तत्पश्चात् तुलसी ने रामावली, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल आदि ग्रन्थों की रचना की। १६६१ में बाहुक और वैराग्य संदीपनी की रचना की।

जहाँगीर तुलसी के दर्शनार्थ काशी आया और उनको धन सम्पन्न करना चाहा, परन्तु तुलसीदास ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में संवत् १६८० में गंगा तीर असी घाट पर तुलसी ने श्रावण कृष्णा तीज दिन शनिवार को महाप्रस्थान किया।

"संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि तुलसी तज्यों शरीर।।"

इस प्रकार तुलसी के जीवन सम्बन्धी तीन साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। अन्तः साक्ष्य, वाह्य साक्ष्य और जनश्रुति। इनमें सर्वाधिक प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य है।

तुलसी की कृतियाँ – यों तो नागरी प्राचारिणी सभा काशी की खोज के अनुसार तुलसी की तैंतीस कृतियों के नाम मिलते हैं। परन्तु डॉ० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० गुलाबराय, डॉ० भगीरथ मिश्र ने उनके निम्नलिखित बारह कृतियों को प्रामाणिक माना है – ये प्रमाण्य तुलसी कृत ग्रन्थ इस प्रकार हैं – १– रामलला नहछू, २– रामाज्ञा प्रश्न, ३– वैराग्य संदीपनी, ४– रामचरित मानस, ५– पार्वती मंगल, ६– जानकी मंगल, ७– बरवै रामायण, ८– गीतावली, ९– कृष्ण गीतावली, १०– विनय पत्रिका, ११– दोहावली, १२– कवितावली।

उनकी काव्य कृतियों के प्रतिपाद्य विषय मूलतः राम की अनन्य भक्ति ही थी।

राम काव्य परम्परा में तुलसीदास

प्रश्न २. राम काव्य परम्परा में महाकवि तुलसीदास का स्थान निर्धारित कीजिये।

अथवा

महाकवि तुलसीदास राम काव्य धारा परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – राम काव्य धारा का मूल उद्‌गम स्थल तो **"बाल्मीकि रामायण"** ही है इससे पूर्व राम कथा को कोई सुव्यवस्थित एवं समृद्ध काव्य प्राप्त नहीं होता है। वाल्मीकि रामायण का रचना काल ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक माना जाता है। इसके अतिरिक्त रामकाव्य का उल्लेख "महाभारत" के वनपर्व, द्रोणपर्व, शांतिपर्व एवं सभा पर्व में प्राप्त होता है। वनपर्व में रामोपाख्यान के रूप में राम कथा विस्तारपूर्वक मिलती है, जिसका मूलाध ार बाल्मीकि रामायण ही है। इसके पश्चात् बौद्ध जातकों में "दशरथ जातक" के अन्तर्गत राम कथा वर्णित हैं परन्तु उसमें काव्यात्मक सौन्दर्य के दर्शन नहीं होतें। जैन–ग्रन्थों में भी विमल सूरि कृत "पउम चरिउ" "पम्प रामायण" तथा गुणभद्र कृत उत्तर रामायण में भी राम काव्य के दर्शन होते हैं। साथ ही पद्यपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, श्रीमद्‌भागवत पुराण,

नृसिंह–पुराण, विष्णु पुराण, अग्नि पुराण आदि में राम कथा काव्य का उल्लेख मिलता है। इसमें वर्णनात्मकता का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त आध्यात्म रामायण, महारामायण, आनन्द रामायण, भुशुण्डि रामायण, अद्भुत रामायण आदि पौराणिक ढंग से रामायण ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें राम–काव्य के सुन्दर एवं सजीव रूप का दर्शन मिलता है।

संस्कृत एवं प्राकृत अपभ्रंश के उक्त प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के कतिपय महाकाव्यों एवं नाटकों में राम काव्य के दर्शन किये जा सकते हैं। इनमें से कालिदास कृत "रघुवश" रामकाव्य की दृष्टि में सर्वोत्तम ग्रन्थ है इसके अतिरिक्त अभिनन्दन कृत "रामचरित", करि भट्ट कृत "रावण वध", भौमिक भट्ट कृत "रावणार्जुनीय", कुमार दास कृत "जानकी हरण", क्षेमेन्द्र कृत "रामायण मंजरी", मल्लिनाथ कृत "रघुवीर चरित", विख्यात रामकाव्य मुरारि कृत अनर्धा राघव, राजशेखर कृत "बालरामायण", मधुसूदन और दामोदर कृत हनुमन्नाष्टक, जयदेव कृत प्रसन्न राघव, आदि संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों की कोटि में आते हैं।

मराठी में एकनाथ कृत भावार्थ रामायण, केशवराज कृत "रामायण" स्वयं भूदेव कृत "रामायण--पुराण" बंगला में कृतिवास कृत रामायण, द्विज अनन्त कृत अनन्त रामायण, असमिया में शंकरदेव कृत उत्तर काण्ड एवं "श्रीराम विजय नाटक", उड़िया में "जगन्मोहन रामायण", विलंका रामायण एवं विचित्र रामायण, गुजराती में नागर कृत रामायण, कहान कृत रामायण, काशी सुत कृत "हनुमन्त चरित" देव विजय मणि कृत राम चरित्र आदि। तमिल में तमिल रामायण तेलगू में द्विपाद रामायण, मलयालम में इराम चरित, कन्नड़ में "तारावे रामायण" आदि अनेक राम काव्य मिलते हैं, जिनमें प्रचुर काव्यात्मक सौन्दर्य विद्यामान है, जिनका मूलाधार बाल्मीकि रामायण ही है।

हिन्दी में भी रामकाव्य की विस्तृत परम्परा मिलती है। हिन्दी में सर्वप्रथम सं० १३४२ में लिखित कवि भूपति कृत रामचरित रामायण का संकेत मिलता है। किन्तु अभी उसकी कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ही रामकाव्य में प्रमुख कवि हैं। तुलसी के समकालीन कवियों में से मुंनेलाल कृत "रामप्रकाश" काव्य मिलता है जो रीतिशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। इसी काल में नाभादास ने राम भक्ति सम्बन्धी कुछ सुन्दर पद लिखे हैं। महाकवि केशव ने रामचन्द्रिका नामक महाकाव्य की रचना की है जिनमें काव्य कौशल का तो प्राधान्य है परन्तु चरित्र चित्रण एवं प्रबन्धात्मकता की उपेक्षा की गई है। सेनापति ने भी अपने कवित्त रत्नाकर में चौथी एवं पांचवीं तरंगों के अंतर्गत रामायण एंव राम रसायन का वर्णन किया है। तुलसी के समकालीन कवियों के उपरांत भी हिन्दी में राम काव्य के दर्शन होते हैं। इनमें से हृदय राम कृत "हनुमन्नाष्टक" मिलता है, जिसमें राम भक्ति का सुन्दर विवेचन मिलता है। इसके उपरांत प्राणचन्द चौहान कृत रामायण महानाटक मिलता है, जो संवाद के रूप में लिखा गया है। परन्तु इसमें उत्कृष्ट काव्य सौन्दर्य का अभाव है। तत्पश्चात् लालदास कृत "अवध विलास" मिलता है। जिसमें राम सीता की विविध लीलाओं का वर्णन मिलता है और रामप्रियाशरण कृत "सीतायण" ग्रन्थ मिलता है। इसमें सीता जी के चरित्र की प्रधानता है। साथ ही राम कथा का भी वर्णन

मिलता है। इसके उपरांत जानकी रसिक शरण कृत "अवधी सागर" ग्रन्थ मिलता है। इसमें कृष्ण की ही भांति श्री राम एवं सीता के रास, नृत्य, वन विहार आदि का सरस वर्णन किया गया है। तदन्तर कलानिधि कृत "रामायण सूचनिका" ग्रन्थ मिलता है। जिसमें रामायण की प्रमुख घटनाओं का विवरणात्मक उल्लेख किया गया है। इसके उपरात गुरु गोविन्द सिंह कृत "गोविन्द रामायण", सहजराम कृत "रघुवंश दीपक", श्रीधर कृत "राम चरित्र", नवल सिंह उपनाम रामानुजदास शरण कृत रामचन्द्र विलास नामक प्रसिद्ध रामकाव्य मिलते हैं। इसके साथ ही रीवां नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह कृत राम काव्य सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें से "आनन्द रघुनन्दन" नाटक, "संगीत रघुनन्दन", "आनन्द रामायण", रामचन्द्र की सवारी", गीता रधुनन्दन रामायण आदि प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी में प्रेम सखी, गंगाराम, रामगोपाल, परमेश्वरी दास, गणेश, राम गुलाम द्विवेदी, जनक लाड़िली शरण, गिरधर दास प्रभृति किरन ही हिन्दी के ऐसे छोटे–छोटे कवि मिलते हैं, जिन्होंने रामकथा सम्बन्धी काव्य लिखे हैं। इनमें रामायण के कतिपय अंशों का सुन्दर वर्णन मिलता है। इनमें से मधुसूदन दास कृत रामाश्वमेघ ग्रन्थ तुलसी कृत "रामचरित मानस" के ही आदर्श पर लिखा गया है। जो अन्य सभी ग्रन्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

रामकथा सम्बन्धी कितने ही काव्यों का प्रणयन आधुनिक युग में ही हुआ है। जिनमें से रामचरित उपाध्याय कृत "रामचरित चिन्तामणि", मैथिलीशरण गुप्त कृत "साकेत", रामनाथ ज्योतिषी कृत "श्री रामचन्द्रोदय", अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत "वैदेही वनवास", डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत साकेत सन्त हरदयालु सिंह कृत रावण महाकाव्य, बालकृष्ण शर्मा नवीन कृत "उर्मिला" काव्य प्रसिद्ध है।

इस प्रकार राम काव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण वांमय का अध्ययन– अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि तुलसी ने जिस राम काव्य का वर्णन किया है, वह **"नाना पुराण निगमागम सम्मत"** होने पर भी अन्य सभी काव्यों की अपेक्षा अपनी कतिपय विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। इसमें तुलसी ने एक आदर्श समाज एवं आदर्श धर्म की प्रतिष्ठा की है। रामचरित मानस के पात्रों में आदर्श चित्रण द्वारा लोकहित एवं लोकमंगल की शिक्षा देते हुए सम्पूर्ण विश्व के मानवों के सम्मुख आदर्श जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। तुलसी का सम्पूर्ण राम काव्य अपनी गम्भीरता, प्रभावोत्पादकता, सरसता, सुन्दरता एवं भाव–सम्प्रेषण क्षमता में सर्वश्रेष्ठ है। उत्तर भारत में तो कुटी से लेकर उन्नत प्रासाद तक तुलसी के राम काव्य की गरिमा अक्षुण्ण है। इसे श्रद्धा एवं आदर प्राप्त है। समस्त जन जीवन के कर्तव्य एवं धर्म का प्रेरक ग्रन्थ है। तुलसी ने राम के जिस आदर्श चरित्र की स्थापना की है, उसका स्वरूप पूर्ववर्ती एवं परवर्ती किसी भी राम काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही तुलसी ने काव्य की दृष्टि से अपने काव्य में जो गुरुता, गम्भीरता एवं माधुर्य की सृष्टि की है, वह भी अनुपम एवं अद्भुत है। इसकी समता भी अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही **"नाना–पुराण निगमागत सम्मत"** एवं छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस होकर भी तुलसी का काव्य मौलिकता में अन्य सभी काव्यों को अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि उसमें तुलसी ने

अपनी अद्भुत रचना चातुरी, नवोन्मेष शालिनी, प्रतिभा, विलक्षण उद्भावना शक्ति, उर्वर कल्पना, एवं उत्कृष्ट काव्य कला के योग से एक ऐसे दिव्य एवं भव्य काव्य का निर्माण किया है, जिसकी तुलना में कोई भी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती काव्य नहीं ठहरता। यही कारण हैं कि गोस्वामी तुलसीदास मार्मिक प्रसंगों के वर्णन की दृष्टि से सुव्यवस्थित कथा योजना की दृष्टि से, श्रीराम में शक्तिशील एवं सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से, उच्च कोटि की शिष्टता एवं साधुता की स्थापना की दृष्टि से तथा उत्कृष्ट शील निरूपण एवं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सर्वोपरि है और इसीलिये वे रामकाव्य धारा अथवा परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं।

तुलसीदास की भक्ति भावना

प्रश्न ३. तुलसीदास की राम की भक्ति भावना पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

अथवा

गोस्वामी तुलसीदास प्रथम राम भक्त हैं तत्पश्चात कवि। सोदाहरण सिद्ध कीजिये।

अथवा

विश्व के साहित्य में तुलसीदास की भक्तिभावना अद्वितीय है। समीक्षा कीजिये।

उत्तर – गोस्वामी तुलसीदास प्रथम राम भक्त हैं तत्पश्चात् कवि। उनकी कविता का हेतु ही है राम का गुणगान गाना। **"करन चहौं रघुपति गुन गाथा।"** उनकी समस्त कृतियों में उनकी भक्ति भावना का व्यापक रूप से उन्मेष हुआ है। गो० तुलसीदास ने अपनी कृतियों में विशेषतः रामचरित मानस, विनय पत्रिका आदि में अपना ह्रदय खोल कर रख दिया है। तथा भक्ति की पूर्ण पद्धति का अनुसरण करते हुये राम से अपने उद्धार की प्रार्थना की है। यही कारण है कि उनके ग्रन्थ भक्त ह्रदय के सर्वस्व बन गये हैं।

तुलसी अपने राम के अनन्य भक्त थे।

"जेहिं जोनि जन्मउं कर्म बस, तहं राम पद अनुरागऊँ।।"

का वरदान मांगने वाले तुलसी केवल राम के भक्त थे। उन्हें केवल अपने राम का ही अवलम्ब है।

"एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम धन स्याम हित चातक तुलसी दास।।" – **दोहावली**

कहकर चातक को अपनी भक्ति का परम आदर्श माना है, और अपने इष्ट देव के प्रति अनन्य प्रेम, अटूट श्रद्धा परम विश्वास एवं गहन प्रीति प्रतीति प्रकट करते हुये अपनी उत्कृष्ट भक्ति भावना को प्रकट किया है। तुलसी की भक्ति में श्रद्धा और विश्वास का निगूढ़ समन्वय मिलता है और दैन्य इसका मूलाधार है। यह भक्ति सहज ही सुलभ होने वाली नहीं है, बड़ी दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति हेतु तुलसी के संत ह्रदय ने नाना देवी देवताओं की वन्दना की है, और राम की विमल भक्ति की ही याचना की है। विनयपत्रिका के प्रारम्भ से

ही श्री गणेश वन्दना, शिव, देवी, सूर्य, हनुमान, गंगा–यमुना स्तुति आदि मे तुलसी की यह याचना बड़े विनम्र भाव से दृष्टिगत हुई है।

"मांगत तुलसिदास का जोरे, बसहिं राम सिय मानस मोरे।। तथा
"देहु कामरिपु राम चरन रति तुलसिदास कहं कृपानिधान।।"

वह राम की अनपायनी भक्ति चाहते हैं और शिव से उनका यही निवेदन है –

"तुलसिदास हरि चरन कमल बर देहु भगति अनपायनी।"

देवी स्तुति में वह अपने अचल नियम राम पद प्रीति की याचना करते हैं –"रघुपति पद परम प्रेम तुलसी यह अचल नेम", "देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनत पालिका।" तीथों से भी तुलसी राम भक्ति के ही याचक रहे हैं। छन्द २३ विनयपत्रिका। आखिर तुलसी का संत हृदय था, उन्हें संसार के किसी सुख से रति नहीं थी, उन्हें यदि कुछ अभीप्सित था, तो वह राम के चरणों का प्रेम। उनका विनम्र निवेदन इस प्रकार है –

"चहौं न सुगति सुमति संचत्ति रिधि सिधि बुध विपुल बड़ाई
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।"

प्रारम्भ से अंत तक हम तुलसी की कृतियों में भक्त हृदय की अद्‌भुत तन्मयता का दर्शन करते हैं।

तुलसी की भक्ति भावना का प्रथम सोपान है राम के प्रति दृढ़ अनुराग तथा संसार के प्रति विराग की भावना का जागरण। भक्त जब संसार से अपने मन को मोड़कर उसे राम के चरणों में लगता है तभी वह भक्ति के प्रथम सोपान पर चढ़ता है। किन्तु ऐसा कर सकना जीव के लिये सरल नहीं है तभी तो वह राम भक्ति प्राप्ति के लिये नाना देवी देवीताओं से प्रार्थना करता है। जब भक्त को रामचरण रति मिल जाती है, तब वह स्वतः भक्ति के अगले सोपानों पर चढ़ने लगता है। उस समय उसे संसारिक सुखों की लालसा नहीं रहती और संसार के प्रति विमय वैराग्य हो जाता है। यह वैराग्य ही रामभक्ति के आगे का सोपान है किन्तु इस वैराग्य को प्राप्त करने क लिये तुलसी को अपने मन को बार–बार प्रबोधित करना पड़ता है –

"मन इतनोई या तन को परम फलु।
सब अंग सुभग बिन्दु माधव छवि।
तजि सुझाव अवलोकि एक पलु।।"
तथा – "मन पछितइहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु।
करम बचन अरु ही ते।।"

× × ×

अब नाथहि अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी, कहुं, विषय–भोग बहु घी ते।।

तुलसी आगे कहते हैं –

"मन मेरे मानहि सिख मेरी, जो निज भगति चहै हरि केरी।।

उर आनहि प्रभु कृत हित जेते, सेवहि तजे अपनपउ चेते।।
दुख सुख अरु अपमान बड़ाई, सब सम लेखहिं विपति बिहाई।।
सुनु सठ काल ग्रसित यह देही, जनि तेहि लागि विदूषहिं केही।।
तुलसीदास बिनु असि मति आये, मिलहिं न राम कपट–लौ लाये।''

तुलसी वैराग्य के अभाव में भक्ति का भी अभाव मानते हैं।

''मैं जानी हरि पद रति नाहीं, सपनेहु नहिं विराग मन माही।
जो रघुबीर चरन अनुरागे, तिन्ह सम भोग रोग सम लागे।।''

वैराग्य के उपरान्त तुलसी की भक्ति भावना में संतोष का सोपान आता है। बिना संतोष के भक्ति की पूर्णता को साधक नहीं प्राप्त कर सकता। राम की अविचल हरि भक्ति तभी मिल सकती है जब एक भक्ति की ''रहनि'' तुलसी के शब्दों में इस प्रकार हो –

''कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदां काहू ते कुछ न चहौंगो।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।

इस पथ पर चलकर ही अविचल हरि भक्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही पंथ तुलसी का था।

भक्त के लिए विनम्र होना, अत्यंत आवश्यक है। इसमें अहं का लेश भी नहीं होना चाहिए। तुलसी की विनम्रता अत्यंत विशद रूप में चित्रित हुई है। उनका दैन्य चरम सीमा पर पहुंच गया है। यथा –

''मेरो भलो किशे राम आपनी भलाई।
हौं तो साई–द्रोही पै सेवक–हित साई।
राम सो बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो।।
लोक कहै राम को गुलाम हौं कहावौं।
एतो बड़ो अपराध भी न मन भावो।
पाथ माथे चढ़े तन तुलसी ज्यों नीचे।
बोरत न बारि ताहि जाति आपु सींचे।।''

इन पंक्तियों से सचमुच भक्त का हृदय बोल रहा है।''

एक अन्य उदाहरण भी भक्त हृदय की झांकी प्रस्तुत करता है।

''कहाँ जाऊं कासौ कहौं कौन सुने दीन की।
त्रिभुवन तुही गति सब अंग हीन की ।

जग जगदीस कर धरनि धनेरे हैं।
निराधार के अधार गुन गन तेरे हैं।
गजराज-काज खगराज काज धाये को।
मों से दोस कोस पोसे तोसे माय जायो को।
मों से कूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहु मोह ते करैया गीध स्माध के।
तुलसी के नेरे ही बनाये बनि बनैगी।
प्रभु की विलम्ब अम्ब दोष दुख जनैगी।।"

भक्ति को "प्रेमरूपा" तथा गोपा नामक दो भेदों में विभक्त किया गया है। गोपा भक्ति को सात्विकी, राजसी और तामसी नामक तीन उपभेदों में विभाजित किया गया है। सात्विकी भक्ति में उपासना प्रधान होती है। राजसी भक्ति मूर्तिपूजापूरक होती है तथा तामसी भक्ति हिंसा पर आधारित रहती है। तुलसी में प्रेमरूपा भक्ति को प्रधानाता है – सात्विकी गोपा भक्ति को भी स्थान मिला है। तुलसी कहते है–

"संसय जप तप नेम धरम ब्रत बहुत भेषज समुदाई।
तुलसिदास भव रोग राम पद प्रेम हीन नहिं जाई।।"

प्रेमरूपा भक्ति भक्त की तीन कोटियों पर आधारित है। भक्त का प्रेम गौण, मुख्य और अनन्य तीन प्रकार का होता है। तुलसी का प्रेम अनन्य प्रेम है। अतः उनकी भक्ति भी अनन्य है।

तुलसी ने अपनी भक्ति भावना में भक्ति की समस्त पद्धतियों नवधा भक्ति आदि का अनुसरण करते हुए उन्होंने अपने उद्धार की प्रार्थना अपने आराध्य से की है। अपने इष्ट देव की श्रेष्ठता तथा अपनी दीनता वर्णित की है। उनकी दृष्टि में राम सा श्रेष्ठ स्वामी कोई और नहीं है नाहीं तुलसी सा कुसेवक।

"मोरि सुधारिहि सो सब भाती, जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।
राम सुस्वामि कुसेवक मोंसो, निज दिसि देखि दयानिधि पोसो।।"

उनके राम समस्त संसार के लिए सकल सुमंगल दायक हैं। भव के विषय भय का हरण करने वाले हैं। शोक विमोचन हैं। बड़े आश्वास्त शब्दों में तुलसी कहते हैं –

"सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुनगान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिन्धु बिना जलजान।।"

तुलसी ने तो वाणी की सार्थकता ही राम नाम उच्चारण में समझी है।

"राम नाम बिनु गिरा न सोहा, देखि विचारि त्यागि मद मोहा।"

तुलसी की भक्ति के श्रेष्ठतम सोपान हैं – अपने आराध्य के प्रति हेतु रहित अनुराग, वैराग्य, अन्तःकरण की शुद्धता, काम–क्रोध, मद, लोभादि नरक के पंथ है। इसीलिये तुलसी की सीख रही है –

"काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संन्त।।"

सन्तोष, विनम्रता, अहं का त्याग, दैन्य, आत्मसमर्पण आदि। दैन्य की तो पराकाष्ठा ही है। तुलसी की भक्ति भावना में। इनकी अनन्य भक्ति भावना दास्य और आत्मनिवेदन भावों के साथ ही व्यक्त हुई है – उनके निर्मल हृदय की झांकी इन पंक्तियों में प्रस्तुत है –

(१) "माथ नाइ नाथ कहौं, हाथ जोरि खर्‌यो हौ"

(२) "नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेह निबहैं हो।"

यह छर झर ताहि तुलसी, जग जाको दास कहैहो।"

तुलसी का विश्वास है –

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरइ उरगारि"

आत्मसमर्पण का भाव – "जाऊं कहाँ तजि चरन तिहारे" और "जाउं कहाँ ठौर है, कहाँ देव दुखित दीन को" तुलसी के राम उनके कल्पतरु हैं –

"भरोसो नाहिं दूसरों सों करौ।

मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो।"

जिसे राम प्रिय नहीं, वह तुलसी के लिय सर्वथा त्याज्य है –

"जाके प्रिय न राम बैदेही।

ताजिये तारहिं कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।"

उनका तो यही मत है – "जासो होय सनेह रामपंद एतो मतो हमारो" और वह दैन्य भाव से राम का प्रेम की मांगते रहे। उनका विकल स्वर है, यही उनकी आश्वस्त भावना है।

"कामहि नारि पिआरि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोंहि राम।।"

तुलसी की इस भक्ति भावना में यश, ख्याति और ऐश्वर्य प्राप्ति की लालसा नहीं है, यहाँ तो भक्त आत्म–समर्पण द्वारा केवल भगवान का सामीप्य लाभ पाना चाहता है। इस तरह तुलसी यहाँ सर्वतोभावेन भगवच्चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करके सांसारिक वैभव, सामाजिक बन्धन, पारिवारिक माया मोह, आदि से उपरत हो गये हैं, और उनके हृदय में एक मात्र राम ही रमते दिखाई देते हैं। भक्त तुलसी की इसीलिये कैवल्य पद की भी चाह नहीं है और वह मुक्ति का निरादर करके एकमात्र भक्ति में ही लीन रहना अच्छा समझते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के सभी **ग्रन्थ रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली, दोहावली, विनय पत्रिका** आदि में उनकी यह अविचल अनन्य हरि भक्ति भावना की हृदयग्राही झांकी मिलती है। **स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ** गाथा का गुणगान करने वाले तुलसी केवल रामभक्त थे। लोकजीवन के समक्ष प्रस्तुत तुलसी की रामगाथा का सुरसरि है, जिसके दर्शन मज्जन पान से लोक जीवन का सब विधि कल्याण है।

तुलसी की दार्शनिक विचारधारा

प्रश्न ४. तुलसी की दार्शनिक विचारधारा पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

अथवा

तुलसीदास जी भक्त, कवि, समाज सुधारक होने के साथ–साथ ज्ञाननिधि तथा दर्शन शास्त्र के महावेत्ता थे। सोदाहरण समीक्षा कीजिये।

उत्तर – भक्त प्रवर तुलसीदास की दार्शनिक विचार–धारा के अनुशीलनार्थ यह आवश्यक है कि ब्रह्म, जीव, जगत और माया के सम्बन्ध में तुलसी की तात्विक दृष्टि से भली भाँति अवगत हों। भक्त, कवि, सुधारक होने के साथ–साथ ज्ञाननिधि तुलसी दर्शनशास्त्र वेत्ता भी थे। अतः उसका भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में सुन्दर स्फुरण किया है।

तुलसी के ब्रह्म सम्बन्धी विचार – तुलसी ने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अज, निर्विकार, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानंद, अनादि, व्यापक, अनाम, विश्व रूप आदि माना है। यथा –

"व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनंता, अखिल अमोघ एक भगवन्ता।
सोई सच्चिदानंद घनश्यामा, अज विज्ञान रूप गुण धामा।
अगुण अगम्य गिरा गोतीता, समदरसी अनवद्य अजीता।
निगुर्ण निराकार निर्मोहा, नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।।"

तथा "व्यापक एक ब्रह्म अविनासी सत चेतन घन आनन्द रासी" कहकर इसकी पुष्टि की है। तुलसी ने राम को ही ब्रह्म कहा है, उनको ही विरज, अकल, अभेद आदि बताया है। इसी कारण "अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरानि नरभूप रूप" कह कर राम और ब्रह्म को अभेद दृष्टि से देखा है। यथा –

"राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।।
तथा – उनके राम – विधि हरि सम्भु नचावनि हारे।
.....चिदानन्द मय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी।"

तुलसी का ब्रह्म स्वतंत्र एवं सच्चिदानन्द घन है। अखिल अमोघ शक्ति सम्पन्न है। साथ ही वह सगुण साकार भी है और राम के रूप में अवतार भी धारण करता है। यथा –

"नरतनु धरेहु संत सुर काजा, कहहु करहु जस प्राकृत राजा।" तथा –
"जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसल पति भगवान।।"

वह ब्रह्म जो राम के रूप में अवतीर्ण हुआ है सबके घर–घर में व्याप्त है –

"राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी, सर्व रहित सब उर पुर वासी।"

निर्गुण और सगुंण का भेद तुलसी की दृष्टि में नहीं है –

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।"
"अगुन अरूप अलख अज होई भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे जलहिम उपल बिलग नहिं जैसे।।"

जीव सम्बन्धी विचार – तुलसी ने जीव के विषय में विचार करते हुये बताया है कि यद्यपि जीव का निर्माण "छिति जल पावक गगन समीरा।" नामक पंच तत्वों से हुआ है, फिर भी वह देहेन्द्रिय, मन, प्राण एवं बुद्धि से विचक्षण है, चैतन्य है, नित्य है। यथा – ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी" बताया है। ईश्वर का अंश होने के कारण जीव में भी ईश्वर या ब्रह्म के सभी गुण विद्यमान है परन्तु ईश्वर और जीव में विद्यमान अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुये तुलसी ने "परबस जीव स्वबस भगवन्ता" कहकर स्पष्ट बताया है कि जीव माया के वशीभूत है। जीव माया के प्रभाव से अपने अमल रूप से मलिन हो जाता है और सहज सुखराशि रूप से दुखःमय रूप धारण कर लेता है।

"सो माया बस भयउ गोंसाई, बन्ध्यो कीर मरकट की नाई।
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि जाई, जदपि मृषा छूटत कठिनाई।
जब ते जीव भयउ संसारी, छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी।।"

और इसका परिणाम यह होता है।

"जीव हृदय तम मोह विसेषी, ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।"

माया जीव के चतुर्दिक लिपटी रहती है –

"भूमि परत भा डाभर पानी जिमि, जीवहिं माया लपटानी।।"

इतना ही नहीं तुलसी ने "विषयी साधक सिद्धि सयाने, त्रिविध जीव जग वेद बखाने।" कहकर जीवों के तीन भेद बताये है – १– विषयों अर्थात् बद्ध जीव। २– साधक अर्थात् मुमुक्ष जीव। ३– सिद्ध अर्थात् मुक्त जीव। साधारणतयः अपने कर्मानुसार ही जीव सुख–दुख का भोगी बनता है। किन्तु उसकी सम्पूर्ण गतिविधि ब्रह्म के हाथ में रहती है। जीव की स्थिति तो है – "निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता।"

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुये तुलसी ने बताया है कि ब्रह्म तो मायापति है और जीव माया के वश में। इसीलिय जीव ब्रह्म का सखा नहीं अपितु सेवक है। "मैं सेवक रघुपति पति मोरे" कहकर तुलसी ने ब्रह्म और जीव के इसी सेवक–सेव्य भाव की ओर स्पष्ट संकेत किया है। ईश्वर मोक्ष प्रदाता है सबसे परे और सबकी मर्यादा है परन्तु जीव मे यह सामर्थ्य नहीं हैं। माया से प्रेरित होने पर भी जीव काल कर्म स्वभाव और गुणों के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश चेतन अमल होते हुये भी ब्रह्म से पृथक है।

जगत सम्बन्धी विचार – तुलसी ने जगत के सम्बन्ध में – "जदपि मृषा सत्य भाषै जब लग नहिं कृपा तुम्हारी" कहकर स्पष्ट ही मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण बताया है। जो देखने में सत्य प्रतीत होता है, पर है नहीं इतना ही नहीं "बूड़यो मृगवारि खायो जेवरी को सांप रे" कहकर जगत को "मृगवारि" एवं जेवरी के साँप की भांति भ्रमात्मक बताया है और "जागु जागु जीव जड़ जोहे जग–जामिनी। देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी।" कहकर जीव

को सावधान किया है। इस नश्वर जगत के भुलावे में पड़कर भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं। "अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।" कहकर तुलसी ने संसार की विषमता, भयंकरता आदि की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं इस भयावह संसार ने – "व्यापि रह्मो संसार महुं माया कटक प्रचण्ड सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड" कहकर संसार में व्याप्त माया की सेना की ओर संकेत किया है। जो काम, क्रोध, मद लोभ, मोह, मात्सर्य, दम्भ, कपट, छल आदि के रूप में यहाँ विद्यमान होकर निरन्तर जीवों को भ्रमित करती रहती है और अधः पतन की ओर ले जाती है। इस संसार सम्बन्धी भ्रम की ओर बड़ी तत्परता से सचेत किया है – "हरि यह भ्रम की अधिकाई।" वाले पद में तुलसी ने जगत की भ्रमात्मक सत्ता पर आश्चर्य प्रकट किया है। इतना ही नहीं तुलसी मन को प्रबोधित करते हुये कहते हैं –

"जो निज मन परिहरै विकारा, तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।" तुलसी की दृष्टि में द्वैत ही दुखों का मूल कारण है। इस द्वैत का मूल कारण अज्ञानता ही है। परन्तु यह द्वैत भगवद् कृपा से ही नष्ट हो सकता है। इस प्रकार तुलसी ने जगत को मिथ्या तो सिद्ध किया है परन्तु "कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कर माने। तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम तो आपन पहिचाने।" कहकर अन्त में संसार को सत्यता, असत्यता, सत्यासत्यता तीनों मतों को भ्रमात्मक कहकर भक्ति को अपनाने का आग्रह किया हैं। इस तरह तुलसी ने जगत के निरूपण में शंकर का अनुसरण करके भी अन्त में रामानन्द के अनुकूल ही भक्ति सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं।

माया सम्बन्धी विचार – तुलसी ने माया के दो रूप माने हैं। विद्या और अविद्या। अविद्या माया जीव को ब्रह्म से पृथक करती है– मैं और तू के विचार इसमें बने रहते हैं "मैं अरु मोरे तोर ते माया।" वाला रूप अविद्या जनित है जिसके वशीभूत सम्पूर्ण जीव रहते हैं तथा गो गोचर जहां लग मन जाई, सो सब माया जान्यो भाई।" अविद्या माया संसृति का मूल है। प्रवृत्ति मार्ग के पथिक अविद्या की ओर बढते हैं। इसके अतिरिक्त विद्या माया जीव को संसृति के पाश से मुक्त करती है। निवृत्ति पथ के राही विद्या के वशीभूत होते हैं। इसी दूसरे रूप को स्पष्ट करते हुये तुलसी ने कहा है –

"स्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।"

इस प्रकार विद्या माया विश्व का सृजन, सिंचन और संहार करती है। यह विद्या रूपी माया स्वयं कुछ नहीं करती प्रत्युत मायापति की इच्छा से, प्रेरणा से ही सृष्टि संहार आदि कार्यों में प्रवृत्त होती है। यही विद्या माया जीव को भगवान से मिलाती है और जीव भव बन्धन से मुक्त होकर भगवान की शरण में जाता है। "हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या" कहकर तुलसी ने हरिभक्तों को अविद्या के प्रभाव से मुक्त, सदैव दूर किया है।

तुलसी ने तात्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म को एक ही माना है परन्तु दोनों में अन्तर आता है माया के कारण। इस तरह तुलसी जीव और ब्रह्म को एकता की ओर संकेत तो करते हैं परन्तु रामानुज की पद्धति पर मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म में द्वैत स्वीकार

करते हैं। तुलसी के द्वारा संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन देखकर कतिपय विद्वान तुलसी को अद्वैतवादी मानते हैं तथा जीव और ब्रह्म के अंश अंशी भाव को देखकर इन्हें कुछ विद्वान विशिष्टाद्वैत वादी बताते हैं। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी ने शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर ही जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है और शंकर की पदावलि "मृगवारि", "जेवरी के सांप" आदि को भी अपनाया है। परन्तु तुलसी रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय के भक्त थे और इस सम्प्रदाय की भांति राम को निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है। जीव का नानात्व और ब्रह्म से उसका भेद स्वीकार किया है। किन्तु जगत जीव माया के वर्णन में शंकर की पद्धति का ही अनुसरण किया है। भक्तिवाद और शंकर के मायावाद में साम्य वर्णन करने का प्रयत्न किया है। रामानुज बल्लभ, मध्वाचार्य आदि ने शंकर के मायावाद का खण्डन करके ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध भी है। ज्ञान के सम्बन्ध में तुलसी का मत है –

"ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका, साधन कठिन न मन कहुं टेका।"

ज्ञान दीपक की तुलना में भक्ति मणि का रूपक उपस्थित किया है। "रामभक्ति चिन्तामणि चारु" तथा "भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी", "सतत प्रकाश रुप दिन राती, नहिं कछु चहिअ दिया धृत बाती।" बताकर भक्ति की प्राप्ति का मार्ग सुगम हो कण्टक विहीन सिद्ध किया है। परन्तु तुलसी ने माया को ब्रह्म की शक्ति कहकर जगत में भ्रममय रूप की पहचान ज्ञान द्वारा सिद्ध करके शंकर और रामानन्द के दार्शनिक विचारों का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। फिर भी दार्शनिक दृष्टि से तुलसी विशिष्टाद्वैत के पोषक हैं। इसी आधार पर उनकी भक्ति भावना स्थिर रह सकती है।

तुलसी की लोक मंगल भावना और समाज आदर्श

प्रश्न ५. महाकवि तुलसी के काव्य में लोकहित और समाजहित की भावना पर अपने विचार व्यक्ति कीजिये।

उत्तर – जिस युग में तुलसीदास का आविर्भाव हुआ, उस युग में धर्म, समाज, राजनीति, आदि क्षेत्रों में सर्वत्र पारस्परिक वैषमय एवं विभेद का प्राबल्य था। धर्म के क्षेत्र में एक ओर हिन्दू–मुस्लिम भावनाओं के कारण वैमनस्य गहरा होता जा रहा था, तो दूसरी ओर शैव, शाक्त एवं वैष्णव मतावलत्बी परस्पर संघर्षरत थे। अपने–अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने में लगे थे और आपसी ईर्ष्या द्वेष बढ़ता ही जा रहा था। दक्षिण भारत में यह विद्वेष इतना फैल गया था कि शिवकांची और विष्णुकांची तक का निर्माण हो गया था। उत्तर भारत में भी धार्मिक संघर्ष चल रहा था। इन संघर्षो के द्वारा समाज में शांति का लेशमात्र भी भाव न था। ब्राह्मण, शूद्र, ऊंच, नीच के भेदभाव से हिन्दू समाज विश्रृंखलित हो रहा था। आपसी वैमनस्य के साथ ही वर्ग भेद उत्पन्न होता जा रहा था। इस वर्ग भेद की गहनता को लक्ष्य कर कहा जा सकता था कि भारतीय समाज पतन के गर्त में पहुंच चुका था।

यही स्थिति राजनीति एवं साहित्य के क्षेत्र में भी थी। उस समय अकबर जैसे धार्मिक सहिष्णु शासन में पारस्परिक ऐक्य एवं समता के लिए प्रयत्न अवश्य किये, परन्तु उन प्रयत्नों के पीछे उनकी स्वार्थ वृत्ति एवं राज्य लिप्सा होने के कारण उसे भी अधिक सफलता न मिली। तत्कालीन सन्तों ने अवश्य सारे भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। तुलसी ने इसी विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रवृत्ति को बल दिया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – "जिस युग में तुलसी का जन्म हुआ था, उस युग में समाज के आगे कोई ऊंचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे, जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निम्न स्तर के लोग दरिद्र, अशिक्षित ओर रोगग्रस्त थे। वैराग्य धारण करना एक साधारण सी बात थी। घर की सम्पत्ति नष्ट होने पर अथवा स्त्री की मृत्यु हो जाने से संसार में कोई आकर्षण न होने के कारण संयास धारण कर लिया जाता था। "अलख" की आवाज गर्म थी, यद्यपि वे अलख लखने वाले कुछ लख नहीं सकते थे। निम्न स्तर की कुछ जातियों में कई पहुंचे हुये महात्मा तो हो गये थे, जिनमें आत्म–विश्वास का संचार तो था, परन्तु शिक्षा और संस्कृति के अभाव में इसी आत्मविश्वास ने गर्व का रूप धारण कर लिया था। समाज मे धन की मर्यादा बढ़ रही थी। पंडितों और ज्ञानियों के साथ समाज का कोई सम्पर्क न था। सम्पूर्ण देश विश्रृंखल परस्पर विच्छिन्न आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। उस समय एक ऐसी आत्मा की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर भ्रष्ट टुकड़ों में योगसूत्र स्थापित कर सके। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।"

तुलसी ने समाज और धर्म में फैले सम्प्रदायों के नाड़ी चक्र को ध्यानपूर्वक देखा और उसके उपचार की सामग्री तैयार की। उनका यह उपचार समन्वयात्मक था। इस समन्वय के लिये तुलसी ने सामाजिक, पारिवारिक, अध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों को चुना और अपनी समन्वय प्रवृत्ति द्वारा तत्कालीन जन जीवन में व्याप्त घोर अशांति, पापाचार, अनाचार, अधार्मिकता, विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की। इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण तुलसी लोकनायक कहलाये। गौतम बुद्ध के उपरान्त आपको ही लोकनायकत्व का महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उनकी समन्वय दृष्टि में लोक मंगल की भावना ओत प्रोत थी। इसी भावना से अभीभूत हो तुलसी ने अपने साहित्य का प्रणयन किया – साहित्य के प्रति उनकी स्पष्ट दृष्टि इस प्रकार है –

"कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई" जिस कृति से सभी का मंगल हो कृति वही है और कृतिकार का लेखन भी तभी सफल है। तुलसी ने अपने रचना संसार में यही लोक मंगल की भावना भरी है। इसका अवलोकन करने के लिए तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि संक्षेप में प्रस्तुत है।

शैव और वैष्णव का समन्वय – भारतीय विचारधारा में त्रिदेव की कल्पना महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन मुख्य देवता माने जाते हैं। ये क्रमशः सृजन, सिंचन और संहार के देवता है। विष्णु को अपना आराध्य मानने वाले वैष्णव

कहलाते हैं और शिव को अपना आराध्य मानने वाले शैव कहलाते हैं। कालान्तर में विष्णु और शैव को ही सृष्टि का उत्पादक, पालक और संहारक कहकर सर्वशक्तिमान माना जाने लगा और फिर आपस में विद्वेष भी फैला जिसके परिणामस्वरूप दोनों मत परस्पर घृणा करने लगे। तुलसी के समय में यह विद्वेष अपनी पराकाष्ठा पर था। तुलसी ने दोनों मत में समन्वय स्थापित कर एक ओर शिव के मुंह से कहलाया – **"सोइ मम इष्ट देव रघुवीरा।"** और राम का उपासक शिव को सिद्ध किया। दूसरी ओर राम को शिव का अनन्य प्रेम यह कहकर सिद्ध किया –

"शिव द्रोही मम भगत कहावा सो नर सपनेहु मोहि न पावा।" तथा

"संकर प्रिय मम द्रोही शिव द्रोही मम दास।
सो नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुं बास।।"

इतना ही नहीं सागर पर सेतु का निर्माण होने पर राम के द्वारा शिव प्रतिष्ठा एवं पूजा अर्चना कराकर, राम को शिव का अनन्य भक्त सिद्ध कर दिया है। शिव और राम में अभेद एवं अभिन्नता स्थापित किया है।

विष्णु और शाक्त का समन्वय – शैव और वैष्णवों की भाँति विष्णु और शाक्त में भी संघर्ष चलता था। सम्भवतः कबीर ने भी इसीलिये "वैष्णव की छपरी भली नहिं साकत को गाँव" कहकर शाक्त की उपेक्षा की और वैष्णव्य की श्रेष्ठता स्वीकार किया। परन्तु तुलसी ने वैष्णव –शाक्त के वैमनस्य को दूर करते हुये शक्ति की भी उपासना की। उन्होंने रामचरित मानस में सीता को ब्रह्म की शक्ति बताया है – तथा "उद्भव स्थिति संहारकारिणीम् क्लेश हारिणी सर्वश्रेयकारी" आदि कहकर शक्ति की इस प्रकार प्रार्थना की है।

"नहिं तब आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।
भव भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि स्वबस विहारिनी।।"

उक्त कथन द्वारा शाक्त मत में वर्णित शक्ति को भगवान राम को प्रिया कहते हुये "नतोऽहं राम बल्लभाम" द्वारा उस शक्ति के प्रति पूज्य भाव प्रकट करते हुये तुलसी ने शाक्त एवं वैष्णवो में भी समन्वय स्थापित किया, जिससे शाक्त भी अपने को एक ही धर्म का अंग समझने लगे। यह तुलसी की हितकारी दृष्टि ही है।

रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टि मार्ग का समन्वय – तुलसी स्वामी रामानन्द के शिष्य सम्प्रदाय में स्वामी नरहीनन्द के शिष्य होने के कारण रामावत सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुये थे। इस सम्प्रदाय में राम को ही परमब्रह्म माना जाता है तथा ब्रह्म के पर, व्यूह, अन्तर्यामी और अर्चावतार नामक पाँच रूप माने गये हैं। इन्हीं रूपों में उनकी अर्चना एवं आराधना होती है। तुलसी ने उक्त पाँच रुपों के अनुकूल ही रामचरितमानस में भगवान राम का चित्रण किया है। परन्तु इसके साथ ही पुष्टि मार्ग के अनुसार ब्रह्म की कृपा अथवा अनुग्रह को ही सर्वोपरि बताया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि कितनी ही पूजा अर्चना की जाय किन्तु भगवद् कृपा के बिना कुछ नहीं होता। तुलसी के मतानुसार –

"तुम्हरिहि कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत उर चन्दन।।"

कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान की कृपा से ही भगवत् साक्षात्कार होता है। साथ

ही भगवान की कृपा के बिना भक्ति भी सुलभ नहीं है तुलसी कहते हैं –

"रामभगति मनि उर बस जाके, दुख लवलेश न सपनेहु ताके

....

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई, राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहहीं।"

इस प्रकार तुलसी ने दोनों सम्प्रदायों का सुन्दर समन्वय किया है।

अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैतवाद का समन्वय – तुलसी ने दार्शनिक विचारों में भी समन्वय स्थापित करने का सुन्दर समन्वय किया है। तुलसी से पूर्व सभी भक्तो एवं अचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करके अपने–अपने मत की स्थापना की थी। रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करके अपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार किया, मध्याचार्य ने द्वैतवाद का, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत का तथा निम्बकाचार्य ने द्वैताद्वैत का प्रचार किया था। गोस्वामी तुलसीदास रामानुजाचार्य के शिष्य थे वह विशिष्टाद्वैतवाद के पोषक थे। अतएव उन्होंने ईश्वर का अंश कहकर जीव को, ईश्वर की ही भाँति – "चेतन अमल सहज सुखरासी" कहा है। ब्रह्म को सगुण, निर्गुण, अरूप, अलख, अज आदि कहकर भी विशिष्टता प्रदान किया है --

"अगु अरुप अलख अज होई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।" तथा

"पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।"

तथा "जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होता कहहु केहि लेखे" आदि कहकर विशिष्टाद्वैत वादियों की भांति संसार को नित्य शाश्वत एवं अविनाशी घोषित किया है। किन्तु विनयपत्रिका में तुलसी ने शंकर की भांति ब्रह्म को अज स्वतंत्र सर्वज्ञ सत्य कहा है। जीव और जगत को सोपाधिक एवं मिथ्या बताया है। माया का निरूपण भी शंकराचार्य की ही भांति किया है। इस तरह तुलसी के विचारों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वाद का समन्वय मिलता है। इस प्रकार दार्शनिक विद्वेष को भी तुलसी ने नष्ट किया है।

ज्ञान भक्ति का समन्वय – तुलसी के समय में ज्ञानियों एवं भक्तों में बड़ा विवाद चलत रहा है। ज्ञानी भक्ति को तुच्छ समझते रहे और भक्त ज्ञानी को। ज्ञान की इस श्रेष्ठता की ओर – "कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना, नहिं कुछ दुर्लभ ज्ञान समाना।" कहकर तुलसी ने भी संकेत किया है। परन्तु तुलसी ने भक्ति के लिये ज्ञान की महत्ता को घोषित किया है। यद्यपि तुलसी ने "ग्यान कै पंथ कृपान कै धारा" तथा "ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका" कहकर ज्ञानमार्ग की कठिनाईयों की ओर संकेत किया है, और "भक्ति सुतन्त्र सकल सुख खानी" कहकर भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया है। तथापि दोनों का समन्वय इन शब्दों में दृष्टव्य है –

"भगतिहिं ग्यानिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहि भव सभव खेदा।।" साथ में
"जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासभ लाइ,।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ।।"

कहकर तुलसी ने ज्ञान को महत्व दिया जिसके द्वारा चित्त रूपी दीपक प्रज्जवलित

होता है जिसमें मोह मदादि शलभ जल कर नष्ट हो जाते हैं। साथ ही "श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजत विरति विवेक" कह कर ज्ञान भक्ति का विवाद मिटा कर समन्वय किया है।

सगुण–निर्गुण का समन्वय – तुलसी के समय में जहाँ अनेक विवाद धर्मक्षेत्र में थे वहाँ ब्रह्म के सगुण–निर्गुण रूप भी विवादास्पद थे। सूरदास ने निर्गुण का खण्डन करते हुये अपनी सगुण भक्ति का कारण इस प्रकार स्पष्ट किया है –

"सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै।"

निर्गुण ब्रह्म निरावलम्ब मन चकित धावै की स्थिति उत्पन्न करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने निर्गुण और सगुण दोनों विवाद मिटाकर उनका समन्वय किया है –

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।"

तुलसी के राम एक ओर निराकार निर्विकार अज अनद्य हैं तो दूसरी और शरणागत, वत्सल, दीनबन्धु, दयालु, कृपालु हैं और गो द्विज, सुर संत आदि के संकट हरने के लिये अवतीर्ण हुये हैं। इसी कारण तुलसी ने राम को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में देखा है। "अनल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुण ब्रह्म सुमिरमि नरभूप रूप।" कह कर उनकी स्तुति की है।

नर–नारायण का समन्वय : गोस्वामी तुलसीदास ने अपने राम में नर नारायण का अद्भुत समन्वय किया है। तुलसी से पूर्व राम का महत्व दशरथ के पुत्र के रूप में ही था उन्हें परात्पर ब्रह्म अज, एवं अविनाशी बहुत कम लोग मानते थे। इसीलिये कबीर ने दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना राम नाम का मरम है आना" कहकर राम के दशरथ पुत्र रूप को ब्रह्म से पृथक कहा है। किन्तु तुलसी का कथन है – भये प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी और इन्हीं ब्रह्म को कौशल्या पुत्र या दशरथ पुत्र में अवतरित दिखाकर अपने इष्ट देव को साधारण नर से ऊपर उठाते हुये नारायण के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। इसी कारण तुलसी के राम अवतारी पुरुष होकर ही अज अनवद्य अरूप और अचल है। सगुण होकर भी निर्गुण निराकार है। इस प्रकार तुलसी ने नर नारायण अथवा जीव और ब्रह्म का अद्भुत समन्वय स्थापित किया है।

द्विज और शूद्र – तुलसी के समय में जातिगत भेदभाव एवं छुआछूत का बाहूल्य था। उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग शूद्रादि से घृणा करते थे। तुलसी ने इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिये अपने "रामचरित मानस". में ब्राह्मण कुलावतंश गुरु वशिष्ठ को शूद्रकुल में उत्पन्न निषादराज से भेंट करते हुये दिखाकर ब्राह्मण एवं शूद्रों में समन्वय स्थापित किया। उच्च क्षत्रिय कुलोद्भव राम को तुच्छ वानर भालू रीछ विभीषण राक्षस तक को स्नेहालिंगन करते हुए दिखाकर वर्ग भेद की खाई पाट दी है।

पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय – तुलसी ने धर्म और समाज में तो समन्वय किया ही, पारिवारिक क्षेत्र के अन्तर्गत पिता और पुत्र में, पति–पत्नी में, सास–बहू में, भाई–भाई में यहाँ तक कि सपत्नीक वातावरण में भी सुहृदयता का सुन्दर वातावरण बनाया है और उसी अनेक विकृतियों पर शिव का स्थापन कर जग मंगलकारी पथ प्रशस्त किया है।

पारिवारिक जीवन में तुलसी ने उच्चादर्श की प्रतिष्ठा की है।

राजनीति के क्षेत्र में भी राजा और प्रजा के मध्य समन्वय का स्थापन कर सभी को सुखी बनाने का प्रयत्न किया है।

"मुखिया मुख सों चाहिये खान–पान कहुं एक।
पालइ पोषक सकल अंग तुलसी सहित विवेक।।"

कहकर तुलसी ने राजा को मुख के तुल्य बताकर अपनी प्रजा के पालन पोषण के लिये ही वस्तुओं का संग्रह करना चाहिये। जिस प्रकार शरीर में मुख तथा अन्य अंगों का समन्वय रहता है। उसी तरह तुलसी ने राजा और प्रजा के मध्य समन्वय पर जोर दिया है।

साहित्य के क्षेत्र में समन्वय : धर्म, राजनीति, समाज, परिवार के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी तुलसी का समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा है। अवधी और बृज दोनों ही भाषाओं का समन्वय कर तुलसी ने अपनी रचना रामचरित मानस तथा विनय पत्रिका आदि की हैं। स्रोतों में संस्कृत गर्भित हिन्दी का प्रयोग करके संस्कृत और हिन्दी का समन्वय किया है। वर्णित मात्रिक छन्दों की समन्वय उनकी रचनाओं में मिलेगा। लम्ब समासान्त पदावली युक्त क्लिष्ट रचना--शैली तथा सरल और सुबोध शैली को अपनाते हुये विनय पत्रिका में शैलीगत समन्वय को भी अपनाया है। तुलसी ने विभिन्न ग्रन्थों से रामकथा को अपना कर सुन्दर कथा सम्बन्धी समन्वय किया है, जिससे निगमागम समान होत हुए भी रामचरित मानस सर्वथा अद्भुत, अलौकिक एवं मौलिक दिखाई देता है। इतना ही नहीं दोहा चौपाई पद्धति पर मानस लिखकर, पद पद्धति पर गीतावली, विनय पत्रिका लिखकर, दोहा पद्धतिं पर दोहावली लिखकर, कवित्त सवैया छप्पय पद्धति पर कवितावली तथा बरवै पद्धति पर बरवै रामायण लिखकर लोक गीत शैली पर सोहर में रामलला नहछू लिखकर तत्कालीन काव्य मे प्रचलित सभी रचना पद्धतियों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। देव भाषा संस्कृत के साथ ही जन भाषा को अपनाकर एक उच्च आदर्श स्थापित किया है।

साराशंत – तुलसी उच्च कोटि के समन्वयवादी कवि थे। हर क्षेत्र में समन्वय अपनाकर तुलसी ने समाज में व्याप्त विकृतियों को दूर कर उच्च मानवीय संस्कृति की स्थापित की है। वह समाज में उन्नत आदर्श के संस्थापक संत है।

तुलसी का काव्य सौष्ठव

प्रश्न ६. तुलसी के काव्य सौष्ठव पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द प्रदायिनी सुन्दर शब्दमय अनुभूति को ही काव्य कहते हैं। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दो पक्ष होते हैं। अन्तरंग में कवि की भाव भूमि है। भाव भेद रस भेद अपारा के अनुसार ये भावनायें अनन्त होती है और काव्य की भावधारा लौकिक और सरस वस्तु है। चिरन्तन नूतनता ही कायिक सौन्दर्य की भाँति काव्यगत सुषमा का प्राण है, उसकी आत्मा है। यह अन्तरंग पक्ष ही भाव अथवा अनुभूति पक्ष कहलाता है।

बहिरंग में भाषा शैली, अलकार, रस, छन्द आदि का निरूपण होता है। यह कविता का कलेवर है। इसे अभिव्यक्ति अथवा कला पक्ष कहते हैं। भावनाओं के अनुरूप ही कवि की अभिव्यक्ति हुआ करती है।

कविकुल गुरु गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य के वाह्य एवं आभ्यन्तर जगत दोनों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "गोस्वामी के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कथन पूर्णतयः सत्य ही है क्योंकि तुलसी ने अपने समकालीन काव्य जगत में प्रचलित प्रत्येक प्रकार की शैली को सफलता के साथ अपनाया और निर्विवाद रूप से वे ही हिन्दी साहित्य के एकमात्र ऐसे कवि हैं जो तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य शैलियों को कुशलता के साथ अपना सके हैं।

गोस्वामी जी की कविता में नित नूतन सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। उनकी कविता का विषय है –"राम"। जिसमें **सत्यं शिवं सुन्दरम्** तथा शक्तिशील सौन्दर्य का समन्वय पाया जाता है। अतः कवि ने अपनी सतुलित वाणी में इन तीनों का समन्वित रूप स्वाभाविक और सुन्दर रूप में प्रकट करने, नीति विवेचन और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में तुलसी की कला अद्वितीय है। उनका रामचरित मानस भक्ति रस आपूर्ण मानसरोवर है। जिसमें सप्त सोपान हैं। जिसमें अवगाहन कर सहृदय रसिक काव्य मर्म मराल अनेक अमूल्य मुक्ताओं का चयन करते हैं। इस महाकाव्य में स्थान–स्थान पर पद लालित्य, भावावेश और रचना चातुर्य है। वस्तुतः तुलसी की कविता ही उनकी भक्ति का प्रतिरूप है और उनकी भक्ति ही वाणी के रूप में, कविता के रूप में अभिव्यक्त हुई थी। जब कवि की समस्त मनोवृत्तियाँ एक मुख होकर जाग्रत हो उठती हैं अब कवि हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप में उन्हें प्रकट करता है। तुलसीदास में इस तन्मयता की पराकाष्ठा थी, वह अपने अन्तर की विहलता को रोक न सके। उनकी निःशेष मनोवृत्तियाँ रामाभिमुख होकर जाग्रत हो गई हैं और रामायण का रूप धारण कर लिया। "मानस" की भूमिका में जहाँ तुलसी यह कहते हैं – **"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबद्ध मति मंजुल मातनोति"** वहाँ दूसरी ओर उनकी दृष्टि में वही काव्य सफल है जो सुरसरि के समान सभी का हित करता हो। इसीलिये तुलसी का कथन है –

"मणि माणिक मुकुता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोहन तैसी।।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई, लहहि सकल सोभा अधिकाई।।
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।।"

जो कविता एक हृदय से निःसृत दूसरे हृदय में तन्मयता, उद्विग्नता, सरसता तथा रस लोलुपता का भावोद्रेक नहीं करती और केवल कला मात्र ही बन कर रह जाती। इसीलिए –

"सो कवित्त बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम वादि बाल कवि करही।।
कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि राम सब कर हित होई।।"

तुलसी की यही उन्नत धारणा के परिणाम स्वरूप इनकी काव्य कला में सत्य, शिव

और सौन्दर्य समाविष्ट हो गया है। एक राम का अपना कर उन्होंने सारे विश्व को अपना लिया है। राम के प्रति जैसा उनका दृष्टिकोण व्यापक एवं उन्नत था वैसा ही काव्य कौशल भी उन्नत एवं व्यापक और विस्तृत था।

तुलसी में अन्तःप्रकृति और वाह्यप्रकृति सम्बन्धी सूक्ष्य पर्यवेक्षण शक्ति होने के कारण उन्हें प्रकृति चित्रण और चरित्र चित्रण में अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु तुलसी में रामभक्ति की अनन्यता के कारण समस्त प्रकृति उसके संरक्षण में ही संलग्न दिखाई देती है। पम्पा सरोवर के वर्णन में तुलसी कहते हैं।

"फल भार न नमि विटप सब रहे भूमि निउराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसम्पत्ति पाइ।
सुखी मीन सब एक रस अति अगाघ जल माहिं।
जथा धर्म शीलहिं के दिन, सब सुख संजुत जाहिं।।"

तुलसी ने प्रकृति चित्रण परम्परागत रूप से प्राप्त नहीं किया था प्रत्युत उनके पास प्रकृति सौन्दर्य से प्रभावित होने वाला एक कवि हृदय था। परम्परानुसार प्रकृति वर्णन उन्होंने वहीं तक किया है जहाँ उनकी सुरुचि के प्रतिकूल नहीं हो पाया है। सीता वियोग में राम की विरहोक्ति इस प्रकार है –

"खंजन सुक कपोत मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रबीना।
कुन्दकली दाड़िम दामिनी, कमल सरद ससि अहिभामिनी।
बरुन पांस मनोज धनु हंसा, गंज के हरि नित सुनत प्रसंसा।
श्री फल कनक कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन मांही।।"

इस वर्णन में तुलसी ने काव्य परम्परा का अनुसरण हीं किया है। उपमान योजना परम्परा प्राप्त ही प्रतीत होती है। परन्तु इससे कवि सन्तुष्ट नहीं है। उनके हृदय ने प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य को परखा, उसके रोमांचकारी स्पर्श का रसास्वादन किया है और अपनी सुन्दर वाणी द्वारा व्यक्त किया है। सृष्टि के दोनों अंग "जड़ चेतन" एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुये तुलसी को जान पड़ते हैं, यथा –

"बोलत जल कुक्कुट कल हंसा, प्रभु विलोक जनु करत प्रसंसा।।
सुन्दर खगन गिरा सुहाई, जात पथिक जनु लेत बोलाई।।"

पक्षियों के कलरव में तुलसी भगवान का गुणगान सुनते हैं।

प्राकृतिक दृश्यों का यथातथ्य चित्रण तुलसी के काव्य में मिलता है। पम्पा सरोवर में आये मृगों के झुंड का चित्र वस्तु स्थिति को ठीक सामने ला देता है।

"जहं तहं पियहिं विविध मृग नीरा, जनु उदार गृह जाचक मीरा।।"

इस प्रकार वाह्य प्रकृति चित्रण के समान मानव प्रकृति की अन्तर्दशाओं का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। मृगया करते समय श्रीराम की मूर्ति का चित्रण करते हुये कवि ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है –

"सोहत मधुर मनोहर मूरति हेम किरन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि विथकन बसै तुलसी उर आछै।।"

मानव प्रकृति के सर्वांग से तुलसी का गहन परिचय था। विभिन्न परिस्थितियों एवं घटनाओं में मानव मन की क्या स्थिति होती है। इसका बडा ही सूक्ष्म चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। रामचरित मानस में किसी भी परिस्थिति एवं घटना में ऐसे दृश्य देखे जा सकते हैं। राम चरित मानस में उन्होंने अपने पात्रों का आदर्श सदैव ऊँचा ही रखा है। जिससे पाठक उचित शिक्षा ग्रहण कर सके, जनजीवन अपनी प्रवृत्तियों को परिष्कृत कर सके। वह विषयगामी न बने। इससे उनके मानस में अपूर्व सौन्दर्य और तेज आ गया है। उनके पात्रों का विकास बीज रूप में दिखाई देता है। कोई विशेष प्रेरणा पाकर उनके चरित्र में नवीनता नहीं आ जाती जिस पात्र का जो स्वभाव एवं आदर्श प्रस्तुत करना उन्हें अभीष्ट था, उसको कोमल वय से ही बीज रूप मे दिखाकर उसका नैसर्गिक विकास दिखाया है। श्रीराम का स्वार्थ त्याग, अपने बाहु बल से, न्यायोचित ढंग से जीता हुआ लंका का राज्य विभीषन को दे देने में – "सो सम्पदा विभीषण को प्रभु सकुच सहित दे दीन्हीं" बाल्यकाल से ही विकासोन्मुख होता हुआ स्वभाव है जब चौगान खेलते समय छोटे भाईयों के हार जाने पर उन्हें जिता देते थे। अन्य पुत्रों की उपेक्षा कर ज्येष्ठ पुत्र को राज्याधिकार मानने वाले युवा राम में राज्य त्याग कर तापस जीवन व्यतीत करते हुये राम के स्वार्थ त्याग की वह भावना परिलक्षित होती है।

आसुरी चरित्रों में रावण इस बात का प्रमाण था कि बलशाली होते हुये भी धार्मिक उत्पीड़क, स्वेच्छाकारी, भौतिकतावादी, अराजक तत्वों से भरपूर, उद्दण्ड था। तपस्वी भी था तो इसलिये कि भौतिक सुखों को भोगने मात्र के लिये वह शारीरिक रूप से अमर हो जाये।

हनुमान में आदर्श सेवक, भरत में भ्रातृ प्रेम एवं भ्रातृ सेवा का आदर्श रूप चित्रित किया है। लक्ष्मण भ्रातृ प्रेमी, सेवक हैं परन्तु उनमें विनम्रता और सरलता का निर्वाह करते हुए भी क्रोध एवं उत्तेजक प्रकृति का चित्रण किया है। यथा – "रघुबसन्हि महं जहं कोई होई तेहि समाज अस कहइ न कोई।"

तुलसीदास जहाँ मनोवृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण में सिद्धहस्त थे, वहीं कविता में रसोद्रक करने में उतने ही कुशल। रामचरित मानस की विस्तृत भूमि में उनकी रस प्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा प्रवाहित करने में समर्थ हुई है। नवों रसों का सुन्दर परिपाक इनकी रचना में हुआ है। इस पर भी सर्वोपरि रस है **"भक्ति रस।"**

गीतावली तुलसी की काव्य कला की सबसे मधुर अभिव्यक्ति है इसमें जहाँ ब्रजभाषा का माधुर्य है वहीं भावों की कोमलता भी अभिनन्दनीय है। गीतावली श्रृंगार रस प्रधान है। गीतावली का अंतिम भाग कृष्ण काव्य से प्रभावित होने के कारण अधिक श्रृंगारात्मक बन गया है। बसन्त और हिंलोला आदि अवतरणों ने तो श्रृंगार को और भी अनुरंजित कर दिया हैं। तुलसी का श्रृंगार रस – अपने मर्यादा में प्रवाहमान है उसमें रीतिकाल के श्रृंगारी कवियों की भांति उच्छृंखलता नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि उनके द्वारा चित्रित श्रृंगार रस में एक पवित्रता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छवि, करइ मधुप इव पान।।"

"देखन मिस मृग विहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।

तुलसी के काव्य में विप्रलम्भ श्रृंगार भी विदग्धता के साथ चित्रित है। सीता हरण के समय राम के विलाप में तुलसी का विरह वर्णन दृष्टव्य है।

"आश्रम देखि जानकी हीना, भए विकल जस प्राकृत दीना।

....

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृग नैनी।
खंजन सुक कपोत मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रबीना।।
श्री फल कनक कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माही।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं, प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।
एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी, मनहु महाविरही अति कामी।।"

इसी प्रकार करुण रस का उद्रेक राम के बनवासी होने पर लक्ष्मण के शक्ति लगने पर फूट पड़ता है।

"अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।"

राम के वनवासी होने के शोक की गम्भीर छाया मनुष्यों पर ही नहीं वरन् पशु भी विरह संतप्त हो उठते हैं– राम को रथ पर बैठा कर जो घोड़े चित्रकूट जाने के लिये थल से भी अधिक जल पर वायु वेग से दौड़ने लगे थे, वे अब बार–बार सुमन्त्र द्वारा चाबुक पड़ने पर भी नहीं चलते। घोड़ों की आकुलता का कितना सजीव चित्रण है –

"देखि दखिन दिसि हय हिह नाहीं, जनु बिनु पंख विहग अकुलाही।।
नहिं तृन चरहिं न पियहिं जल मोचहिं लोचन वारि।।"

वीर और वीभत्स रस का उद्गम स्थल लंका काण्ड है। बालकाण्ड में शिव धनुष के भंग होने पर चतुर्दिक जो आतंक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है।

"भरे भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले।
सुर असुर सुनि कर कान दीन्हें सकल विकल विचारहिं।।"

कवितावली में तुलसीदास ने हास्य रस का सुन्दर स्फुरण किया है। वन यात्रा के समय गंगा पार करते हुये केवल और राम के संवाद में भक्ति और हास्य रस की मनोमुग्धकारी धारायें प्रवाहित हुई हैं। यथा–

"एहि घाट ते थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह दिखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरी तरनी घरनी घर का समुझाइहौं जू।
तुलसी अविलम्ब न और कछू लरिका केहि भांति जियाइहौं जू।
बरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।।"

स्पष्ट है कि कवि ने अपने काव्य में नव रसों की धारा प्रवाहित की है। कहीं भी यह लक्षित नहीं होता कि तुलसी दास ने प्रयत्नपूर्व प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस सिमट कर भर गया है। जिसमें सहृदय डूबकर रस मग्न हो सकता है।

तुलसी की अनुभूति में इतनी गहराई और व्यापकता है कि उसकी अभिव्यक्ति में भाव स्वतः सुन्दर और सौष्ठव रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। तुलसी ने राम भक्ति में चातक प्रेम का ही ज्वलन्त उदाहरण लेकर अपने काव्य की सुषमा को उद्दीप्त किया है। उनका राम के प्रति वही अनन्य प्रेम है जो चातक का स्वाति के प्रति। इस अनन्य प्रेम की सुन्दर व्यंजना निम्न दोहे में दृष्टव्य है –

"बंध्यो बधिक पर्यो गंग जल उलटि उड़ाई चोंच
धनि धनि चातक प्रेम पट भरतउ लगी न खोट।।"

प्रेम की कितनी अनन्य और अलौकिक व्यंजना है। भक्त तुलसी के दैन्य एवं आत्मग्लानि के भाव विनय पत्रिका के कोष में भरे पड़े हैं।

तुलसी के अनुभूति पक्ष की व्यंजना तो उनके काव्य ग्रन्थों में अत्यन्त सुन्दर रूप में हुई है, साथ ही काव्य का वाह्य पक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति भी उतनी ही सशक्त एवं हृदयग्राही है। इसमें अलंकार गुण, छन्द आदि अपूर्व सफलता के साथ समाहित है। किसी भी सफल कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुये उसे किसी उच्च साँचे में ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति में जितनी ही सरलता एवं सरसता का आश्रय लिया जाता है उतना ही इस उद्देश्य में सफल होता है।

भाषा : भावाभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। गोस्वामी तुलसीदास ने संस्कृत के महान विद्वान होते हुये भी देववाणी की ममता का त्याग कर, लोक भाषा को अपनाया। अपनी राम कथा को सर्वजन सुलभ बनाने हेतु उन्होंने स्पष्ट कहा **"भाषा बद्ध करब मैं सोई।"** यही किया भी। आज रामचरित मानस न केवल विद्वत्वर्ग की वस्तु है वरन् शिक्षित–अशिक्षित सभी इस रामरसासन की धारा में स्नात है। अतः उन्होंने जनभाषा को ही अपने ग्रन्थ में अपना कर संसार के गले का हार बना दिया। कविवर तुलसी दास जिस समय साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुये, अवधी भाषा में काव्य रचना हो चुकी थी। सूफी कवियों ने अपनी प्रेम गाथाओं की रचना इसी अवधी में की थी। परन्तु यह अवधी का ग्रामीण रूप ही था। तुलसी ने रामचरित मानस की रचना करके अवधी का परिमार्जित, परिष्कृत साहित्यिक रूप प्रस्तुत किया। उसमें संस्कृत को कोमलकांत पदावली का प्रयोग कर उसे अपूर्व माधुर्य गुण सम्पन्न किया।

ब्रजभाषा – में भी अत्यन्त सुन्दर रूप से सूरसागर की रचना हो चुकी थी। तुलसीदास ने ब्रजभाषा में गीतावली, कृष्ण गीतावली, कवितावली और विनय पत्रिका की रचना की। कवितावली की ब्रज भाषा अत्यधिक परिष्कृत और गढ़ी हुई है। तुलसी की भाषा का यह सहज गुण है कि वह भावों के अनुरूप ही रहती है। मधुर एवं परुष भाव की व्यंजना में भाषा भी वैसी ही हो जाती है। यथा –

मधुर भावानुकूल भाषा –

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहं मदन दुन्दुभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय चहं कीन्ही।।"

परुष भावानुकूल भाषा –

"कतहुं भूधर उपारि सरसेन बरक्खत,
कतहुं बाजि सौं बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।

....

विकट कट विरत वीर वारिद जिमि गज्जत।।"

तुलसी की भाषा में अन्य दूसरी भाषाओं में भी शब्द मिलते हैं। किन्तु भाषा की स्वाभाविकता में व्याघात नहीं पहुंचता। यथा अरबी के शब्द गरीब, साहिब, गुलाम, हराम, हलफ आदि। फारसी के – कगार, दगाबाज, दराज, नेवाज, बकसीस आदि शब्द। कुछ बंगला, गुलाम भोजपुरी शब्दों को भी कवि ने अपनाया है।

उनकी भाषा में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। यथा –

"अंजन कहा आंख जेहि फूटै बहुतक कहौं कहां लौ।"

उनकी भाषा योजना संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ है। यथा –

"भृग बिलोकि कटि परिकर बांधा, करतल चाप रुधिर सर सांधा।"

उनकी शब्द योजना प्रसाद माधुर्य एवं ओज गुण सम्पन्न है। पं० राम नरेश त्रिपाठी के शब्दों में – भाषा की दृष्टि से तुलसीदास परम स्वतंत्र कवि थे। जहाँ उन्होंने जैसी आवश्यकता देखी वहाँ वैसी क्रिया ढाल दी। तुलसी ने तुकांत के लिये शब्दों को बहुत कम विकृत किया है। यदि कहीं शब्द तोड़े मरोड़े भी गये हैं तो भी उन्होंने नये शब्द भी गढ़े है। परन्तु उनमें कहीं क्लिष्टता नहीं आ पाई। इस प्रकार तुलसी की भाषा के गुणों की अधिकता सी है। सर्वत्र ही सुमधुर सरस, संगीतमय, सुकोमल, सजीव और संशक्त शब्दावली ही दृष्टिगोचर होती है। भाषा की दृष्टि से यह तुलसी की महान विशेषता है कि वे अवधी और ब्रज दोनों पर ही समान अधिकार रखते हैं। दोनों मे ही समान निपुणता से रचना की है।

अलंकार – तुलसी ने बड़े स्वाभाविक ढंग से अपने काव्य में अलंकार योजना की है। अलंकारों के प्रयोग द्वारा भाव और भाषा दोनों का ही सौन्दर्यवर्द्धन किया है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टांत, भ्रान्तिमानं, उत्प्रेक्षा, विभावना, अतिश्योक्ति, सन्देह आदिं का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

उपमा – *"उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पंतग।*
बिगसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग।।"

पूर्णोपमा – *"पीपर पात सरिस मन डोली"*

उत्प्रेक्षा – *"गज मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पपिक निकाई*
जनु उडगन मण्डल बरिद पर नवग्रह रची अथाई।।"

सांगरूपक –

'द्वांस पुरान साज सब अटपट सरल तिकोन खटोला रे
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चन्द मन्द मोल बिनु डोरा रे।
विषम कहार माद मदमाते चलहिं न पांव बहोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।"

अतिशयोक्ति – ***"कनक मधूरा कार सरीप।"***

शब्दालंकारों मे अनुप्रास की छटा है।

तुलसी की अलंकार योजना में भाव भाषा अलंकारों का अद्‌भुत साम्य है।

शैली – सरल स्वाभाविक विदग्धतापूर्ण तुलसी की शैली की विशेषता है। उनकी शैली वर्णनात्मक एवं चित्रोपम है। गीत संगीत संयुक्त है।

छन्द योजना – अपने समय के प्रचलित सभी छन्दों पर तुलसी की लेखनी उठी है वीरगाथा कालीन छप्पय पद्धति कवितावली में सुन्दर एवं लंकाकाण्ड तथा मानस के लंकाकाण्ड में व्यवहूत हुई है। वस्तुतः वीर रौद्र आदि रसों की व्यजंना के लिये छप्पय का उपयुक्त प्रयोग तुलसी ने किया है।

अपभ्रंश कालीन दोहा पद्धति का सफल प्रयोग दोहावली, वैराग्य, संदीपनी, रामाज्ञा, प्रश्न आदि में हुआ है। प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्यों की दोहा चौपाई में उत्कृष्ट, रामचरित मानस की रचना हुई है। श्रृंगार के लिये सवैयों का प्रयोग हुआ है। सूर तथा अष्ट छाप के कवियों की गीत पद्धति में गीतावली, कृष्ण गीतावली तथा विनय पत्रिका की रचना तुलसी ने की है साथ ही लोक गीति पद्धति का सुमधुर प्रयोग रामलला नहछू, जानकी मंगल तथा पार्वती मंगल में हुआ है।

इस प्रकार तुलसी ने प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों की रचना में समान अधिकार रखा है।

निष्कर्षत – तुलसी काव्य कला के दोनों पक्षों में चरम सीमा पर पहुंचे हुये हैं। भाव और कला पक्ष का सुन्दर समन्वय उनके काव्य में हुआ है। तन्मयता, रस परिपाक भाषा सौष्ठव, प्रबन्ध पटुता, अलंकार योजना आदि सभी दृष्टि से तुलसी का काव्य सौन्दर्य उन्नत उत्कर्ष पर है। उनकी अमर कृतियों ने केवल भारत में नहीं वरन् समूचे विश्व में समाहत हैं उनकी कृतियों में कला का उत्कर्ष देखकर ही हरिऔध जी ने कहा था –

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।।"

रामचरित मानस का महत्व

प्रश्न ७. तुलसी का रामचरित मानस हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। समीक्षा कीजिये।

अथवा

रामचरित मानस का महत्व अपने विचारों द्वारा व्यक्त कीजिये।

उत्तर – तुलसी का राम चरित मानस हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। सर्वसाधारण में यह महाकाव्य रामायण के नाम से विख्यात है। इस महाकाव्य की रचना चैत्र सुदी नवमी मंगलवार सं० १६३१ में हुई थी।

"संवत सोरह सै इकतीसा करऊं कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी मौमवार मधुमासा अवध पुरी यह चरित प्रकासा।।"

यह महाकाव्य अपनी प्रबन्धात्मकता, मार्मिक प्रसंग विधान, चारित्रिक महत्ता,

सांस्कृतिक गरिमा एवं गुरुता, सरस संवादों की सुन्दर योजना, गम्भीर भाव प्रधान सरस घटना संघटन, अलंकारिक, उन्नत कलात्मकता आदि से सम्पन्न होने के कारण गोस्वामी जी की अमर कृति है। यह काव्य तुलसीदास की साहित्यिक मर्मज्ञता, भावुकता, काव्य कुशलता एवं गम्भीरता का सर्वांगपूर्ण निदर्शन हुआ है। इसमें काव्य कला के विमल स्वरूप की झांकी मिलती है। यद्यपि इसके कथाभवन का आधार प्राचीनता की पृष्ठभूमि पर ही खड़ा है। तथापि उस प्राचीनता में ऐसी नवीनता का रंग भर दिया गया है जिससे उसमें एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि के साथ–साथ प्राचीन और नवीन का समन्वित रूप भी प्राप्त होता है। उन्होंने एक प्राचीन कथा को लेकर उसे ऐसा रूप दिया है कि वह उनकी कल्पना और कला से और भी भव्य और मार्मिक हो उठी है।

भाषा और भावों के सामंजस्य का स्पष्टीकरण करने मर्यादावाद और लोक संग्रह का उच्च आदर्श उपस्थित करने, नीति के विवेचन और मानवी प्रकृति के रहस्योद्‌घाटन में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यह भक्ति रसामृत से सरोवर सप्त सोपान विभूषित रामचरित मानस वास्तव में मानसरोवर है। तुलसी ने स्वयं इसकी महत्ता में अपने भावोद्‌गार मानस की भूमिका में व्यक्त कियें है। यथा —

"विमल कथा कर कीन्ह अरम्भा, सुनत नसाहिं काम मद दम्भा।
राम चरित मानस एहि नामा, सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा।
मन कर विषय अनल बन जरई, होइ सुखी जौ एहि सर परई।
रामचरित मानस मुनि भावन विरचेउ संम्भुं सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन, कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन।"

स्पष्ट है कि रामचरित मानस व्यक्ति के दैहिक, दैविक, भौतिक सभी दृष्टि से परम मंगल का काव्य है। कारण कि इसमें ऐसी रामकथा वर्णित है — जो "मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रधुनाथ की"। रामचरित मानस की मूल कथा श्रीराम की है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह चरित्र काव्य है। इसके नायक क्षत्रिय कुल भूषण भगवान राम हैं जो तुलसी की उदारता अन्तःकरण की विशालता एवं भारतीय चरित्रिक आदर्श की साकार प्रतिमा हैं। तुलसी ने राम के रूप में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की आदर्शमयी ऐसी जीवन्त प्रतिमा प्रतिष्ठित की है जो विश्व भर में अलौकिक, असाधारण, अनुपम एवं अद्‌भुत है। जो धर्म एवं नैतिकता की दृष्टि से सर्वोपरि है। इसमें त्याग विराग एवं साधु प्रकृति के साथ–साथ लोकहित एवं मानवता का साकार रूप विद्यमान है। तुलसी के राम एक आदर्श पुरुष ही नहीं हैं, अपितु वे एक ऐसे महान व्यक्तित्व सम्पन्न नायक हैं। जिनका कवि के कल्पना राज्य पर एकाधिकार है। जिनका महत्व कवि के साथ–साथ पाठकों एवं श्रोताओं के मनुष्य चक्षुओं के सम्मुख भी आज तक अधीष्ठित हैं जिनके देवत्व पर मुग्ध होकर एवं जिसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर दिगदिगन्त से आकर प्राणी जिसे नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं। तुलसी के राम बुद्धिमान, धर्मज्ञ, यशस्वी, प्रजा हितैषी, धर्म रक्षक, गोपालक, सत्यसंघ लोकप्रिय शक्तिशील सौन्दर्य समन्वित हैं। वे उच्चतम आदर्श के प्रतीक हैं। वे विश्व रूप होकर भी मानव हैं और मानव होकर भी परम ब्रह्म स्वरूप हैं। तुलसी ने राम

को मानव एवं ब्रह्म दोनों रूपों में चित्रित करके एक मानव की महत्ता एवं गुरुता का अच्छा निरूपण किया है। निस्सन्देह राम आदर्श के उतुंग शिखर पर प्रतिष्ठित मानव हैं किन्तु तुलसी ने अपनी उर्वर कल्पना एवं उत्कृष्ट प्रतिमा द्वारा मानव के देवत्व की, नर से नारायण की अथवा व्यक्ति में ब्रह्म की जो स्थापना की है वह सर्वथा आदरणीय है। इसी कारण राम "मनुज अनुहारी" कार्य करते हुये अज, अनादि निर्गुण निराकार ब्रह्म हैं। माता–पिता द्वारा परिचालित होकर भी विधि हरि सम्भु नचावन हारे हैं। मानवता के पोषक सम्वर्द्धक हैं। तेजोम क्षाम धर्म युक्त महान वीर हैं। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप का विनाश करके एक समृद्धशाली सर्व –सुख सम्पन्न एवं सर्वजनोपयोगी आदर्श राम राज्य के संस्थापक हैं।

राम के अतिरिक्त रामचरित मानस का प्रतिनायक रावण असद् प्रवृत्तियों का भण्डार है। वह अत्याचार, अनाचार की प्रतिमूर्ति है। **"करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी"** की स्थिति में है रावण। मानस के अन्य सद् पात्रों में "भरत" साक्षात भक्ति की प्रतिमा है। उनमें अदम्य त्याग, अनुपम विनम्रता एवं अतुल बन्धुत्व भाव है। लक्ष्मण, सुग्रीव, दशरथ, हनुमान, अंगद, विभीषण आदि भी सेवा, परोपकार, भक्ति, स्नेह, कर्तव्यपरायणता आदि से परिपूर्ण होने के कारण उन्नत चरित्र सम्पन्न व्यक्ति हैं। नारी पात्रों में सीता इस काव्य की नायिका हैं। वे उदारता, तेजस्विता, वत्सलता, आदर्श गृहणी, पति परायण, विनम्रता, सरल तथा भारतीय कुल वधू के सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हैं। वे मानवी होकर भी ब्रह्म की शक्तिरूपा हैं। शेष नारी पात्रों में कौशल्या, सुमित्रा आदि सद्पात्र हैं।

रामचरितमानस में सत असत् उच्च एवं नीच, साधु एवं असाधु सभी पात्रों के चित्रण में तुलसी ने असत पात्रों को पराभूत कर उन पर सत्पात्रों की विजय दिखाई है। इस प्रकार मानस में महान नैतिक आदर्श की स्थापना की है।

युग चित्रण – रामचरित मानस में अपने युग की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक जीवन के तथा विद्वेष विलासिता, राज्य समृद्धि पारिवारिक रीति रिवाज, लौकिक व्यवहार, जन दशा आदि का वर्णन करके युग जीवन का एक मार्मिक चित्र अंकित किया है। मानस के उत्तर काण्ड में कलियुग की दुरवस्था का चित्रण करते हुये तत्कालीन सामाजिक जीवन का एक जीवन्त चित्र खींचा है। इसमें चारो वर्णों और आश्रमों के लुप्त होने तथा श्रुति विरोधी नर नारियों का उल्लेख किया हैं। ब्राह्मण को बेचने वाला, राजा प्रजा का भक्षण करने वाला बताया है। स्वेच्छाचारी चरित्र को पंडित बताया हैं आडम्बर तथा दम्भी जीवन को संत कहा हैं। जो परधन अपहरण में निपुण हो वही बुद्धिमान। जो आमंगलिक वेष में रहता है, भक्ष्या–भक्ष्य खाता है। वहीं कलिकाल में योगी एवं पूज्य है। इसी भांति नारी, शूद्र, ब्राह्मण, गुरु–शिष्य, माता–पिता, सन्तान, तेली, कुम्हार, चाण्डाल आदि समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों का वर्णन करते हुये तुलसी ने तत्कालीन युग का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में – "तुलसी ने मानस के उत्तर काण्ड में कलियुग का जो वर्णन किया है, वह उन्हीं के की तत्कालीन परिस्थिति थी। इस अंश को पढ़कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की

उच्छृंखलता के लिये कितना क्षोभ था। इसी क्षोम की प्रतिक्रिया उनके लोक शिक्षक समाज चित्रण के आदर्श में है।'' अतः यह प्रमाण्य सत्य है कि मानस में तुलसी ने अनेक युग के जीवन का समग्र चित्र बड़ी सूक्ष्मता से खींचा है।

रामचरित मानस का भाव एवं रस निरूपण उत्कृष्ट कोटि का है। इसमें नवों रसों का सहज उद्वेक बड़ी सफलता तथा मर्यादा के साथ हुआ है। राम और सीता के पुष्प वाटिका, मिलन सम्बन्धी वर्णन में यदि संयोग श्रृंगार के वर्णन होते हैं तो अशोक वाटिका में निवास करती हुई विरहिणी सीता के तथा विरही राम के वियोग वर्णन में विप्रलम्भ श्रृंगार के बड़े मर्यादित चित्र मिलते हैं। यह कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा एवं उर्वर कल्पना, भावुकता के प्रमाण हैं। ऐसे ही धनुष यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण की दयोक्ति में वीर रस तथा दशरथ मरण पर शोक मग्न अयोध्या में करुण रस का स्वाभाविक चित्रण हृदयग्राही है। इतना ही नहीं नारद मोह प्रसंग में हास्य रस, परशुराम की गवोक्ति में रौद्र रस की व्यंजना हुई है। इसी प्रकार शिव जी की बारात प्रस्थान में तथा लंका युद्ध के प्रसंग में वीभत्स रस की अभिव्यंजना है। शिशु राम के – **"इहां उहां दुइ बालक देखां"** तथा **देखरावा मातहिं तब अद्‌भुत रूप अखंड** में अद्‌भुत रस द्रष्टव्य है। भक्ति निरूपण रामस्रोत आदि में शान्त रस की सुखद व्यंजना है। इसी प्रकार निर्वेद, शंका, ग्लानि, श्रम, असूया, धृति आदि संचारी भावों का कायिक मानसिक सात्विक अनुभावों का बड़ा ही सजीव एवं सरस वर्णन किया है यथा **"लीन्ह लाइ उर ज़नक जानकी"** में मोह है। "समय हृदय विनवत जेहि तेही" में विषाद है। "जग जोधा को मोंहि समानां में"' दर्प है, मद है "सुधि न तांत सीता कइ पाई" में स्मृति है। **"पाहि नाथ कहि पाहिं गोसाई"** में दैन्य है, "उठे राम सुनि प्रेम अधीरा, कहुं पट कहुं निषंग धुन तीरा" में आवेग है। ऐसे ही अनेक भावों की सुन्दर सरस व्यजंना मानस में विद्यमान है। सभी रसों का सुन्दर परिपाक होते हुये भी मानस में अलौकिक श्रृंगार रस ही है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मतानुसार – "मानस में जो प्रधान रस है, वह अलौकिक श्रृंगार रस ही है और इसी को गौड़ीय, वैष्णव अलंकारियों ने भक्ति रस कहा है।"

निस्सन्देह "मानस" में भाव एवं रस का निरूपण अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक है। इसमें सर्वत्र रसान्विति के दर्शन होते हैं और सरस एवं रमणीय स्थलों की बहुलता के कारण सहृदयों को रसाप्लावित करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है।

रामचरित मानस में एक महान उद्देश्य निहित है। प्रथम तो तुलसीदास ने कहा है –**"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध मति मंजलु मातनोति।"** कहकर अथवा भाषा बद्ध करब मैं सोई मोरे मन प्रबोध अस होई। कहकर तुलसी ने आत्मबोध के लिये अपने अन्तः करण के सुख के लिये मानस का प्रणयन किया है। परन्तु उस संत का अपना सुख था ही क्या ? उसके स्वान्तः सुखाय में परान्तः सुखाय का भाव ही प्रबल हैं। तुलसी तो रचना को तभी श्रेष्ठ समझते हैं जब वह गंगा के समान सभी के लिये हित हो और मानस इसका पर्याय है। "कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई" अतएव लोकहित की अभिलाषा प्रकट है। साथ ही तुलसी यह भी कहते हैं – "प्रभु सुजस संगति भनिति भनि होइहै सुजन मनभावनी।" राम के सुयश का वर्णन

करने से ही काव्य सज्जनों को प्रिय होता है। वस्तुतः राम भक्ति के प्रचारार्थ ही तुलसी ने रामचरित मानस का प्रणयन किया है। कारण कवि का लोक कल्याण केवल राम भक्ति से ही दृष्टिगोचर होता है और जिसे देखकर उसकी अन्तरात्मा को भी सुख मिल रहा है। इसलिये अभिप्रेरित होकर ऐसे महान लोकोपकारी काव्य की रचना हुई। अपने इस महासउद्देश्य से संयुक्त होने के कारण ही आज रामचरित मानस कलि–कलुष विभंजक बना हुआ है तथा जनजीवन के कल्याण का कारण बना है।

निष्कर्ष रूप में तुलसी का रामचरित मानस अद्भुत काव्य कौशल, सरल, सरस, रचना शैली एवं सर्वांगपूर्ण काव्य कौशल से परिपूर्ण है। यह महाकाव्य तुलसी की काव्य मर्मज्ञता, कलात्मकता, भावुकता, गम्भीरता एवं रचना नैपुण्य का द्योतक है। इसमें तुलसी कवि और उपदेशक दोनों रूप में विद्यमान हैं। इसमें मर्यादित श्रृंगार है। साथ में असीम शौर्य, अतुलित पराक्रम, अद्वितीय शील, उत्कृष्ट रूप सौन्दर्य एवं उच्च कोटि के मानव प्रेम का निरूपण हुआ है। मानस जन–जीवन का सशक्त सम्बल है। यह निरीह एवं निराश्रित जनता से सम्बन्ध रखता है। इसमें लोक के विक्षुब्ध एवं अधीर मानव को भक्त–वत्सल एवं सर्वशक्ति सम्पन्न भगवान के समीप पहुंचाकर आश्वस्त करने की अपूर्व शक्ति है। लोक जीवन की गहराई तक पहुंचने की अद्भुत क्षमता है। इसीलिये यह काव्य "रामराज्य" के उन्नत आदर्श की प्रेरणा देता हुआ विश्व में सुख एवं शान्ति के साथ–साथ लोक हित की प्रतिष्ठा कर रहा है।

हिन्दी सहित्य में तुलसी का स्थान

प्रश्न ८. महाकवि गोस्वामी तुसलीदास का हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है? सोदाहरण समीक्षा कीजिये।

अथवा

'सूर शरी तुलसी रबी' की उक्ति पर सप्रमाण काव्यगत विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर – भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णव काव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होकर रामभक्ति की ऐसी पुनीत सुशीतल धारा प्रवाहित की, जिसमें अनेक सहृदय भक्तों ने अवगाहन कर अपने को धन्य समझा। गोस्वामी तुलसीदास के हिन्दी जगत में आर्विभाव से पूर्व कृष्ण काव्य में राधा कृष्ण को लेकर ऐसे एकान्तिक प्रेम का चित्रण किया गया था कि समाज में संयम नैतिक मूल्यों को आघात लगा। राधा कृष्ण की पावन धारा में भक्ति के समुज्जवल रूप के साथ कुछ विलासिता और कामुकता की दुर्गन्ध आने की भी सम्भावना थी। समाज अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल वस्तु पाकर संतुष्ट तो हुआ, साथ ही उसने रसास्वादन तथा आनन्दानुभूति भी अभिलाषित रूप में की और इससे लोक रंजन भी हुआ। परन्तु लोकरक्षण की भावना की अपूर्णता बनी रही। समाज को ऐसी स्थिति में एक लोक रक्षक की आवश्यकता थी। समाज में जातिगत, वर्णगत वर्ग भेद तथा धार्मिक अनेक सम्प्रदाय वैष्णव, शैव शाक्त आदि में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ रहा था। देश की जनता

पतनोन्मुख हो किसी अज्ञात पथ की ओर निस्सहाय होकर जा रही थी। समाज की गम्भीर परिस्थितियों को पहचान कर गो० तुलसीदास ने भगवान राम के रूप में एक आदर्श सम्बल जनता को दिया। शक्तिशील सौन्दर्य समन्वित मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन को तुलसी ने अपनी वाणी का विषय बनाकर जीवन की अभिव्यंजना के क्षेत्र में आदर्श और कर्तव्य का भक्ति में इस प्रकार समावेश किया कि हिन्दू धर्म, जाति, सभ्यता, संस्कृति एवं समग्र हिन्दुत्व की भावना जागृत हो गई। जीवन की कटुता और पीड़ित जनसमुदाय के सन्ताप से उनका हृदय इतना संवेदनशील हो उठा था कि वे आत्मबोध के लिये की गई साधना को लोक धर्म की प्रतिष्ठा के लिये उपयोग करने को बाध्य हो गये। उनके साहित्य में जीवन की व्यापक और गम्भीर अनुभूति मिलती है। इसका कारण यही लोक धर्म और समाज की मर्यादा को पुनर्जीवित करने की भावना है, जिसके लिये उन्होंने जीवन की सम विषम अवस्थाओं की पार कर "सिया राम मय सब जग जानी करहु प्रनाम जोरि जुग पानी" की नीति, स्वभाव अपनाया ओर उसका निर्वाह किया। भारत की हताश मृतप्राय जनता को रामामृत मिलाकर युग–युग के लिये अमर कर दिया। इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना में राम काव्य में हिन्दू गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य प्रेम के उत्कृष्टतम चित्र प्रस्तुत किये है।

तुलसी ने भक्ति और वैराग्य का समन्वय करके धर्म के लोक व्यवहार के लिये उपयोगी पक्ष की प्रतिष्ठा की है। उनकी भक्ति एकान्त साधना द्वारा जीव के उद्वार का उपाय मात्र नहीं है, वह विषम परिस्थितियों के बीच होकर जीवन की यात्रा के लिए आवश्यक आचरण की प्राप्ति में सशक्त, सहायक और सम्बल भी है। तुलसी राम के अनन्य भक्त हैं। अपनी भक्ति भावना में तुलसी ने समन्वय बुद्धि का सुन्दर परिचय दिया है। उनकी भक्ति भावना का अमर कोष रामचरित मानस को समग्र मानव जाति ने अपे ढंग से अपनाया है। उनकी रचनाओं में विशेषतः मानस में वर्णाश्रम धर्म का उत्कृष्ट एवं व्यवहारिक रूप दृष्टिगत होता है। भक्ति मार्ग की अनन्य साधना प्रत्यक्ष होती है। राजधर्म का लोकमंगलकारी दर्शन होता है। साथ ही वेद शास्त्र निरूपित सिद्धान्तों का सुबोध रीति से प्रतिपादन मिलता है। इस प्रकार मानस में साधु धर्म, लोक धर्म, राजनीति और वेद मत का अपूर्व समन्वय हुआ है। तुलसी ने जनसुलभ सगुणोपासना को निर्गुणोपसना से अभिन्न माना है। उनके अनुसार –

"सगुनहिं अगनुहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।।"

तुलसी का यही समन्वय सिद्धान्त मंगलमय विधान है।

शिव और राम की अन्योन्याश्रित भक्ति का प्रतिपादन कर शैव और वैष्णव मतों के अज्ञान जन्य भेद पर कुठाराघात किया है।

"सिव द्रोही मम भगत कहावा, सो नर सपनेहु मोहिं न पावा।
संकर विमुख भगति चह मोरी, सो नारकी गूढ़ मति तोरी।।"

तथा शिव के मुख से यह कहलाकर "सोई मम इष्ट देव रघुवीरा" दोनों में ऐक्य स्थापित किया है।

व्यक्तिगत साधना के मार्ग को समष्टि के लिये उपयोगी बनाकर उपयुक्त धर्म पथ को उद्‌घाटित किया है।

तुलसी ने ऐसे धार्मिक सिद्धान्त पल्लवित किये जो श्रुति सम्मत थे। रामचरित मानस की भूमिका में तुलसी ने स्पष्ट लिखा है – "नाना पुराण निगमागम सम्मत" इस प्रकार उन्होंने मानस को वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों आदि के सिद्धान्तों का उल्लेख करके उसे भारतीय धर्म और नीति का सर्वमान्य ग्रन्थ बना दिया। आज इसी रामचरित मानस के द्वारा लोग अपनी पुरातन संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ है।

तुलसी के मानस की आधार भूमि तो भक्ति है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। सम्वादों की दीवारे उठाकर कथावस्तु से राम सीता मंदिर की संस्थापना की गई है। छन्द, रस, अलंकार सम्वाद स्तुतियों और गीतों का उपयोग इस विशाल मंदिर की अलंकरण सामग्री के रूप में हुआ है। आदर्श चरित्रों से मण्डितों तुलसी की राम कथा ने जनता के लिये एक साथ प्रार्थना भवन और शिक्षा गृह का निर्माण किया है। जीवन की प्रत्येक समास्य का सुन्दर समाधान रामचरित मानस में मिलेगा। तुलसी ने सूक्ष्म दृष्टि से जीवन का कोना–कोना देखा था।

राम भक्त तुलसी का विश्वास तो इतना है कि मात्र रामनाम का स्मरण करने से ही समस्त पाप ताप नष्ट हो जाते हैं। जीवन की सभी समस्यायें हल हो जाती है। दसों दिशाओं से मंगल की वर्षा होती है। "नाम जपत मंगल दिसि दसहूं।"

भारतीय विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शो के प्रतिष्ठापंक गोस्वामी तुलसीदास ने उत्कृष्ट काव्य की रचना कर कविता का आदर्श उपस्थित कर दिया है। हिन्दी साहित्य जगत के तुलसी ही ऐसे कवि हुये हैं जिन्होंने अपने समय को प्रचलित समस्त काव्य पद्धतियों, शैलियों का समान अधिकार से प्रयोग करके उनसे कविता का श्रृंगार किया है। उनके साहित्य में लोक–परलोक, काव्य और धर्म, मृत्यु और अमृत्यु की सीमायें आ जुड़ी हैं। तुलसी हिन्दी साहित्य के महाकवि हैं। भक्त–शिरोमणि हैं और नैतिक क्षेत्र में धर्मगुरु हैं। वह एक ऐसे लोक नायक हैं जिन्होंने समष्टि रूप से सभी का कल्याण चाहा और कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने अवधी के सहज सौन्दर्य की रक्षा करते हुये उस पर अपने पांडित्य सें संस्कृत संयुक्त कर उसे निखार दिया है। पूर्ववर्ती सूफी कवियों की भाषा में तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने उसी प्रकार संस्कृत का पुट देकर विकसित किया है। जिस प्रकार सूर ने परवर्ती ब्रजभाषा को किया था। लोकभाषा अवधी का गौरव इस प्रकार तुलसी ने बढ़ाया कि आधुनिक काल तक प्रायः सारा रामकाव्य इसी भाषा में लिखा गया।

चन्द के पिंगल काव्य की छटा उनके काव्य में लक्षित होती है। कबीर का संत ज्ञान प्रायः उसी भाषा में "वैराग्य संदीपनी" में मिलता हैं वीर रस पूर्ण कवित्त सवैयों की परम्परा "कवितावली में सुरक्षित है। सूर ने अपनी काव्य प्रतिभा और भक्ति रस का निरूपण विनय सम्बन्धी पदों और कृष्ण कथा में किया है। तुलसी ने विनयावली के स्थान पर अधिक पुष्टता और सौष्ठव से पूर्ण "विनय पत्रिका" की रचना की है। सूर की कृष्ण कथा के समक्ष सखा राम की गाथा को स्वर्णाक्षरों में लिखा है।

सतसई परम्परा में तुलसी ने सतसई लिखकर योग दिया। खण्डकाव्य की परम्परा में "जानकी मंगल" तथा पार्वती मंगल काव्यों की सृष्टि की। इन दोनों काव्यों की रचना विवाह समय में गीतो का स्थान लेने के लिये की गइ है।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की तीव्र दृष्टि जनसमाज के विचार क्षेत्र में भी रमी है। जहाँ तुलसी ने पंडित वर्ग का ध्यान रखा वहीं निम्न वर्ग की रीति रिवाजों, संस्कारों प्रथाओं को भी राम धर्ममय बनाया है। "रामलला नहछू" की चरम श्रृंगारिकता कवि के जनहृदय तक पहुंचने की चेष्टा मात्र है। इसमें राम कथा के द्वारा तुलसी ने जनजीवन के हृदय का स्पर्श किया है। रामाज्ञा प्रश्न और राम शलाका में कवि ने अपने युग का कार्य पूर्ण किया है।

तुलसी के समय में जो काव्य प्रवृत्ति बलवती हो उठी थी और एक प्रकार से मर्यादा का उल्लंघन कर रही थी वह थी विलास की प्रवृत्ति। विलास काव्य अर्थात् रीति काव्य की प्रवृत्तियों की भी प्रतिक्रिया तुलसी पर अनेक रूपों में हुई। "बरवै रामायण" की रचना कवि ने अलंकारों के आधार पर ही की है। परन्तु इनमें तुलसी के विलास प्रवृत्ति का विरोध ही किया है।

इस प्रकार धर्म–प्रतिष्ठापरक और काव्य सृष्ठा तुलसी ने जो कुछ किया वह स्वान्तः सुखाय था, पर उनकी व्यापक दृष्टि में लोकहित ही प्रधान था। स्वान्तः सुखाय परान्तः सुखाय को अपने में समाहित किये हुये था। यही कारण है कि तुलसी की वाणी लोकवाणी होकर जन जीवन का कंठहार बन गई। आत्म कल्याण के साधक उसके आश्रय से आत्मोन्नति के मार्ग में बढ़े। धर्मतत्व के जिज्ञासुओं को उसमें सनातन वैदिक धर्म के दर्शन हुये। काव्य रसिकों ने उनके रस–सिक्त वाणी में ब्रह्मनन्द संहोदर की प्राप्ति की है। उनके काव्य में लोक के सभी वर्गो को अपनी–अपनी आवश्यकतानुसार अपनी रुचि को तृप्त करने वाली सामग्री प्राप्त हुई। उनकी वाणी में लोक कल्याण का सच्चा विधान हुआ है।

निष्कर्षतः काव्य–रचना करके तुलसी ने अपने समय में फैले कलि के कुशाहन चक्र को काट कर उस क्षणिक माया के अंधकार को नष्ट किया है और जनमानस को वास्तविक प्रकाश दिया है। निराशा के गर्त में डूबे जीवन को आशा से प्रफुल्ल जीवन का उदात्त रूप रखा। जिससे वह ऐहिक और पारलौकिक संकटों का सामना करने में समर्थ हो। यही कारण है। कि मानवता का उच्चादर्श प्रतिष्ठित करने वाले तुलसीदास हिन्दी जगत के उन्नायक एवं सुधारक माने गये है। हिन्दी गगन में प्रकाशमान वह ऐसे कलाधर हैं। जिनकी कला कभी क्षीण न होगी। उनकी अमर कृतियों में नित्य जीवन छटायें पूर्णता में नवीनता उत्पन्न कर सदैव मन को आनन्द, बुद्धि को प्रबोध और हृदय को सन्तोष लाभ देती रहेगी।

हिन्दी जगत में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान अक्षुण्ण है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १. लोकनायक किसे कहते हैं ? लोकनायक के रूप में तुलसी की विशेषतायें बताइये।

उत्तर – लोक का अर्थ है – ऐसा व्यक्ति जो प्राणि मात्र के उद्धार के लिये संकल्पित हो, उसे **लोकनायक** कहते हैं। वह किसी से कुछ नहीं चाहता, परन्तु हर व्यक्ति, हर प्राणी की पीड़ा को दूर करना ही अपना धर्म समझता है। समाज के लिए समर्प्रित ऐसे व्यक्ति ही लोकनायक कहे जाते है। गोस्वामी तुलसीदास प्रारम्भ में ही कहते हैं –

"कीरति भनिति भूति भलिसोई। सुरसरि सम सबु कर हित होई।।"

पर पीड़ा की अधमाई मानने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने राम के रूप में ऐसे स्वरूप का वर्णन किया जिसका उद्देश्य केवल लोक का उद्धार था। जाति, वर्ण, धर्म, राष्ट्र के भेद को मिटा कर तुलसी के राम पर पीड़ा दूर करने में तत्पर रहे। उनके जीवन में चाहे जितने संकट आये उन्होंने लोकाद्धार के संकल्प का परित्याग नहीं किया। तुलसी की एक लोकाद्धार छवि ही उन्हें लोकनायक सिद्ध करती है। तुलसी के काव्य में संघर्ष और कलह के स्थान पर सामाजिक समरसता के सिद्धान्त को सर्वोपरि माना गया है। इसीलिए जार्ज ग्रियर्सिन ने तुलसी को लोकनायक कहा है।

प्रश्न २. तुलसी को समन्वयवादी क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – तुलसीदास का युग विरोधाभासों का युग था। जीवन के हर क्षेत्र में विसंगतियाँ व्याप्त थीं। हिन्दू धर्म में संतों एवं भक्तों के आर्विभाव के बावजूद नाना पंथ प्रचलित हो रहे थे। सामाजिक सद्भाव का अभाव था। साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भी विसंगतियाँ विद्यमान थीं। ऐसे युग में हिन्दू समाज छिन्न–भिन्न हो रहा था। आवश्यकता थी एक अनुशासन की। शास्त्र रुढ़िबद्ध होने के कारण अनुशासन तो स्थापित किया लेकिन उनका अनुशान दण्ड विधान पर आधारित न होकर समन्वय पर केन्द्रित था। उन्होंने विरोधाभासों को मिटाकर उनके उदात्त को स्वीकार किया और समन्वय पर बल दिया। निर्गुण–सगुण के परम्परित विवाद को उन्होंने एक सिक्के के दो पहलू सिद्ध कर विराम दिया। नाना पक्षों और मतों की राह बताकर लक्ष्य एक बताया। भाषा विरोध सिद्ध किया। इस प्रकार गोस्वामी जी ने सिद्धान्तों को विरोध न कर उन्हें एकता के सूत्र में संग्रहित किया। समन्वय की यह विराट चेष्टा और सम्पूर्ण जगत में सीताराम की व्याप्ति ही तुलसी का संदेश है।

प्रश्न ३. गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति की विशेषतायें बताइये।

उत्तर – गोस्वामी तुलसीदास रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत परम्परा में दीक्षित थे। वे ईश्वर के प्रति समर्पित या शरणागत को ही श्रेष्ठ मानते थे। अतः उनकी भक्ति को दास्य

भक्ति कहते हैं। सेवक धर्म के कठोर व्रत का पालन करने वाले तुलसी के आदर्श, राम, भरत और हनुमान थे। राम के प्रति अनन्य निष्ठा और उनके चरणों की उपासना ही तुलसी का लक्ष्य था। अनन्य भाव से उपासना के कारण ही तुलसी की भक्ति को चातक भक्ति भी कहा जाता है। तुलसी ने सेवक–सेव्य भाव को ही श्रेष्ठ माना है। गरुड जी कहते है –

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारी।

गोस्वामी जी की भक्ति का यह रूप भी नवधा भक्ति के अन्तर्गत आता है।

राम के प्रति अनन्यता, पूरे संसार में राम की व्याप्ति, ईश्वरत्य के प्रति प्रेम और सेवा भाव, ब्राह्माडम्बरों से परे मानोपासना और प्रभु सेवा को ही तुलसी भक्ति का साधन मानते थे। तुलसी ईश्वर से प्रतिदान नहीं माँगते उनका मत है –

"जाहि न चाहिउ कबहुँ कछु न तुम सहज सनेहा।

इस प्रकार तुलसी ने दास्य भक्ति को स्वीकार किया है।

प्रश्न ४. गोस्वामी तुलसीदास का साहित्यिक योगदान बताइये।

उत्तर – महाकवि तुलसीदास भक्तिकाल के ऐसे अकेले महाकवि हैं, जिनके काव्य में भक्ति के साथ काव्य विधान का भी व्यवस्थित व्यवहार हुआ है। 'कवि न होउँ, नहिं बचन प्रबीनू' कहकर विनम्रता प्रदर्शित करने वाले तुलसीदास ने काव्य शास्त्रीय मान्यताओं को भी नया मान्नदण्ड दिया है। उनके काव्य की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

(क) प्रचलित लोक भाषाओं में काव्य रचना : ब्रज भाषा और अवधी दोनों काव्य भाषाओं में रचना करने के साथ संस्कृत का उपयोग कर परम्परा से सम्बन्ध बनाये रखा है।

(ख) प्रचलित छन्दों का प्रयोग – गोस्वामी जी ने उस युग के प्रचलित समस्त काव्य रूपों और संस्कृत के वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग किया है।

(ग) महाकाव्य और मुक्तक काव्य में रचना।

(घ) सभी रसों और अलंकारों का प्रयोग।

(ड़) लोकहित एवं लोकादर्श के द्वारा काव्य को लोक कल्याण का माध्यम बनाना।

प्रश्न ५. सूर और तुलसी की भक्ति का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – तुलसी और सूर की भक्ति पद्धति पर विचार करने पर दोनों में कुछ समानतायें तथा कुछ विषमतायें भी मिलती हैं –

समानता – (क) दोनों ही सगुण ब्रह्म (भगवान) पर विश्वास रखते थे।

(ख) दोनों के ही आराध्य अवतारी, लीला पुरुष, सौन्दर्य के निकर्ष उदात्त चरित्र युक्त हैं।

(ग) दोनों की भक्ति पद्धति में गुरु का अत्यन्त महत्व है।

(घ) नाम महिमा का महत्व दोनों ही स्वीकार करते हैं।

(ड़) दोनों ही भक्त मोक्ष की आकांक्षा नहीं करते हैं।

विषमता – (क) सूरदास पुष्टि मार्गी भक्ति भाव रखते थे जिसका आधार शुद्धाद्वैत था। तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक थे।

(ख) तुलसीदास ने दास्य भाव से जबकि सूर ने साख्य भाव भक्ति की है।

(ग) तुलसी के राम शक्तिशील और सौन्दर्य के समवाय है। सूर के कृष्ण प्रेम जीवन और रूप युक्त रसिक शिरोमणि हैं।

(घ) तुलसी की भक्ति मर्यादावादी है। उन्होंने कभी भी श्रृगारिक प्रसंगों में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया जबकि सूर काव्य में मूलक है।

(ड़) तुलसी की भक्ति में लोक रक्षण का तत्व अधिक है जबकि सूरदास लोकरंजन का तत्व।

(च) तुलसी भक्ति में आराध्य की श्रेष्ठता और आराधक के लघुत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है जबकि सूर में इस स्तर तक यह नहीं किया जा सका है। इस सम्बन्ध में डा० उदयभानु सिंह ने कहा है – "भगवान की महिमा और अपने दैन्य के प्रति जागरुक दास भक्त भक्ति के आदर्श से कभी भी च्युत नहीं हो सकता है। सखा द्वारा जाने अनजाने प्रभु के अनादर की सम्भावना बनी रहती है।

(छ) तुलसी की भक्ति शरणागति की पराकाष्ठा है। "तात मात पितु सखा तू सब विधि हितू मेरो" कहने वाले तुलसी सूर से अधिक मर्यादित प्रतीत होते हैं।

प्रश्न ६. कवितावली के काव्य सौष्ठव पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – कवितावली का काव्य सौष्ठव – गोस्वामी तुलसीदास जी के समय रसमयी रामकथा का वर्णन विभिन्नशैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से मुख्य हैं – (क) वीरगाथा काल का छप्पय पद्धति (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत–पद्धति (ग) गंग आदि भांटों को कवित्त सवैया पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति–सम्बन्धी बानी की दोहा–पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आ रही थी, (ड़) ईश्वरदास की दोहा चौपाई वाली प्रबन्ध–पद्धति। इस प्रकार काव्य–भाषा के दो रूप ब्रजी तथा अवधी तथा रचना को विधान की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्यवाणी में दिखाकर हिन्दी–साहित्य जगत में प्रथम पद के अधिकारी हुए। जिस प्रकार गोस्वामी जी को ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था, उसी प्रकार अपने समय में प्रचलित समस्त शैलियों में रचना कर गोस्वामी ने विभिन्न शैलियों पर पूर्ण अधिकार को प्रदर्शित किया है। गोस्वामी जी की 'कवितावली' गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्धति पर लिखी हुई मुक्तक रचना है। मुक्तक काव्य तारतम्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण (मुक्तेन मुक्तम्) मुक्तक कहलाता है और उसका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। भक्ति में क्रमन्यास हो सकता है जैसा कि गोस्वामी जी की कवितावली, गीतावली आदि में हैं, किन्तु इनके पद एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, वे स्वतः पूर्ण हैं। सम्पूर्ण 'कवितावली' की रचना विभिन्न छन्दों में हुई है। 'कवितावली का प्रत्येक छन्द अपने आप

में पूर्ण होने के कारण मुक्तक काव्य की विशेषताओं से सम्पन्न है, तथापि इन छन्दों को कथा–प्रसंग के अनुसार संग्रहीत करके 'कवितावली' एक मुक्तक प्रबन्ध काव्य है।

'कवितावली' में रामकथा वर्णित है। इसमें भी सात काण्ड हैं, किन्तु कथायें पूरी नहीं हैं। बालकाण्ड में बाललीला का वर्णन है। इसके पश्चात् सीता स्वयंवर और परशुराम दमन है। 'मानस' का जो लक्षण परशुराम सम्वाद है, वह इसमें नहीं हैं और विवाह के बाद का इसमें दिया गया है। अयोध्याकाण्ड की कथा बनारस में प्रारम्भ होती है। केवट प्रसंग बड़ा ही रुचिकर है। मार्ग में ग्रामीण स्त्रियों की सरलता का वर्णन अत्यन्त सुन्दर है। अरण्य और किष्किन्धा काण्ड में एक–एक पद है। अरण्य में सोने के मृग का वर्णन हुआ है और किष्किन्धा में हनुमान का समुद्र में कूदना वर्णित हुआ है। सुन्दरकाण्ड में अशोक वाटिका, वहाँ हनुमान का जाना, उसको उजाड़ना आदि का वर्णन है। हनुमान के द्वारा लंकाकाण्ड में युद्ध का वर्णन है। प्रारम्भ में त्रिजटा ने भविष्यवाणी की है। मन्दोदरी और विभीषण ने रावण को समझाया, मेघनाथ आदि ने रावण का समर्थन किया है। इसके बाद युद्ध प्रारम्भ हुआ है। लक्ष्मण और हनुमान के युद्ध का बड़ा ही सजीव वर्णन है। राम के युद्ध के संबंध में अत्यल्प में चित्रण हुआ है। संजीवनी बूटी लाना और रावणादि का वध कर काव्य समाप्त किया है। उत्तरकाण्ड में रामचरित संबंधी कोई कथा नहीं है। उसमें भक्ति रस पूर्ण कविता है। राम की कृपा और महत्व का सविस्तार वर्णन हुआ है। भक्त वत्सल भगवान राम के कार्यों का जिस सुन्दरता से वर्णन हुआ है वह आस्वाद्याय है, उपभोग्य है। भक्त हृदय के उद्‌गार से नीरस हृदय भी भक्ति–रसलुप्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इसकी रचना प्रबन्ध काव्य के रूप में एक बार नहीं की है। यदि ऐसा होता तो विभिन्न काण्डों में कोई समानुपातिक क्रम नहीं होता, किन्तु पुस्तक में कोई विशेषक्रम नहीं दृष्टिगोचर होता इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भिन्न–भिन्न समय में गोस्वामी जी के आधार राम थे। रामचरित्र को लेकर वह काव्य रचना करते थे। जब मन में आया, दस–पाँच छन्द बना दिये करते होंगे इस प्रकार उनकी संख्या अधिक हो जाने पर एक स्थान संग्रहीत कर दिये गये होंगे और संग्रह का नाम 'कवितावली' रख दिया गया।

प्रश्न ७. 'कवितावली का मुख्य विषय क्या है?

उत्तर – गोस्वामी तुलसीदास रचित 'कवितावली' का विभाजन बालकाण्ड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किन्धाकांड, सुन्दरकांड, लंकाकांड एवं उत्तरकांड आदि सप्तम रूपों में किया गया है। कथा का क्रमबद्ध स्वाभाविक प्रवाह महाकाव्य की अनिवार्य विशिष्टता होती है किन्तु 'कवितावली' में प्रकीर्णक खंड चित्र है। उदाहरण के लिए बालकांड में राम के बालरूप की झाँकी है, मात्र धुनष भंग की चर्चा है। इसमें विश्वामित्र प्रसंग और मिथिला गमन की कोई चर्चा नहीं है।

अयोध्या में भी कथा का सर्वत्र अभाव दिखाई देता है। कैकेयी के वरदान और भरत

के चित्रकूट गमन जैसे मर्म स्पर्शी प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। अरण्यकांड में केवल एक छन्द में स्पर्ण मृग के पीछे राम के दौड़ने की सांकेतिक चर्चा है। किष्किन्धा की कोई कथा नहीं है मात्र एक छन्द में समुद्रलंघन की चर्चा है जो कि सुन्दरकांड में होना चाहिए। सुन्दरकांड में अशोक वन, लंकादहन, सीता से विदाई की चर्चा है। लंका कांड में त्रिजटा का आश्वासन, समुद्रातरण, अंगद का दूतत्व, रावण–मन्दोदरी संवाद, राक्षस वानर संग्राम और युद्ध का अन्त दिग्दर्शित है। उत्तरकांड में विषय वैविध्य के कारण कथा का अभाव है। इस प्रकार 'कवितावली' को विशुद्ध महाकाव्य नहीं माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि कवितावली कविताओं का संकलन है और उसमें मुक्तक काव्य का अप्रतिम छटा देखने को मिलती है।

प्रश्न ८. श्रीकृष्ण गीतावली का प्रतिपाद्य क्या है ?

अथवा

तुलसी रचित श्री कृष्ण गीतावली का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर – श्रीकृष्ण गीतावली गोस्वामी तुलसीदास का अति ललित ब्रजभाषा में रचित बड़ा ही रसमय और अत्यन्त मधुर गीति काव्य है। इसमें कुल ६१ पद हैं जिसमें २० बाल लीला के, ३ रूप सौन्दर्य के, ६ विरह के और २७ उद्धव–गोपी संवाद या भ्रमरगीत के और २ द्रौपदी लज्जा रक्षण के हैं। सभी पद परम सरस और मनोहर हैं। गोस्वामी जी के इस ग्रन्थ से यह भली–भाँति सिद्ध हो जाता है कि श्री राम रूप के अनन्योपासक होने पर भी श्री गोस्वामी जी भगवान श्री रामचन्द्र और भगवान श्री कृष्ण में सदा अभेद बुद्धि रखते थे और दोनों ही स्वरूपों का तथा उनकी लीलाओं का वर्णन करने में अपने को कृत–कृत्य या धन्य मानते थे। गोस्वामी तुलसीदास रचित विनयपत्रिका में श्री कृष्ण का महत्व कई स्थलों पर आया है पर श्री कृष्ण गीतावली में तो वह प्रत्यक्ष प्रकट हो गया है।

श्रीकृष्ण गीतावली के पदों में ऐसा स्वाभाविक सुन्दर और सजीव भाव चित्रण है कि रसास्वादन करते हुये लीला प्रंसग मूर्तिमान हो जाता है। बाल रूप वर्णन में गोस्वामी जी ने सूर की भाँति कृष्ण के सौन्दर्य की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है –

"माता (लै) उछंग गोबिन्द मुख बार–बार निरखै।
पुलकित तनु आनन्दघन छन–छन मन हरषै।।
पूछत तोतरात बात मातहि जदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहि मोहि कछु समुझाई।।

गोपी–उद्धव संवाद में कितनी स्वाभाविकता एवं तार्किक बुद्धि का समावेश गोस्वामी जी ने किया है।

"उधौ! या ब्रज की दसा विचारौ।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारौ।।

जा कस पठए तुम माधव, सो सोचहुँ मन माहीं।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौं किधा नाहीं ?"

अन्तिम पंक्ति में – विरह व्यथा में और तुम्हारे परमार्थ कैवल्य मोक्ष में, कितना अन्तर है ? यह तुम जानते हो। इस प्रकार तुलसी ने प्रस्तुत रचना में सूर की भाँति कृष्ण के सभी रूपों को सुन्दर, सजीव और स्वाभाविक रसयुक्त वर्णन किया है।

अलंकारों की सुन्दर छटा भी कहीं–कहीं देखने को मिलती है। प्रस्तुत पद में सांगरूपक अलंकार के माध्यम से तुलसी ने इसी बात को सिद्ध किया है कि अब गिरिधर लाल के बिना इस गोकुल का स्वामित्व कामदेव ने कर लिया है और उसने सम्पूर्ण ब्रज भूमि देवराज इन्द्र से मिल्कियत रूप में प्राप्त कर ली है। बादल इस कामदेव के सन्देशवाहक हैं, उडती हुई बगुलों की कतार उसका शिरोवेष्टन है बिजली सुन्दर सैनिक–झंडा है कोकिल की बोली मानो भाटों का यशोगान है।

"कोऊ सखि नई बात सुन आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सों मद मिलिक करि पाई
घन घावन, बग पाँति पटोसिर बैरखु तड़ित सोहाई।।
बोलत पिक नकीब, गरजनिमिस, मानहुँ फिरत दोहाई।।

प्रश्न ९. गीतावली के भाव सौन्दर्य पर प्रकाश डालिये।

अथवा

गीतावली कोमल भावों की मंजूषा है। इस कथन की पुष्टि कीजिये।

उत्तर – कविकुल चक्रचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों में कलेवर की दृष्टि से रामचरितमानस के पश्चात् गीतावली का ही एक मात्र स्थान है। इसमें सम्पूर्ण राम चरित्र का पदों में वर्णन किया गया है परन्तु रामचरित की अपेक्षा इसकी वर्णन शैली कुछ दूसरे ही ढंग की है। रामायण महाकाव्य है। उसमें सभी रसों का सांगोपांग दिग्दर्शन कराया गया है। वहाँ कवि हृदय के गम्भीर भावों का विश्लेषण देखने में आया है। परन्तु गीतावली में आरम्भ से लेकर अन्तर तक कवि एक ही भाव दिखाई देता है, वह कथानक के क्रम की अपेक्षा न करके अपने इष्टदेव के मधुर झाँकी करने में ही संलग्न है। गीतावली में इसका ललित भाव ही व्यक्त हुआ है। जहाँ–जहाँ भगवान के रूप माधुर्य अथवा काव्यरस के आस्वादन का अवसर मिला है, वहाँ–वहाँ तो व मध्याह्नकालीन सूर्य की भाँति मन्द गति से चलते हैं, इसके विपरीत जहाँ अन्य विषय हैं, इसकी ओर दृष्टिपात नहीं करते।

गीतावली में अन्य युद्धों की तो बात ही क्या रावण वध का भी उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। किष्किन्धा का उल्लेख केवल दो पदों में समाप्त हो जाता है। लंकाकांड भी अन्य रामचरित ग्रन्थों से बहुत छोटा है। उसके विपरीत भगवान की बाल लीला, भरत–मिलाप,

जटायु–उद्धार विभीषण–शरणागति, सीता जी की वियोग व्यथा, रामहिंहोला, तथा होली आदि सुललित और करुणा भावों का बड़ा ही विशद और मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। बालकांड के आरम्भ में भगवान के बाल रूप अन्त में जनकपुर द्वारा उनकी किशोर मूर्ति का बडा ही अनूठा चित्रण मिलता है।

भगवान के बाल रूप का वर्णन देखिए –

"सुभग से जसोमित कौसिल्या रुचिर राम–सिसु गोद लिये।
बार–बार बिधुबदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये।।
कबहुँ पौढ़ि पयपान करावति कबहूँ राखनि लाइ हिये।
बाल–केलि गावति हलरावति पुलकित प्रेम–पियूब पिये।।"

जनकपुर में राम–लक्ष्मण के अनुपम सौन्दर्य को देखकर एक स्त्री दूसरी स्त्री से कहती है।

"राम–लखन जब दृष्टि परे री,
अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो विधि विविध बिदेह करे री,
धनुष जग्य कमनीय अवनितल कौतुक ही भए आए खरे री।
छवि–सुरसभा मनहु मनसिज के कलित कल्पतरु रुप फरे री।।

राम–भरत के मिलन का बड़ा ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी गीतावली में चित्रित किया गया है यथा –

"भरत–भए बड़े कर जोरि,
है न सकत सामुहें सकुचबस समुझि मातुकृत खोई।
फिरिहैं किधौं फिरहन कहि हैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि,
हृदय–सोच, जल–भरे बिलोचन नेह देह भइ मोरि।।"

माता की कुचाल समझकर भरत प्रभु राम के समक्ष खड़े नहीं हो सकते थे। उसके नेत्रों में जल भरा हुआ था और चित्त में यह सोच–विचार था कि न जाने प्रभु फिरेंगे अथवा मेरी कुटिलता समझकर मुझे लौट जाने को कह देंगे?

इस प्रकार गीतावली में ऐसे ही अनेक मार्मिक प्रसंगों को ही तुलसी ने संस्पर्श किया है। इसीलिये यह रचना कोमज कान्त पदावली से परिपूर्ण है। संगीतात्मकता मर्म स्पर्शिता आदि इसके प्रधान गुण हैं।

प्रश्न १०. दोहावली के रचना–विधान पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – दोहावली गोस्वामी तुलसीदास की प्रमुख कृतियों में है और भक्त समाज में इसका बहुत आदर है। गोस्वामी जी ने अपनी अनुभूतियों को बड़े ही भावपूर्ण दोहों में व्यक्त किया है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, नीति आदि विविध विषयों पर इतने सरस दोहे गोस्वामी जी की कृतियों के अतिरिक्त सम्भवतः किसी कवि में नहीं मिलते। कबीर ने

दोहों में भी ज्ञान और चिन्तन की प्रधानता है।

रामनाथ – जय की महिमा का वर्णन करते हुये तुलसी लिखते हैं –

राम नाथ मनिदीप घरू जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेउँ जौं चाहसि उजिआर।।

यदि तू भीतर बाहर परमार्थिक ज्ञान रूपी प्रकाश प्राप्त करना चाहता है। तो मुख रूपी दरवाजे की देहली पर राम नाम रूपी मखिदीप रख दे।

नाम राम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून।।

तुलसी ने दोहावली रचना में, प्रेम की आनन्दता के सन्दर्भ में चातक का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

एक भरोसों एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।

प्रेम की आनन्दता भक्ति के लिये अनिवार्य है। एक ही भरोसा है, एक ही बल है, एक ही आशा है और एक ही विश्वास है। एक राम रूपी श्यामघन के लिये तुलसीदास चातक बना हुआ है।

मेघ कड़क–कड़क गर्जता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है। इतने पर भी प्रेमी पपीहा मेघ को छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है –

"उपलि बरसि गरजन, तरजि डारत कुलिस कषेरु।
चितव की चातव मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।।

नीति के वचन भी दोहावली में तुलसी ने दिये हैं यथा –

"बोल न मोटे मारिए, मोटी रोटी मारु।
जीति सहस सम हारियो, जीते हारि निहारु।

इस प्रकार दोहावली में कवि ने अपने जीवनानुभवों को दोहों के माध्यम से व्यक्त किया है और उसकी अभिव्यक्ति शैली में सहजता एवं स्वाभाविकता है।

प्रश्न ११. रामचरित मानस में कुल कितने कांड है और उनके नाम बताइये।

उत्तर –महाकवि तुलसीदास जी द्वारा रचित रामचरित मानस में कुल सात काण्ड हैं जिनका नामोल्लेख निम्न दृष्टव्य है –

(१) बालकाण्ड (२) अयोध्याकाण्ड
(३) अरण्यकाण्ड (४) किष्किन्धाकाण्ड
(५) सुन्दरकाण्ड (६) लंकाकाण्ड
(७) उत्तरकाण्ड।

बिहारी

रीति काव्य परम्परा में बिहारी

प्रश्न १. रीतिकाव्य परम्परा में बिहारी का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर –' हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल १३७५ से १७०० तक **"स्वर्णकाल"** कहलाया। इस युग में हिन्दी काव्य का बहुमुखी विकास हुआ, तथा भक्त एवं संत कवियों ने अपनी रचनाओं में मानव हृदय को स्पर्श करने वाली, मानव के साथ सहानुभूति रखने वाली उदार भावनाओं का निरूपण हुआ। लोक जीवन की सामाजिक संकीर्णतायें दूर हुई – सत्यशील सौन्दर्य, समन्वित उस परमब्रह्म की ओर सहज आकर्षण उत्पन्न हुआ। रीति काल १७०० से १६०० तक, में काव्यधारा इसके विपरीत बही। उस समय कविगण मानव कल्याण की ओर उन्मुख न होकर राजा अथवा व्यक्ति विशेष की ओर उन्मुख हुये। अलौकिक सत्ता के स्थान पर सर्वथा लौकिक चित्रण होने लगा। रूपगुण सम्पन्न नारी की कामोद्दीपक चेष्टाओं, क्रीडाओं आदि का निरूपण होने लगा। आध्यात्मिक से विमुख सांसारिक विलासिता के गीत गाने लगे। ईश्वरीय विभूति के विवेचन के स्थान पर मानवीय ऐश्वर्य एवं भोगविलास की चर्चा काव्य में होने लगी। रीतिकाल सम्भवतः उन काव्य ग्रन्थों के समुदाय का बोधक हो गया, जिनकी राशि "रीति" के नाम पर एकत्र हुई। श्रृंगारिक भावनाओं का प्राधान्य होने के कारण रीतिकाल श्रृंगार काल के नाम से भी अभिहित हुआ। इस युग के कवियों का ध्यान भक्ति, नीति तथा आचार की ओर न जोकर लौकिक प्रेम का अनेक रूपों के चित्रण में लगा। अब प्राकृत जन गुणगान में उन्हें पश्चाताप नहीं था। इतना अवश्य है कि इस युग में कला का अत्यधिक विकास हुआ। मुगल शासकों की कलापूमर्ण रूचि के कारण स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं के साथ–साथ काव्य कला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई, और काव्यात्मक अभिव्यक्ति में पहले से अधिक सूक्ष्मता, गहनता प्रांजलता एवं चमत्कार–प्रियता के दर्शन होने लगे। रीति युग की सहज प्रवृत्तियाँ सभी रीति युगीन कवियों में न्यूनधिक्य रूप में विद्यमान रही हैं। कविवर बिहारी में इनका चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है। अतएव रीति काव्य धारा की सामान्य प्रवृत्तियों के निरूपण में बिहारी के काव्य में उनके चरम विकास को देखने का प्रयत्न करेंगे। सामान्यतः रीति काव्य धारा की प्रमुख प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं–

राज्याश्रय – रीतिकालीन कवि भक्तियुगीन कवियों की भांति निर्जन प्रदेश, तीर्थ स्थान, वे मंदिरों आदि में रहना नहीं पसन्द करते थे। अपितु सामन्त कालीन वातावरण में पालन पोषण होने के कारण राजा महाराजों के वैभव सम्पन्न महलों में रहना ही पसन्द करते थे। प्राकृत गुणगान करना ही अपना सौभाग्य समझते थे क्योंकि इन राजाओं के आश्रय में रहकर उनकी प्रशस्ति गाथा में उनकी रुचि के अनुकूल काव्य रचने में इन कवियों को प्रचुर धन और यश की प्राप्ति होत थी। इस राजदरबारों में ही इनकी प्रतिभा

का निखार होता था। इनकी संगति में रहने के कारण ही इनकी वाणी का श्रृंगार होता था। सभी रीतिकालीन कवि किसी न किसी राजा के दरबार में रहकर अपनी रचनायें करते थे और धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त करते थे। इसी कारण केशव ओरछा नरेश के यहां रहते थे और उनके दरबारी कवि बने। कविवर बिहारी नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के दरबार में रहे। मतिराम, भूषण आदि क्रमशः बूंदी नरेश भावसिंह तथा त्रपति शिवाजी के दरबारी कवि बने। कविवर देव को राजाओं का आश्रय लेना पड़ा। रीतिकाल के इन सभी महान कवियों में बिहारी ने सर्वाधिक ऐश्वर्य और धन अर्जित किया। कहा जाता है कि बिहारी को उनके प्रत्येक दोहे पर एक एक स्वर्ण आशर्फी मिलती थी। इनके छोटे से छोटे दोहे को सुनकर सुहृदय, कलामर्मज्ञ, दरबारीगण मुग्ध हो जाया करते थे। बिहारी के दोहों में अपूर्व क्षमता थी। कायासक्त राजा जयसिंह को एक दोहे से "नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास एहि काल। अली कली ही सों बध्यों आगे कौ हवाल।" ही सचेत कर दिया। बिहारी की कविता को यही अद्भुत शक्ति ने बिहारी को अपूर्व यश और धन लाभ प्राप्त कराया।

ऐहिकता तथा विलासिता — रीति कालीन कवि सामन्तयुगीन वैभवपूर्ण वातावरण में रहते रहते पूर्णतः सांसारिक हो गये और उनका वह आध्यात्मिक तेज सदैव के लिये सांसारिकता के आधार में विलीन हो गया। उनके हृदय पर राजाओं के ऐश्वर्य एवं धन ने ऐसा प्रभाव स्थापित कर दिया कि वे **"यथा राजा तथा प्रजा"** की कहावत को चरितार्थ करते हुये रात दिन सांसारिक भोग विलास, विलासिता, काम क्रीड़ा, नारी सौन्दर्य, नारियों के हाव भावों आदि के चित्रण में लीन रहने लगे और अपने काव्य द्वारा पर्याप्त धनोपार्जन करने लगे। इस दिशा में बिहारी ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। बिहारी की कविता सांसारिकता के सभी तत्वों से परिपूर्ण है। जहां कहीं बिहारी के भक्ति सम्बन्धी दोहों के अन्तर्गत थोड़ी बहुत आध्यात्मिकता दिखाई देती है, वह केवल राधाकृष्णन के सुमिरन का बहाना मात्र है। इसलिये बिहारी में सर्वत्र अपने आश्रयदाता एवं रसिक जनों के रिझाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रीतिकालीन सभी कवि अपने आश्रदाताओं के शीशमहलों, उच्च अट्टालिकाओं, झाड़–फानूसों, कुसुमित कुंजो, बिहार भूमियों, संकेत स्थलों सुरम्य वाणी एवं तड़ागों शीतल फव्वारों, सुरभित उपवनों, क्रीड़ा पर्वतों आदि के वर्णन में ही लीन दिखाई देते हैं। बिहारी ने भी अपने विलासप्रिय जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के उस सुरम्य शीशमहल का वर्णन किया है जो आमेरगढ़ में बनवाया गया था तथा जिसमें ऐसे छोटे–छोटे शीशे जड़े हुये थे जिनमें प्रतिबिम्ब पड़ते ही एक व्यक्ति के अरगणित रूप दिखाई देते थे—

"प्रतिबिम्बित जयसिंह दुति दीपनि दरपन धाम।
सब जग जीवन कर्‌यौ काय ब्यूह मन काम।।"

बिहारी ने विलासी जनों के योग्य कामोद्दीपक एवं मनोरंजक उन कलित ललित एवं कुसुमित मालती कुंजों का भी वर्णन किया है, जहां बैठकर प्रायः विलासी व्यक्ति ग्रीष्म काल में मनोरंजन किया करते थे। यथा —

"धाम धरीक निवारिये, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल जरू मिलित मालती कुंज।।"

ऐसे ही बिहारी ने विलासी कामीजनों के संकेत स्थलों एव मिलन स्थलों का भी वर्णन किया है। यथा –

"सनु सूक्यों बीत्यों बनौ, अखै लइ उरवरि।
हरी हरी अहरहर अजौ, धरि घरहरि जिय नारि।।"

इतना ही नहीं घने कुंजे नागरिकों के मिलन स्थल थे। यथा–

"संघन कुंज, धन घन तिमिर अधिक अंधेरी राति।
तऊ न दुरि हैं स्याम वह दीप सिखा सी जाति।।"

इतना ही नहीं बिहारी ने तत्कालीन विलासिता का दिग्दर्शन कराते हुये अरगजा, चन्दन, केसर आदि अंग रागों, मोती माला, मणिहार आदि आभूषणों, विभिन्न प्रकार के झीने एवं पारदर्शी वस्त्रों आदि का भी वर्णन किया है और यह दिखाया है कि किस प्रकार विलासी नायक नायिकायें अपने प्रेमियों के गलबाहें डाल कर एकान्त में घूमा करते थे और वर्षा के उमड़ते हुये बादलों की छटा निहारा करते थे–

"छिनुक चलति, ठ्ठुकति, छिकुन भुज प्रीतम कलहार,
चझी अटा देखति घटा, बिज्जु छटा सी नार।।"

इस प्रकार बिहारी ने विलासिता का जीता जागता चित्र खींचा है।

कामुकता – रीतिकालीन कवियों ने नायक नायिकाओं का कामुकता पूर्ण चित्र अत्यधिक खींचा है। बिहारी ने अपने नायक नायिका को सदैस कामातुर अवस्था में लीन दिखाया हे। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

(१) *"लरिका लेने के मिसनु लंगरू मो ढिग आई।*
गयो अचानक आंगुरी, छाती छैल छुवाई।।"

(२) *"चितई ललचोह लखनु डटि घूघंट पअ मॉह।*
छल सों चली छुवाइ के छिनकु छबीली छॉह।।"

इन दोनों में कामुकता की स्पष्ट झलक मिलती है।

नायिका भेद – रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के सामाजिक व्यवहार, नायक के साथ संयोग–वियोग, नायक के प्रति प्रेम, स्वभाव, यौवन क्रीड़ा गुण आदि के आधार पर कितने ही भेद प्रभेद किये हैं। प्रायः स्वकीया, परकीया, वेश्या ये तीन भेद पहले से प्रचलित थे, बाद में तो विभन्नि प्रकार की नायिकाओं के भेद हो गये। इन समस्त वर्गीकरणों का मूलाधार नारी ही था। उसके प्रति कवियों की आसक्ति रूप सौन्दर्य चित्रण , आदि की विविधा झांकियां देखने को मिलती हैं।

बिहारी ने नायिकाओं का वर्गीकरण तो नहीं किया, किन्तु सभी प्रकार की नायिकाओं के सौन्दर्य सम्बन्ध बिहारी ने अवश्य खींचा है। नायिका में शोभाद्व दीप्ति, कान्ति आदि जो उसके सौन्दर्य विधायक सहज गुण होते हैं, उनका चित्रण करते हुये बिहारी ने नवयौवना, परकीया, नायिका के अंग प्रत्यंग में उपमड़ते सौन्दर्य का बड़ा ही मोहक वर्णन किया है। जिसके फलस्वरूप वह पतली स्त्री भी मदकारी लगती है –

"अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह।।"

रूप गुण गर्विता विवाहिता स्वकीया का भी चित्रण बिहारी की रंगीन तूलिका से हुआ है –

"सुधर सौत बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुनि हुलास।
लखी सखी तन दीठि गरि सगरब सहास।।"

प्रोषित पतिका नायिका का जीवन चित्र इस दोहे में दर्शनीय है –

"तर झरसी, ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाई।
पिय पाती बिन ही लिखी, बाँची बिरह बलाइ।।"

मध्या नायिका का वर्णन इन शब्दों में मुखर हैं–

"जदपि नाहिं नाहीं नहीं, बदन लगी जक जाति।
सदपि भौंह हाँसी भरिनु, हाँ सौ ये ठहरति।।"

उत्तमा खण्डिता नायिका का चित्रण भ बिहारी ने किया है जिसका पति रात भर अन्यत्र था और नायिका क्रोधाग्नि में झुलस रही है तथापि नायक को लज़्जित देखकर उसपर क्रोध व्यक्त करने में स्वयं लज्जित है –

"जनत बसत निसि की रिसनु उर बरि रहे बिसेषि।
तऊ लाज आइ झुकत खरी लजौहे देखि।।"

इस प्रकार बिहारी ने पूर्वानुरागिनी, अन्य सम्भोग दुःखिता, स्वयंदूतिका, अज्ञात यौवना, मुग्धा, नयोढ़ा, प्रौढ़ा, ज्ञान, यौवना, विरहोत्वंठिता, स्वधीन पतिका वासक सज्जा, आदि विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के बड़े ही मार्मिक एवं मनोरंजक चित्र अंकित किये हैं।

नख–शिखा – रीतिकालीन कवियों की यह प्रमुख प्रवृत्ति रही है कि ये नायिका के रूपांकन में नख से शिख तक अंग प्रत्यंग की छवि का चित्र खींचते हैं। सभी श्रृंगारी कवियों ने नख शिख सौन्दर्य के माया जाल में उलझ कर घोर श्रृंगारिकता तथा कामुकता के चित्रण में लीन रहे हैं। बिहारी ने तो इस दिशा में और ही कौशल दिखाया है क्योंकि बिहारी के नख–शिख वर्णन में सहज सौन्दर्य के साथ इन्द्रियोत्तेजकता एवं अलंकारिकता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। बिहारी के नख शिख वर्णन में सर्वाधिक वर्णन नायिका के नेत्रों का हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है।

"सायक सम मायक नयन, रंगे त्रिविध रंग गात।
झखौ बिलखि ढुरि जात जल, लखि जलजात लजात।।"

कहीं नायिका के मुख का सौन्दर्याकन करते समय उसे पूर्णिमा का चन्द्र बताता है –

"पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहूं पास।
नित प्रति पून्योई रहे, आनन ओप उजास।।"

बिहारी ने नायिका के अंग प्रत्यंग के सौन्दर्य की बड़ी सूक्ष्म झांकी प्रस्तुत की है। कहीं झीने पट में झलमलाती नायिका की अंग कांति दिखती है, कहीं कान का तखन आकर्षित करता है। कहीं नाक–बसेर, कहीं कंठ, कपोल चिबुक आकृष्ट करता जान पड़ता है। हाथ, पैर, कटि, स्तन, त्रिबली, नितम्ब आदि की ओर बरबस आकर्षण उत्पन्न करते

बिहारी जान पड़ते हैं। बिहारी का नख शिख वर्णन श्रृंगारिकता के साथ सौन्दर्य चेतना को उदबुद्ध करने वाला है।

संयोग वर्णन – रसराज श्रृंगार के दो भेद हैं – सम्भोग अथवा संयोग श्रृंगार, तथा विप्रलम्भ अथवा वियोग श्रृंगार। रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगार का इतना अधिक वर्णन किया है कि प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस "श्रृंगार–काल" ही कहना उचित समझा है। रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगार के संयोग पक्ष का वर्णन करते हुये नायक नायिका के विभिन्न क्रीड़ा व्यापार, श्रृंगारिक चेष्टायें, अठखेलियां, विभिन्न प्रकार की रति कलियों आदि का निरूपण किया है। श्रृंगार के इस क्षेत्र में नायिका का रूप सौन्दर्य चित्रण, नख शिख वर्णन, नायिका भेद, दूत–दूती प्रेषण, हास परिहास निरूपण आदि आते हैं। इसके साथ ही विविध काम केलियां जैसे जल बिहार, वन बिहार, पतंग बाजी, कबूतर बाजी, फाग खेलना आदि इसके अंतर्गत आते हैं। बिहारी ने तो इस दिशा में चमत्कार ही कर दिया है। बिहारी के संयोग वर्णन में काम क्रीड़ा, सुख आदि का वर्णन अधिक होने के कारण आलिंगन, चुम्बन आदि विविध वाह्य व्यापारों का चित्रण बड़ी सजीवता के साथ मिलता है। ये समस्त वाह्य व्यापार एवं इन्द्रियों की वाह्य, चेष्टायें दो भागों में विभक्त हैं। इनमें जो सचेष्ट व्यापार हैं वे हाव कहलाते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। बिहारी में दोनो का प्राधान्य है। हाव का एक उदाहरण प्रस्तुत हैं –

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करे मौंहन हंसे देन कहे नटि जाय।।"

अनुभाव का भी बडा सजीच चित्रण कवि ने किया है जिसमें नायक के कर का स्पर्श होते ही नायिका रोमांचित हो जाती है। यथा –

"स्वेद सललि रोमांच कुस गहि दुलही अरू नाथ।
हियो दियो संग हाथ के हथलेवा ही हाथ।।"

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत बिहारी ने शुक्ला भिसारिका तथा कृष्णा भिसारिका का चित्रण किया है –

(१) "जुवति जोन्ह में मिल गई नेकु न होति लखाय।
सौंधे के डोरे लगी, अली चली संग जाइ।।" – शुक्लाभिसारिका।

(२) "अरी खरी सरपट परी विधु आधे मग हेरि।
संग लगे मधु पतिलई, भागनु गली अंधेरि।।" – कृष्णाभिसारिका

इसी प्रकार संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत चुम्बन, आलिंगन, नखक्षत आदि का चित्रण बिहारी ने किया है। चुंबन का एक उदाहरण द्रटव्य है–

"मैं मिसहा सोयौ समुझि मंह चूम्यो दिग जाइ।
हंस्यो खिसानी गल गहो रही गरे लपटाई।।"

संयोग श्रृंगार के वाहा व्यापारों का भी चित्रण करना बिहारी नहीं भूले हैं। ऐसे लगता है इन वर्णनों में कवि की वृत्सि अधिक रमी है। पतंगबाजी, कबूतरबाजी, फाग आदि प्रेम क्रीड़ाओं में नायक नायिका अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं। वैसे भी प्रिय की सभी वस्तुयें तथा कार्य प्रियतमा को अच्छे लगते हैं। इसी आधार पर पतंगबाजी वर्णन करते हुये कवि

ने बताया है कि नायक को पतंग को उड़ती देखकर छबीली नायिका पतंग की परछाहीं देखते हुये आंगन में दौड़ती हैं। यथा –

"उड़त गुड़ी लखि लाल की अंगना अंगना मांह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छांह।।"

फाग एवं कबूतरबाजी के भी रंगी दृश्य बिहारी सतसई में विद्यमान हैं।

संयोग वर्णन में: रति क्रीड़ा का बड़ा ही कामोद्दीपक वर्णन बिहारी ने किया है। इसमें भी कभी कोई नायिका प्रथम समागम के अवसर पर अपने नायक के प्रति कैसी चेष्टायें करती है इसका चित्र निम्नलिखित दोहे में देखिये –

"भौंहनि त्रासति मुंह नटति, आंखिन सो लपटाति।
ऐंचि छोड़ावति करि इंची, आगे आवति जाति।।"

रति विलास सम्बन्धी अनेक दोहे बिहारी द्वारा रचित हैं। बिहारी ने तो रति के सम्पूर्ण व्यापारों का उल्लेख करते हुये यहां तक कहा है कि जिस रति में चमक, तमक, हांसी, सिसक, मसक, झपट, लपटानि आदि क्रियायें होती हैं वही रति मुक्ति जैसी परमानन्द दायिनी होती हैं उसके सम्मुख अन्य मुक्तियां तो व्यर्थ हैं।

"चमक तमक हांसी ससक मसक झपट लपटानि।
ए जिहि रति सों रति मुकुति, और मुकुति अति हांनि।।"

इस प्रकार बिहारी ने संयोग श्रृंगार का बड़ा ही कामोद्दीपक, भावोत्तेजक, वासनात्मक एवं मनोरंजक चित्र खींचा हैं। इसमें मर्यादा का भी उल्लंघन हो गया है। कला की दृष्टि से ये वर्णन उत्कृष्ट माने जा सकते हैं किन्तु अपर्यादित श्रृंगार का प्राधान्य होने के कारण ये अश्लीलता के प्रेरक हैं। फिर भी इनमें सौन्दर्य चेतना को उद्‌बुद्ध करने की जो क्षमता है, वह हृदय पर प्रभाव डालने की अद्‌भुत शक्ति है। सौन्दर्य के सरस चित्र अंकित करने में बिहारी सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं।

वियोग वर्णन – रीतिकालीन कवियों ने वियोग श्रृंगार के विभिन्न भेदों एवं विविध काम दशाओं का सजीव चित्रण किया है। साधारणतः वियोग चार प्रकार का होता है। – १–पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण। वियोग से अभिप्राय मिलन के अभाव से है। बिहारी ने उक्त सभी भेदों का वर्णन बड़ी तत्परता से किया है। बिहारी सतसई के दोहों में पूर्वानुरागिन नायिका की व्यथित दशा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। नायिका के नेत्र नायिका के छवि जल में गिरे हैं और एक क्षण के लिये भी उससे पृथक नहीं हो पाते हैं। समय सूचक कटोरी की भांति निरन्तर भरते–ढरते डूबते उतराते रहते हैं –

"हरि छवि जल जब ते परे, तब ते छिन बिछुरैन।
मरत झरत बूड़त तरत रहत घरी लौ नैन।।"

इसी प्रकार मान विरह का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है। यह दो प्रकार का होता है– "प्रणय मान" और "ईर्ष्या मान"। देखिये प्रणयमान का वर्णन करते हुये मानी एवं मानिनी नायिका का चित्र –

"दोऊ अधिकाई भरे, एकै गो गहराई।
कौनु मनावै, को मनै, माने मन ठहराई।।"

ईर्ष्या मान का चित्रण निम्न दोहे में द्रष्टव्य है --

"गह्यो अबोलो बोलि प्यो, आपुहि पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की, लखि सकुचौही दीठि।।"

प्रवास सम्बन्धी विरह तो बिहारी सतसई में अत्यधिक मात्रा में मिलता है। बिहारी का सर्वाधिक कौशल इसी बिरह वर्णन में दिखाई देता है। इसमें बिहारी ने प्रथम तो नायक के विदेश गमन का समाचार सुन नायिका को उद्विग्न दिखाया गया है, यथा –

"ललन–चलनु सुनि चुपि रही, बोली आपु न ईहि।
राख्यो गहि गाढ़े गरे, मनो गलगली डीहि।।"

दूसरे नायक के परदेस रहने पर नायिका की विरह विदग्ध दशा का अत्यंत हृदय विदाकर चित्र खींचा है, यथा –

"आड़े दै आलै बसन, जाड़े हू की राति।
साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिंग जाति।।"

तीसरे परदेस से लौट कर आये हुये नायक के दर्शन के लिये उत्सुक एवं उत्कंठित नायिका के विहर विहल दशा का चित्रण बड़ा ही मार्मिक किया है –

"रही बरोठे मैं मिलत, पियु प्राननु के ईसु।
आबत आबत की भई, विध की घरी घरी सु।।"

चौथे प्रवास जन्य विरह का वर्णन करते हुये विरहिणी के अधिक सन्ताप का चित्रण करने के लिये बिहारी ने अतिशयोक्तियों का अवलम्ब ग्रहण किया है। देखिये–

"करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीने हू चसमा चखनु, चहै लहै न मीचु।।"

ऐसे ही अनेक दोहे अतिश्योक्तिपूर्ण बिहारी की सतसई में मिलते हैं। इसके साथ ही करुण विप्रलम्भ का चित्रण नहीं मिलता। राधा और गोपियों के दो एक विरह चित्रों में करुण विप्रलम्भ की छटा मिल जाती है। यथा –

"स्याम सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा तीरू।
अंसुवन करति तरौंस की, खिनकु खरौहों नीरू।।"

इसके अतिरिक्त विरह जन्य काम दशाओं का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण बिहारी ने किया है। काम दशायें दस मानी गई हैं। इनमें सभी का वर्णन बड़े मनोयोग से बिहारी ने किया है –

चिन्ता – *देखत बुरे कपूर लौ उपै जाइै जिन लाल।*
छिन छिन जात परी खरी, छीन छबीली बाल।।

अभिलाषा– *बाम बांह फरकत मिले, जो हरि जीवन–भूरि।*
तौ तोही सों भेटिं हौं राखि दाहिनी दूरी।।

स्मृति – *"जहां जहां ठाइयों तख्यों, स्याम सुभग सिरमौर।*
बिनहू उन छि गहि रहतु आंखिनु अजैव ठौर।।"

गुणकथन – *लाल तुम्हारे विरह की, अगनि अनूप अपार।*
सरसै बरसै नीर हू झर हू मिटे न झार।।"

उद्वेग – *त्यां तै ह्वां ह्वां तै इहां नैको धरत न धीर।*
निसदिन डाढ़ी सी रहति बाढ़ी गाढ़ी पीर।।

प्रलाप – *"कहे जु चन वियोगिनी, विहर विकल बिलालइ।*
किए न किहिं अंसुवा–सहित सुवाति बोल सुनाइ।।"

उन्माद – *"विहर जरी लखि जीगननु, कहो न डहि कै बार।*
अरी आहु भजि भीतरी, बरसत आजु अंगार।।"

व्याधि – *"प्रिय प्रानन की पाहरू करति जतन अति आपु।*
जाकी दुसह दसा पर्‌यो सौतिन हूं संतापु।।"

जड़ता – *"मरी डरी कि टरी बिधा कहाँ खरी चलि चाहिं।*
रही कराहि कराहे अति अब मुख आहि न आहि।।"

मरण – *"कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्रानन के ईस,*
विहर ज्वाल जरिबे लखै मरिबे भयो असीस।।"

निष्कर्ष यह है कि बिहारी ने विरह का वर्णन किया है और विरह जन्य काम दशाओं में सर्वाधिक व्याधि का निरूपण किया है। इसलिये बिहारी के विरह वर्णन में विरह ताप जन्य कृशता एवं तीव्र संताप सम्बन्धी उहात्मक उक्तियों का प्राधान्य है। जिनमें विरहिणी की वेदना की विवृत्ति हास्यास्पद हो गई है। वस्तुतः बिहारी के श्रृंगार वर्णन में वियोग की अपेक्षा संयोग वर्णन कहीं अधिक प्रभावशाली है।

ऋतु वर्णन – रीतिकालीन कवियों की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने ऋतुओं का वर्णन उद्दीपन रूप में किया है। बिहारी ने भी अपने दोहों में प्रत्येक ऋतु की प्राकृतिक सुषमा की मनोहारी झलक प्रस्तुत की है। बिहारी का ऋतु वर्णन उद्दीपन के साथ साथ आलम्बन एवं स्वतंत्र रूप में भी हुआ है। उदाहरणार्थ बसंत ऋतु का वर्णन कवि ने इसी रूप में किया है। आलम्बन रूप में –

"छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झौरत झपत भौर भौर मधु अंध।।"

ऐसे ही ग्रीष्म की प्रचण्डता का वर्णन कवि ने आलम्बन रूप में ही किया है –

"कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बध।
जगतु तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।।"

वर्णकाल की सघन घटाओं एवं छाये हुये अंधकार का चित्र कवि ने स्वतंत्र रूप में ही खींचा है।

"पावस घन अंधकार महिं रही भेद नहिं आनु।
रात द्योस जान्यो परतु लखि चकई चकवान।।"

इसी प्रकार शरद शिशिर एवं हेमन्त के चित्र सतसई में आलम्बन रूप में प्रस्तुत हैं। परन्तु बिहारी में प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी प्राधान्य है। इसीलिये कहीं तो बिहारी का कोई नायक पहले पहल यात्रा करके निकलता है तथा वसन्त ऋतु के पलाश पुष्पों को खिला हुआ देखकर उन्हें दावाग्नि समझता है और लौट्कर घर आ जाता है, विदेश नहीं जाता, यथा –

"फिर घर को नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यों देखि पलाश वन समुझे समुझि दवागि।।"

इसी प्रकार वियोगाग्नि में जलती हुई नायिका को वर्षा के सुखद उपमान दुखदायी प्रतीत होते हैं, यथा –

"धुरवा होय न अलि उठे धुवां धरनि चहुं कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद।।"

प्रकृति के उद्दीपन रूप के अतिरिक्त बिहारी ने प्रकृति के मानीवकरण के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थो को सचेतन मानवों की भांति चेष्टा एवं व्यापार करते हुये चित्रित किया है। देखिये वसन्त का चित्रण इसी रूप में प्रस्तुत है–

"बन–बाटनु पिक बटपरा, लखि विरहिनु मत मैन,
कुहौ कुहौ कहि कहि उठै, करि करि राते नैन।।"

इसी प्रकार वायु का मानवीकरण रूप में चित्रण करते हुये शीतल मंद सुगन्धित दक्षिण पवन को बटोही के रूप में आता हुआ कहा है, यथा –

"चुवतु स्वेद मकरन्द कन तरू तरू तर बिरमाइ।
आवत दच्छिन देसु तै थक्यों बटोही बाइ।।"

इसी प्रकार वासन्तिक पवन का मानवीकृत रूप प्रस्तुत है –

"रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुजंरू कुंज समीर।।"

इस प्रकार बिहारी ने ऋतु निरूपण के अन्तर्गत प्रकृति के मंजुल रूप की अत्यंत मनोहर झांकी प्रस्तुत की है। इसमें देशगत, कालगत, एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ–साथ गहन अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण विद्यापन है। बिहारी ने इन प्रकृति चित्रों उचित वेचित्र्य एवं भाव गाम्भीर्य भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इनमें अलंकारिता के साथ–साथ स्वाभाविकता थी विद्यमान है। कलात्मकता एवं चमत्कार प्रियता इनके दोहों का गुण है। मानव सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों ही प्रकार के प्रकृति के चित्र बिहारी ने अंकित किये हैं। किन्तु इन ऋतु वर्णनों में परम्परा का पालन ही अधिक हुआ है।

भक्ति एवं नीति निरूपण – रीतिकालीन कवियों की प्रायः यह भी प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने श्रृंगार प्रधान वर्णन के साथ ही कुछ भक्ति एवं नीति सम्बन्धी कवितायें भी लिखी हैं। यद्यपि ये रचनायें कोरी परम्परा पालन के लिये ही लिखी गई है, तथापि भक्ति तथा नीति सम्बन्धी युक्तियॉ मिलती अवश्य हैं। डॉ० नगेन्द्र के कथनानुसार – "इन कवियों की भक्ति भी इनकी श्रृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते होंगे, तब राधा कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरू मन को आश्वासन देता होगा।" वैसे भी राधाकृष्ण के सुमिरन को बहाना करके ही इन कवियों ने भक्ति सम्बन्धी उदगार व्यक्त किये हैं। किन्तु इन दोहों के आधार पर न तो इंनको भक्त कहा जा सकता है न नीतिज्ञ। ऐसी ही प्रवृत्ति बिहारी की भी थी। इनके भक्ति एवं नीति सम्बन्धी दोहे श्रृंगार रस में पड़ी छींट के ही समान है। इसके भक्ति सम्बन्धी दोहों में कहीं के प्रति मिथ्यात्व है, यथा –

"मैं समुझायों निरधार यह जग कांचों कांच सम।
एकै रूप अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहां।।"

कहीं सूर की भाँति दृढ़तापूर्वक कृष्ण के अपने उद्धार का दिया उलाहना है –

"कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखिये मुरारि।
बीधे मोंसों आइ के गीधे गौधहिं तारि।।"

ऐसे ही बिहारी ने नीति सम्बन्ध दोहों में कहीं स्वर्ण और धन की निन्दा की है, कहीं दोहरे शासन में दुखी प्रजा को देखकर निन्दा की है, कहीं नींच प्रकृति के स्वभाव की अपरिवर्तनीय प्रवृत्ति की निन्दा की है, यथा –

१– "कनक कनक से सौ गुनी मादकता अधिकाय।
यह खाये बौरात जग, वह पाये बौराय।।"

२– "दुसह दुराज प्रजान को क्यों न बढ़े दुख द्वन्द,
अधिक अंधेरों जग करै, मिलि मावास रवि चन्द।।"

३– "कोटि जतन कोऊ करौ, परै न प्रकृतिहि बीचु।
जल बल जलु ऊंचे चढ़े, अनत नीच को नीच।।"

लोक व्यवहार की पर्याप्त शिक्षा इन दोहों में हैं। नीति के ये दोहे गहन अनुभूति के भण्डार हैं। इनमें लोक एवं शास्त्र का समन्वित ज्ञान भरा है।

वस्तुतः बिहारी के इन दोहों में चमत्कार प्रियता एवं वाग्विदग्धता ही सर्वोपरि है।

अलंकार प्रियता – रीतिकाल की सबसे बड़ी विशेषता कलागत है। चमत्कार प्रदर्शन एवं वाणी कौशल इस युग के कवियों की विशिष्टता है। बिहारी इसके अपवाद नहीं हैं। इस क्षेत्र में बिहारी ने सबसे अधिक कौशल दिखाया है। अलंकारों के सहारे अदभुत उक्ति के साथ अनुपम भावों की व्यंजना बिहारी ने छोटे से दोहे में की है।

बिहारी के अलंकारों को सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। १– सादृश्यमूलक, २– सम्भावनामूलक, ३– चमत्कारमूलक, ४– अतिशयमूलक अलंकार। सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य की प्रधानता होती है। इसके रूप,धर्म और प्रभाव सादृश्य तीन भेद होते हैं। बिहारी ने तीनों ही प्रकार के सादृश्य का सहारा लेकर बड़े ही सुन्दर एवं सजीव अलंकारों की सृष्टि की है। उदाहरण प्रस्तुत है –

१– "वर जीते सर मैंन के मैंने देखे मैंन।
हरिनी के नैनान ते हरि नीके ये नैन।। – रूप सादृश्य

२– "चिलक चिकनई चटकसी लफति सटक लौ आइ।
नारि सलौनी सांवरी, नागिन सी डसि जाइ।।" – धर्म सादृश्य

३– डारे ठोड़ी–गाड़ गहि नैन बटोही भारि।
चिलक चौंध मैं रूप ठग हाँसी फाँसी डारि।।" – प्रभाव सादृश्य

इसमें क्रमशः व्यतिरेक, पूर्णापमा और सांगरूपक अलंकार का प्रयोग किया है।

सम्भावनामूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग करते हुये कवि ने बड़ी दूर की कल्पना की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"तिय मुख लखि हीरा जरी, बेंदी बढ़े विनोद।
सुत सनेह मानों लियो विधु पूरन वुधु गोद।।"

ऐसे अनेक दोहे लिये जा सकते है जिनमें बिहारी की गहन सूझबूझ एवं दूरारूढ कल्पना का परिचय मिलता है।

चमत्कार मूलक अलंकारों में कवि कहीं असंगत कहीं विरोधाभास कहीं विषम अलंकारों का प्रयोग करता है, यथा–

"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीत।
परत गांठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।।

अतिशय मूलक अलंकारों में बिहारी की अतिश्योक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनका अतिशय प्रयोग सतसई में उपलब्ध है।

वस्तुतः बिहारी ने भाव चित्रण की अपेक्षा रूप चित्रण के लिये अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। इसी में बिहारी को सर्वाधिक सफलता मिली हे। किन्तु अलंकारों द्वारा बिहारी का भाव चित्रण पर्याप्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है। बिहारी के एक–एक दोहे में विशेषतायें भरी हुई हैं। भावों की पुनरूक्ति कहीं नहीं हुई उपमाओं की भले ही हो। उनके प्रत्येक दोहे का स्वतंत्र लक्ष्य है। मुक्तक रचना में जितनी विशिष्टतायें सम्भाव्य हैं, वे सब उनकी रचना में पाई जाती है। साथ ही अपने चरमोत्कर्ष को पहुंची हुई है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बिहारी काल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दी रीति काव्य धारा में बिहरी का वही स्थान है जो भक्ति काव्य में तुलसी का है।

बिहारी का जीवन वृत्त

प्रश्न २. कविवर बिहारी के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – बिहारी रीति काल के सुप्रसिद्ध कवि हैं। अन्य प्राचीन कवियों की भांति कविवर बिहारी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाणभूत सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनका जन्म स्थान, जन्म तिथि आदि विवादास्पद है।

किसी भी कवि के जीवन परिचय को प्राप्त करने के लिये मुख्यतः दो साधन होते हैं। एक अन्तः साक्ष्य और दूसरा वाह्यसाक्ष्य। अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत कवि ने स्वयं अपने सम्बन्ध में साहित्य में कौन–कौन से संकेत दिये हैं और बहिरसाक्ष्य में कवि के सम्बन्ध में अन्य समसामयिक तथा परवर्ती व्यक्तियों ने क्या कहा है ? इन दोनों साधनों के आधार पर यदि बिहारी ने स्वयं अन्य पूर्ववर्ती कवियों की भाँति अपने सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किये हैं, छुटपुट संकेत मात्र मिलते हैं। उनकी कृति सतसई में अवश्य कतिपय दोहे ऐसे हैं, जिनमें उनके जीवन की घटनाओं का संकेत प्राप्त होता है। जहाँ तक वाह्य साक्ष्य का सम्बन्ध है बिहारी सतसई की अनेक टीकायें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण तथा आधुनिक समीक्षा ग्रन्थादि सम्मिलित हैं।

जन्म स्थान – कविवर बिहारी के जन्म स्थान के विषय में एक स्थान पर मात्र इतना ही संकेत मिलता है –

"प्रगट भए द्विज राज कुल, सुबस बसे ब्रज आई
मेरो हारौ कलेस सब, केसव केसव राई।।"

यहाँ "सुबस बसे ब्रज आई" पद विचारणीय है। सुबस का तत्सम है "स्ववश" जिसका अर्थ है अपनी इच्छा से। इसका अभिप्राय यह हुआ कि श्रेष्ठ ब्राहाम्ण कुल में उत्पन्न केशव कृष्ण तुल्य उनके पिता केशवराय अन्यत्र से आकर अपनी इच्छा से ब्रज में रहने लगे। यहां दो समस्यायें हैं या तो बिहारी का जन्म ब्रज में हुआ या पहले वाले स्थान में जहां से उनके पिता केशवराय आये थे। अतः स्पष्ट उक्ति के अभाव में केवल अनुमान का ही अवलम्ब लिया जा सकता है। इसलिये उनके जन्म के सम्बन्ध में बडे मतभेद हैं। कोई उन्हें मथुरा का मानते हैं किसी–किसी के मतानुसार बिहारी ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर में पैदा हुये थे। इस सम्बन्ध में विभिन्न टीकाओं में प्राप्त बिहारी विषयक स्फुट शब्द एवं आख्यायिकाओं का सहारा लेना होगा। **"बिहारी विहार"** नामक पद्यात्मक निवन्ध में बिहारी का जीवन चरित्र क्रमबद्ध एवं प्रामणिक रीति से प्रस्तुत किया गया है। इसमें निम्नलिखित दोहे से इनका जन्म ग्वालियर सिद्ध होता है –

"जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुधर, मथुरा बसि ससुराल।।"

कहा जाता है कि ग्वालियर के बसुवा गोविन्दपुर में इनके वंशज आज भी रहते हैं। इनके जन्म स्थल के रूप में ग्वालियर को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं पड़ती। इस दोहे से मथुरा इनकी ससुराल सिद्ध होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड से ब्रज में आकर रहने पर ही केशवराय ने अपने पुत्र बिहारी का विवाह निकटवर्ती मथुरा में कर दिया होगा। इसका समर्थन "सुबस बसे ब्रज आई" के संकेत से भी मिल जाता है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य पर पड़े बुन्देलखण्डी शब्दों के प्रभाव से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि बुन्देलखण्ड से कभी कवि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। अतः ग्वालियर को इनका जन्म--स्थान मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है। राधारमण गोस्वामी ने इनका जन्म स्थान मथुरा और मिश्र बन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बसुआ गोविन्दपुर माना है। वास्तविकता यह है कि गोविन्दुपर इनके भान्जे कुलपति मिश्र को मिला था और मथुरा इनकी ससुराल थी। इस तथ्य का उल्लेख आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने आलोच्य ग्रन्थ **"बिहारी की वाग्विभूति"** में भी किया है। जन्म तिथि "बिहारी विहार" में बिहारी के जीवन के अन्य विवरण भी प्राप्त होते हैं। इनकी जन्म तिथि के सम्बन्ध में एक दोहा प्रस्तुत है –

"संवत जग सर रस सहित, भूमि रीति गिन लीन्ह।
कार्तिक सुदी बुध अष्टमी, जनम हमहिं बिधि दीन्ह।।"

ऐसा अनुमान है कि यह दोहा बिहारी का लिखा हुआ है। इसके अनुसार इनका जन्म संवत् १६५२ में कार्तिक शुक्ल पक्ष अष्टमी, दिन बुधवार को हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म सम्वत् १६६० मानते हैं।

जीवनी सम्बन्धी अन्य विवरण — इनके पिता का नाम केशव राय था। जैसे पूर्व कथित दोहे में "केशव राई" से भी स्पष्ट है। किन्तु यह "केशव राय" शब्द बड़ा विवादास्पद बना। इस शब्द से विख्यात कवि केशवदास का अर्थ लिया जाने लगा। अब कुछ शोध प्रबन्धों में विख्यात कवि केशवदास को ही इनका पिता माना जा रहा है।

ये केशवराय कौन थे, इस पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है। सर्वप्रथम बाबू राधाकृष्णदास ने अपने एक लेख में इन्हें प्रसिद्ध कवि केशवदास सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। रत्नाकर जी ने कुछ अंशों में इसे स्वीकार किया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इन्हें बिहारी का पिता मान कर गुरू माना है। बिहारी के पिता को प्रसिद्ध कवि केशवदास मानने के सम्बन्ध में बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र का "संग्राम सार" का मंगलाचरण पुष्ट प्रमाण प्रतीत होता है। उन्होंने उक्त मंगलाचरण में अपने नाना का जिस प्रकार स्मरण किया है उससे यह सिद्ध होता है कि वे अवश्य कोई कविवर थे। दोहा निम्नांकित है —

"कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छन्द बनाय।।"

इसके अतिरिक्त केशव दास भी जाति के द्विज थे। उन्होंने अपनी "कविप्रिया" में आत्म परिचय देते हुये कहा है —**"उत्तम विप्र विचारि"** कहा है। तथा **"सुबस बसे ब्रज आइ"** की घटना भी उचित ही प्रतीत होती है क्योंकि वे अपने जीवन के अंतिम दिनों में बुन्देलखण्ड छोड़कर अपनी इच्छा से किसी तीर्थ स्थान पर आकर रहने लगे थे। यदि कृष्ण लाल की टीका के उपर्युक्त कथन का अवलोकन करें तो यहीं ज्ञात होता है कि केशवराय बिहारी के पिता थे जिनके प्रति कवि की उपास्य कृष्ण तुल्य श्रद्धा भावना मिलती है और कुलपति मिश्र के दोहे से यह प्रकट है कि उनके नाना बिहारी के पिता कोई श्रेष्ठ कवि थे। किन्तु इस कथन से यह प्रमाण्य नहीं है कि प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास ही इनके पिता थे।

यदि केशवदास बिहारी के पिता होते तो यह तथ्य ऐतिहासिक परिचय ग्रन्थों में अवश्य ही मिलता। आज तक किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार ने बिहारी केशव के पिता—पुत्र सम्बन्ध को प्रमाणित नहीं किया। बिहारी काव्य के मर्मज्ञ श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर भी पर्याप्त परिश्रम करने के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन दोनों में गुरू—शिष्य का सम्बन्ध रहा होगा।

कतिपय विद्वानों ने बिहारी के दो दोहों के आधार पर उनका केशवदास से पिता—पुत्र का सम्बन्ध स्थापित किया है —

(१) "जमकरि मुंह तरहरि परयो, इहिं धरहरि चित्त लाउ।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउं।।"
(२) "सब अंग करि राखी सुघर, नाइक नेह सिखाय।
रस जुत लेति अनन्त गति, पुतरी पातुर राय।।"

प्रथम दोहे में उल्लिखित नरहरि के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये बिहारी के गुरू थे। हरिदास सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ "निजमत—सिद्धान्त" में स्वामी नरहरिदास

के शिष्यों में केशव राय नामक एक शिष्य का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ से स्वामी नरहरिदास के यहाँ ओरछा नरेश का आना जाना भी सिद्ध होता है। अतः अपने आश्रय दाता इन्द्रजीत सिंह के साथ केशव दास का भी सम्पर्क स्थापित हुआ होगा। जिन्होंने बाद में बिहारी को भी इन महात्मा का शिष्य बनवाया होगा। इस दोहे से बिहारी के गुरू नरहरिदास का ही संकेत मिलता है, जिसका प्रमाण "निजमत सिद्धान्त" में भी मिलता है।

द्वितीय दोहे में बिहारी ने पातुर राय अर्थात् प्रवीण राय नामक वेश्या का उल्लेख किया है, जो केशव दास के आश्रय दाता इन्द्रजीत सिंह के दरबार में रहती थी। सम्भवतः इसी आधार को लेकर आलोचकों ने केशव तथा बिहारी के पिता–पुत्र सम्बन्ध बतलाने की चेष्टा की है और कहा है कि यह वेश्या कोई साधारण वेश्या नहीं थी जिसने महाराजा इन्द्रजीत सिंह को अपना एकमात्र प्रेमी मान रखा था। अतः उस तक बिहारी की पहुंच उसी स्थिति में सम्भव है जो कि वे प्रसिद्ध कवि केशव दास जैसे प्रभावशाली के पुत्र रहे हों। परन्तु यह तर्क तो हास्यास्पद ही है।

इस दोहे का आधार यही है कि बिहारी ने प्रवीण राय के नृत्य को ओरछा नरेश के यहां देखा हो और सम्भवतः इसी परिचय के आधार पर केशवदास से बिहारी ने काव्य–शास्त्र की शिक्षा भी प्राप्त की हो।

इसके अतिरिक्त कतिपय वाहा साक्ष्य है जो केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध करते हैं। यथा – बिहारी सतसई में कुछ शब्द ऐसे हैं जो केशव दास की जन्मभूति बुन्देलखण्ड में ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इन तर्कों से केशवदास को बिहारी का पिता सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रायः कवियों की रचना में एक से अधिक भाषाओं, बोलियों के शब्द आ जाते हैं। इससे कवि इन भाषायी क्षेत्रों का नहीं हो जाता। इतर सांस्कृतिक मूल्यों के समाहित होने पर भी रचनाकार का मूल स्थान छिपा नहीं रहता। फिर बिहारी सतसई में बुन्देली शब्दों के अधिक प्रयोग का कारण है उनका बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में ही व्यतीत हुआ।

इसी प्रकार एक तर्क यह भी दिया जाता है कि बिहारी की स्त्री कवयित्री थी और केशवदास की पुत्र वधू भी कवयित्री थी। "सतसैया वर्णार्थ टीका" असनी के ठाकुर की है। इसमें ऐसा ही तर्क प्रस्तुत हुआ है किन्तु केशव की पुत्रवधू का कवयित्री होना और बिहारी की स्त्री का कवयित्री होना इस बात का साक्ष्य नहीं है कि दोनों एक ही हों। इसी आधार पर बिहारी को केशवदास का पुत्र बताया गया है। किन्तु कृष्णलाल जो बिहारी के समसामयिक थे उन्होंने बिहारी सतसई टीका में ऐसा उल्लेख नहीं किया है जबकि परिवार सम्बधी अन्य विवरण उनकी टीका में उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी की स्त्री कवयित्री रही होगी और उन्होंने सतसई रचना में योगदान भी दिया होगा। पर यह केशव की पुत्रवधू फिर भी प्रमाणित नहीं होती।

सारांश यह है कि उपर्युक्त तर्कों के समाधान के आधार पर ऐसा सिद्ध होता है कि बिहारी के पिता केशवराय थे, आचार्य केशवदास नहीं। यह अवश्य है कि बिहारी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से केशव से प्रभावित अवश्य रहे होंगे।

इन टीकों के अतिरिक्त स्व० बाबू ब्रजरज दास के पास एक हस्तलिखित पोथी है जिसमें "केशव केशवराय" नामक कवि के चार पदसंग्रहीत मिले थे। इस संग्रह का लिपिकाल फाल्गुन कृष्णा सप्तमी दिन बुधवार सं० १७६३ दिया गया है और इसमें संवत् १६५३ तक के ज्ञात कवियों की रचनायें अंकित हैं। इसमें दिये गये सं० के आधार पर केशव केशवराय के समय को संवत् १६५० के निकट की सम्भावना की जा सकती है। बिहारी का जन्म काल संवत् १६५२ अथवा संवत् १६६० माना जाता है। अतः ये केशवराय बिहारी के पिता रहे होंगे। बहुत सम्भव है वे कविता भी करते रहे हों। किन्तु आचार्य केशवदास के समान विख्यात न रहे होंगे।

अनेक पुष्ट अन्वेष्य तथ्यों के आधार पर बिहारी धौम्य गोत्रीय सोती घरबारी माथुर चौबे थे। इनके एक भाई और एक बहिन थी। जब बिहारी की आयु लगभग दस वर्ष की थी, इनके पिता ग्वालियर से ओरछे चले गये। उस समय ओरछा राज्य का सारा कार्यभार इन्द्रजीत सिंह के हाथ में था। ये संगीत और काव्य कला के प्रेमी थे। इनके दरबार में अनेक कला पारखियों का समाज था। सम्भवतः यहीं बिहारी के पिता केशव राय का केशव दास से परिचय हुआ होगा। इसी परिचय की घनिष्ठता से आगे चलकर बिहारी को केशव से काव्य ग्रन्थों के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ होगा। नरहरि दास विहारी के गुरू थे। जो ओरछा के समीप गुढ़ौ ग्राम में निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे, बाद में वृन्दावन चले गये। इन्हीं से बिहारी ने संस्कृत प्राकृत आदि का अध्ययन किया था। आगे चलकर जब ये वृन्दावन आये तो इन्होंने साहित्य के साथ संगीत का भी अभ्यास किया।

लगभग १६७५ के आस पास शाहजहाँ अपने पिता जहांगीर के साथ नागरीदास के दर्शन हेतु आया, वहां उसकी भेंट नरहरिदास से हुई इन्होंने बिहारी की काव्य प्रतिभा की सराहना बादशाह से की। शाहजहां के अनुरोध पर नरहरिदास ने शिष्य बिहारी लाल को उसके साथ आगरा जाने की अनुमति दे दी। इसका उल्लेख बिहारी के इस दोहे में है –

"श्री नरहरि नरनाह को दीनी बाह गहाइ।
सुगुन आगरै आगरे, रहत आइ सुख पाइ।।"

आगरे के राज्याश्रय में रहकर बिहारी ने फारसी–काव्य का अध्ययन किया। वहीं इनका सम्पर्क अब्दुर्रहीम खानखाना से हुआ। कहा जाता है कि रहीम की प्रशंसा में बिहारी ने कई दोहे लिखे, जिनसे प्रसन्न होकर रहीम ने प्रचुर धनराशि पुरस्कार रूप में बिहारी को दी।

बिहारी के इसी प्रवास काल में ही संवत् १६७७ में शाहजहां के निमंत्रण पर उसके पुत्र के जन्मोत्सव पर अनेक राजा उपस्थित हुये। इन राजागणों ने बिहारी की कविता से प्रभावित होकर तथा शाहजहां का विशेष कृपाभाजन समझ कर उन्हें वर्षाशन बांध दिया। कुछ समय उपरान्त शाहजहां और जहांगीर में पारस्परिक मतभेद हो गया, जिससे शाहजहां को आगरा छोड़ना पड़ा। ऐसे स्थिति में बिहारी ने भी आगरा छोड़ दिया। अपने जीविकोपार्जन के लिये, उस वार्षिक वृत्ति के लिये बिहारी को अनेक राजाओं के पास जाना पड़ा। लगभग सं० १६६२ में बिहारी जयपुर नरेश राजा जयसिह के पास पहुंचे। वहां ऐसी विचित्र घटना

हुई कि उनके काव्य की आधारशिला ही बन गई। उस समयराजा अपनी नवपरणीता वधू में इतना आसक्त थे कि उन्हें राजकाज के दायित्व का भी ध्यान नहीं रहा। जयसिंह की बड़ी रानी चौहानी की इच्छानुसार बिहारी ने एक दोहा लिखकर राजा के पास पहुंचाया। दोहा प्रस्तुत है –

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सो बंध्यो, आगे कौन हवाल।।"

इसका अविलम्ब प्रभाव राजा पर पड़ा वे शीघ्र ही बाहर आ गये। बिहारी की काव्य पटुता एवं सूझबूझ से प्रसन्न होकर उसी समय पर्याप्त धन दिया और भविष्य में प्रति दोहे के निर्माण के लिये एक अशर्फी देने का वचन दिया। इस घटना के परिणामस्वरूप बिहारी का अत्यधिक सम्मान होने लगा। उन्हीं दिनों चौहानी रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ रामसिंह। कुंवर रामसिंह की सात आठ वर्ष की आयु पर बिहारी को ही इनका शिक्षक नियुक्त किया गया। बिहारी ने शिक्षण हेतु ५०० दोहों का एक संग्रह तैयार किया। सम्भवतः कुछ वर्षो बाद ही बिहारी ने "सतसई" की रचना पूर्ण कर उसे राजा जयसिंह को समर्पित कर दिया। इसके कुछ दिनों उपरांत बिहारी की पत्नी का स्वर्गवास हो गया।

सतसई ही उनकी एकमात्र रचना थी। यही उनकी ख्याति का कारण थी। यह यद्यपि श्रृंगारिक रचना है तथापि नीतिपरक दोहे भी इसमें विद्यमान है।

वृद्धावस्था के कटुअनुभवों ने उनके हृदय में विरक्ति का भाव भर दिया जैसा कि बिहारी के निम्न दोहे से स्पष्टं है –

"डोरी लागी प्रेम की वृन्दावन के मांहि।
आए स्वामी धाम में सुख जुत जनम सरांहि।।
कविता सों मन छुटि गयो, लग्यों कान्ह सो ध्यान।
लाल बिहारी ह्वै गये दासबिहारी मान।।"

जीवन के अंतिम समय में उनकी आकांक्षा पूर्णतः सात्विक हो गई थी। जं स्वाभाविक ही है। उनकी भावना निम्नलिखित दोहे में मुखरित है –

"मोंहू दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमन दियो।
जो बांधे ही तोषु, तौ बांधौ अपने गुनन।।"

बिहारी का विरह वर्णन

प्रश्न ३. बिहारी विरह वर्णन बड़ा ही मर्मस्पर्शी है वर्णन कीजिये।

उत्तर – काव्य–शास्त्र में श्रृंगार को रसराज की पदवी प्रदान की गयी है। संस्कृत आचार्यों ने श्रृंगार रस को दो भागों में विभाजित किया है – सुखात्मक और दुखात्मक। प्रेम के आचार स्वरूप श्रृंगार की दो श्रेणियाँ की गई हैं – संयोग और वियोग। श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग में वियोग पक्ष अधिक मार्मिक होता है। कारण कि वियोग प्रेम की कसौटी है। सच्चा प्रेम प्रेमी का वियोग में ही होता है। विरहाग्नि में तप कर प्रेम कुन्दन

की भाँति दमक उठत है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार – **"विरह प्रेम का जागरण है तो मिलन सुषुप्ति है।"**

हिन्दी साहित्य में विप्रलम्भ श्रृंगार के चार रूप हैं – १. पूर्वराग, २. मान, ३. प्रवास, ४. करुण। पूर्वराग में प्रिय के संयोग से पूर्व ही उसके गुण कथन, श्रवण, दर्श आदि की अभिलाषा होती है तथा न मिलने की अवस्था में वेदना का अनुभव होता है। इसमें अभिलाषा की प्रधानता रहती है। इसे **"अभिलाषा हेतुक"** भी कहते हैं।

प्रेम में ईर्ष्या का भी योग रहता है। संयोग के पश्चात् किसी बात पर ईर्ष्या वश या स्वाभाविक वृत्ति से विवश होकर नायक–नायिका के परस्पर रूठने का मानदशा कहते हैं। किसी कारण पति के परदेश प्रस्थान करने पर "प्रवास विरह" होता है। करुण विरह में मृत्य के पश्चात् भी मिलने की आशा रहती है। इस प्रकार का विरह प्रायः क्लिष्ट और दयनीय होता है। मान भी घर के घेरे में होता है। अतः उसके विस्तार के लिये आवश्यक नहीं। यह अल्पकालीन ही होता है। केवल संयोग के अभाव के कारण ही इसकी गणना विरह में होती है। करुण विप्रलम्भ दैवीय व्यापारों के संयोग से घटित होता है। संस्कृत नाटकों में नायक–नायिका का ऐसा वियोग वर्णन मिलता है, जिसमें पुनर्मिलन अनिश्चित है। वस्तुतः प्रवास ही ऐसा वियोग है, जिसमें वियोग पक्ष का सम्पूर्ण स्वरूप देखने को मिलता है।

कविवर बिहारी ने पूर्ण राग का वर्णन अधिक किया है, पर प्रवास का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। मान को उन्होंने अनावश्यक रूप से विस्तार नहीं दिया है।

वियोग में वेदना की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण, कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण इन दस दशाओं का वर्णन होता है। इनमें व्याधि का ही वर्णन कवियों द्वारा किया गया है। बिहारी ने भी व्याधि का विस्तृत वर्णन किया है। मरण की दशा के चित्रण का अभाव है, कारण कि इस दशा में श्रृंगार करुण में बदल जाता है। मरण कथित न होकर केवल व्यंजित होता है। इस सम्बन्ध में बिहारी का दोहा दृष्टव्य है।

"कहा कहौं वाकी दशा, हरि प्रानन के ईस।
विरह ज्वाल जरिबै लखै मरिबो भयो असीस।।"

बिहारी के विरह वर्णन पर रूढ़ि का और परम्परा का अधिक प्रभाव पड़ा है। फारसी का प्रभाव भी पड़ा। बिहारी स्वयं फारसी के ज्ञाता थे। अतः उन पर उसका प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। फारसी के प्रभाव के फलस्वरूप ही उनका वियोग श्रृंगार उहात्मक हो गया है। चमत्कार क्रता, व्यंग, अतिश्योक्ति तथा अत्युक्ति का आश्रय कवि ने बहुत लिया है।

नायिका का विरह ताप इतना प्रबल है कि उसे शीतलता पहुँचाने के लिये उसकी सखी ने गुलाब जल की शीशी ही उस पर उड़ेल दी है। किन्तु उसके शरीर के ताप की अधिकता ने गुलाब जल को रास्ते में ही सुखा दिया –

"औं धाई सीसी सुलखि, बिरह बरनिबिलात।
बीचहि सूखि गुलाब गौ, छीटो छुयो न गात।।"

उसके ताप की तीव्रता इतनी बढ़ गई है कि जाड़े की रात में भी भीगे वस्त्र लेकर ही सखियाँ साहस करके उसके पास जाती हैं –

"आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै के सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति।।"

वियोगिनी के पड़ोस में तो जाड़े की ऋतु में किसी प्रकार शीतलोपचार द्वारा काल यापन में गया, किन्तु गर्मी के दिनों में मानो पडोसिन का पाप ही सिर पर पड गया हो – इस चित्रण में उद्धात्मकता है –

"सीरे जतननु सिसिर रितु सहि बिरहिन तनु ताप।
बसिबे को ग्रीष्म दिननि, परयो परोसिन पाप।।"

यह ताप साधारण नहीं है। उसकी तीव्र ऊष्मा का अनुमान विदेश में बैठा नायक कर लेता है कि नायिका जीवित है –

"सुनत पथिक मुंह माह निसि लुवै चलत उहि गांव।
बिन बूझे बिन ही कहे जियति बिचारी बाम।।"

प्रिय वियोग में तो नायिका की कृशता सीमा ही पार कर गई है। वह स्वांस–प्रस्वांस में ऐसा हिलति है जैसे घड़ी का पेण्डुलम। यथा –

"इत आवत चलि जात उत लगी छसातक हाथ।
चढ़ी हिन्डोरे सी रहै, लगी उसाँसनि साथ।।"

नायिका की कृशता की तो पराकाष्ठा है, नायिका इतनी बदल गई है कि बड़ी कठिनाई से सखियाँ पहचान पाती हैं –

"कर के मीड़े कुसुम लौ, गई विरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनी सखिनि हूं, नीठि पिछानी जाय।।"

इतना ही नहीं सखियाँ तो उसे किसी प्रकार पहचान भी लेती हैं किन्तु मृत्यु को तो वह दिखाई ही नहीं देती। वह तो दो नेत्रों की और चश्में की सहायता लेकर ढूंढ़ रही है, यथा –

"करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाड़त नीचु।
दीने हूं चसमा चखनि, चाहै लखै न मीचु।।"

इस प्रकार ऊहा तथा अतिशयोक्ति का सहारा बिहारी ने बहुत लिया है। यह प्रभाव फारसी का ही है। जो बिहारी इस प्रकार का कूतुहल जन्य चमत्कार दिखाते हैं। अतिशयोक्ति का वर्णन जायसी आदि कवियों ने भी किया है किन्तु जो मार्मिकता है वह बिहारी में नहीं। बिहारी की ऐसी उक्तियाँ ह्रदय का स्पर्श नहीं कर पाती। उनके ये दोहे मात्र चमत्कार प्रदर्शन ही कर पाते हैं –

"नित संसौ हंसौ बचतु, मानो इहि अनुमानु।
विरह अगिनि लपटनि सकत, झपट न मीचु सिचानु।।"

"मरिबे को साहस कियो, बढ़ी विरह की पीर।
दौरति है समुहै ससी, सरसिज, सुरभि समीर।।"